प्रस्तावना

पूज्यश्री की जीवनकला

कलाविहीन जीवन निरर्थक, निष्फल और 'निकृष्ट' होता है। लेकिन प्रमादी न बन कर जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए-फिर चाहे वह अपने ही सुखोपभोग के लिए हो—शिल्पकला सीखता है वह उससे कहीं अधिक 'अच्छा' है। परंतु जो जीवन को 'सफल और सार्थक' बनाने के लिए आत्म-साधना की धर्मकला सीखता है और उसी की उपासना में तन्मय रहता है वह 'उत्तम' है किन्तु जो जीवन-कला की उपासना करने के साथ साथ दूसरों को भी धर्मकला सिखाते हैं, 'माटी' में से मनुष्य बनाते हैं और 'जन' में से जैन बनने की 'कला' सिखाते हैं वे 'सर्वोत्तम' ही हैं।

इन चार कोटि के मनुष्यों में से प्रथम कोटि का मनुष्य कीट-पतङ्गवत्, दूसरा पशु-पक्षीवत्, तीसरा मनुष्यवत् और चौथा देवता का जीवन व्यतीत करता है।

प्रथम और दूसरे कोटि के मनुष्य बहिर्वृत्तिवाले होते हैं। इन बहिरात्माओं का पुरुषार्थ 'अर्थ और काम' की प्राप्ति के लिए ही होता है। वे बहिर्जगत् के सुख-साधन जुटाने में और बाह्य सुखोपभोग में लिप्त और आसक्त रहते हैं लेकिन तीसरी और चौथी कोटि के मनुष्य का

पुरुपार्थं 'धर्म और मोक्ष' की प्राप्ति के लिए होता है। वे बहिर्वृत्ति से पराङ्मुख बन कर अन्तर्जगत् के ऐकान्तिक और आत्यन्तिक आत्मिक सुख में ही तल्लीन रहते हैं और स्व पर-कल्याण साधने में ही तत्पर रहते हैं

* * *

'सव्वा कला धम्मकला जिणाइ'—सभी कलाओं में 'धर्मकला' सर्वश्रेष्ठ है। एक साधारण कला को संपादित करने के लिए कितना परिश्रम, कितनी साधना और कितना सतत अभ्यास, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करने की आवश्यकता रहती है? तो जो धर्मकला-जीवन-कला-अंतर की चीज़ है-उसे संपादित करने के लिए कितनी संयम-साधना, तीव्र वैराग्यवृत्ति, तप-त्याग,-ज्ञान-ध्यान की आराधना, आचार-विचार की शुद्धि और जीवन-जाग्रति की आवश्यकता होती होगी इसका अन्दाज़ निकाला जा सकता है।

* * *

पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज चतुर्थ कोटि के एक साधक महात्मा हैं। उन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग 'आत्म-साधना और जन-कल्याण-साधना' रूप धर्मकला की उपासना करने में और उसी का प्रचार करने में व्यतीत किया है।

उनकी सुदीर्घ संयमी-जीवन की सतत 'साधना' ने उनको धर्म-जीवन के कुशल कलाकार और 'स्थविर'-कर्णधार-धर्मनायक बना दिया है। सच्चे स्थविर-धर्मनायक कैसा होना चाहिए इसके विषय में ठीक कहा गया है कि—

न तेन वयो सो होति येन'स्स फलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो'त्ति वुच्चति॥
यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संजमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरोत्ति पवुच्चति॥—धम्मपद

अर्थात्—जिनके मस्तक के वाल पक गये हैं अथवा जो वयोवृद्ध हो गये हैं उन्हें 'स्थविर' नहीं कह सकते। उन्हें तो 'मोघजीर्ण' ही कह सकते हैं। सच्चे स्थविर-धर्मनायक तो वे ही हैं जिनके हृदय में अहिंसा, संयम, सत्य, दम-तप इत्यादि धर्मगुणों का वास हो और जो दोषरहित और धीर-वीर हो।

* * *

खुद के जीवन को सफल वनाना और दूसरों का जीवन-निर्माण करना इन दोनों में काफी अन्तर है। जगत् में आत्म-साधन और आत्म-ध्यान करने वाले और उसी में तल्लीन रहने वाले निवर्त्तक साधु-पुरुष कम नहीं हैं लेकिन शास्त्रविहित निवृत्ति-धर्म के आचार-नियमों का यथाविधि पालन करने के साथ साथ जन-समाज का जीवन-निर्माण करना, जन को ज्ञान और चारित्र का शक्ति-दान देकर 'जैन' वनाना और मानव-समाज को सद्धर्म का मर्म शास्त्ररीति तथा विज्ञान-नीति के द्वारा युक्ति-प्रयुक्ति पूर्वक समझा कर धर्मनिष्ठ वनाना—आदि धर्ममूलक सत्प्रवृत्तियाँ करने वाले साधुपुरुष-महात्मा विरले ही होते हैं। ऐसे विरले महापुरुषों में पूज्यश्री का स्थान अपूर्व और अद्वितीय है।

पूज्यश्री ने संयम-साधना का कैसा अनुष्ठान करके, अपना जीवन दिव्य

और आदर्श बनाया यह प्रश्न विस्तृत है और यहाँ थोड़ा-सा अप्रस्तुत भी है। अतः यहाँ तो उन्होंने जन समाज के जीवन का नव निर्माण करने को 'कला' किस प्रकार हस्तगत की और उस कला के द्वारा जन-कल्याण कैसा साधा और धर्म-प्रचार कैसा किया—इसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराना प्रासंगिक होगा।

बंबई के सुप्रसिद्ध गुजराती दैनिक पत्र 'जन्मभूमि' के साहित्य-विभाग के संपादक ने 'कलम अने किताब' नामक स्तंभ में पूज्यश्री की 'जीवन-कला' पर (पूज्य श्री के व्याख्यानों के आधार पर इन पङ्क्तियों के लेखक द्वारा सपादित 'धर्म अने धर्मनायक' नामक पुस्तक की) समालोचना करते हुए थोडा-सा प्रकाश इस प्रकार डाला है—

> "धर्माचार्यों पर ऐसा आरोप-आक्षेप किया जाता है कि उन्होंने प्राचीन शास्त्रग्रन्थों को संकीर्ण अर्थों में कैद कर रक्खा है। आज एक जैनाचार्य ने अपने आदि पुरुषो की धर्मवाणी को उदार रूप देकर बंधन-मुक्त कर दिया है। जिस सरलता से दधिमंथन नवनीत को उपरितल पर ला देता है उसी सरलता को इस विद्वान् आचार्यश्री ने शास्त्र-दोहन और शास्त्रमन्थन की 'कला' के रूप मे रख दिया है। उन्होने शास्त्र-अर्थ को मोड़ा-तोड़ा नहीं है, न किसी प्रकार की खींचातानी ही की है। उन्होने तो प्राचीन जैन-ग्रन्थों को नवयुग के नूतन मानव-

धर्मों के स्वरवाहक बना दिये हैं। यह उनकी प्रतिभा का द्योतक है।

"वर्त्तमान जीवन को महत्व देकर जिन आचार्य श्री ने प्राचीन धर्मबोध को पुनर्जीवित किया है उन्हे हम सच्चे समयधर्मी—युगप्रधान—के नाम से संबोधित करेंगे और सच्चा समयधर्म—युग धर्म—सनातन धर्म से भिन्न नहीं है यह भी हम साथ मे कहेंगे"

पूज्यश्री के जीवन-परिचय में एकबार भी आने वाले और उनकी धर्मवाणी सुनने वाले उक्त उल्लेख से पूर्ण सहमत होंगे ऐसा मुझे विश्वास है। उक्त उल्लेख से पूज्यश्री ने जैनधर्म को शास्त्र-मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए—युगधर्म का रूप देकर और उसे विश्वशान्ति का सन्देश-वाहक बनाकर, समाज और राष्ट्र मे नवजीवन का संचार किया है और इसप्रकार श्रमण-संस्कृति का समुत्थान करने में अपनी जीवनकला का दिव्य दान दिया है—इस बात का सामान्य प्रतिभास मिलता है।

* * *

जन-समाज का जीवन-निर्माण करना और उसमें भी धार्मिक मर्यादाओं का पूर्णतः पालन करते हुए—नवसृजन-कार्य करना साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं है। यह कार्य तो वही व्यक्ति कर सकता है जो धर्मकला-कोविद होने के उपरान्त कर्मठ कर्णधार भी हो। पूज्यश्री धर्मकला के परम उपासक और प्रखर प्रचारक तो है ही साथ में संयम-स्थविर भी हैं।

अतः उनमें धार्मिक प्रचार कार्य और समाज-जीवन का धर्मदृष्टि से नव-निर्माण करने की अपूर्व क्षमता-योग्यता भी है। शास्त्रकारों ने धर्मकला का प्रचार कौन कर सकता है? इसके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि—

आयगुत्ते सया दन्ते, छिन्नसोए अणासवे।
ते सुद्ध-धम्ममाइक्खति, पडिपुण्णं महेसियं ॥—सूत्रकृताग सूत्र

वीतराग-धर्म का उपदेश और प्रचार वही कर सकता है कि जो आत्मरक्षक हो, जितेन्द्रिय हो, क्षमाशील हो, अनाश्रवी—निष्पाप हो। संक्षेप में महाव्रतधारी व्यक्ति ही शुद्ध धर्म का उपदेश सुचारूप से कर सकती है।

किसी भी धर्मोपदेशक में इतनी योग्यता सामान्यतः होनी ही चाहिए। वास्तव में धर्म में किसी प्रकार की विकृति होती नहीं है। अन-धिकारी धर्मोपदेशक के अयोग्य धर्म-प्रचार के कारण से भी धर्म में थोड़ी विकृति आ जाती है।

धर्मोपदेशक की योग्यता सिर्फ उपदेश देकर जनमनरंजन कर देने में ही रही हुई नहीं है। लेकिन—

'जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसयं। —'उत्तरा० ३'

जिस धर्मोपदेश को सुनकर जीवन में तप-तितिक्षा, अहिंसा, संयम, क्षमा, यम-नियम आदि सद्गुण प्रगट न हों तो उपदेश-श्रवण नहीं किया है—ऐसा समझना चाहिए।

इस शास्त्रोल्लेख से धर्मोपदेशक पर सद्धर्मप्रचार और समाजोद्धार का

कितना बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहा हुआ है। इसका खयाल आ सकता है।

* * *

पूज्यश्री को अपने उत्तरदायित्व का पूरा भान है। उन्होंने अपनी सारी जीवन-शक्ति सद्धर्म के प्रचार में और मुख्यतः जैन-समाज के और सामान्यतः जन समाज के उद्धार के लिए समर्पित कर दी है और उनकी उद्बोधक, प्रेरक और रोचक व्याख्यानवाणी के द्वारा समाज और राष्ट्र को को आशातीत लाभ भी पहुँचा है।

उन्होंने धार्मिक अन्धश्रद्धा के स्थान पर 'धार्मिकता' की पुनः प्रतिष्ठा की है। समाज-जीवन में घुसी हुई कुरूढ़ियों के थरों को-समाज के अंग-प्रत्यंग क्षत-विक्षत न हों ऐसी सतर्कता के साथ—एक कुशल कलाकार के कौशल से—उखाड़ कर फैंक दिया है और उनके स्थान पर समाज की नव-रचना की है। समाज में से रूढ़िच्छेद करने से, धार्मिक अंधश्रद्धा दूर करने से समाजोद्धार, संघोद्धार और राष्ट्रोद्धार की प्रवृत्ति को काफी बल मिला है और समाज व धर्म की जागृति के द्वारा राष्ट्र की जागृति भी हुई है। इसका श्रेय पूज्यश्री की धर्म-प्रचारकता, समय-सूचकता और उनकी जीवन-कला की उपासना को प्राप्त होता है।

* * *

इस प्रकार जब पूज्यश्री की सर्वाङ्गीण जीवन विकास की—जीवन कला के अनन्य उपासक और उसके प्रखर प्रचारक की दृष्टि से—समीक्षा करते हैं तब हमें कहना पड़ता है कि पूज्य श्री केवल जैन समाज के ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष की वंदनीय विभूति हैं। जैन समाज के तो

वे जगमगाते ज्योतिर्धर 'जवाहर' हैं। उन्होंने अपनी जीवन-ज्योति के द्वारा राष्ट्र, समाज और धर्म को आलोकित किया है।

ऐसे युग-प्रधान साधुपुरुप की जीवन-कला आज सरस्वती का रूप धारण करके राष्ट्र-भाषा का पोशाक पहिन कर पुस्तकारूढ़ होने जा रही है-यह अत्यानंद का विषय है। जिन्होंने पूज्य श्री की जीवन कला—ज्ञान-गंगा को पृथ्वी-पट पर प्रवाहित करने का पुण्य कार्य किया है वे सभी धन्यवादार्ह है।

वास्तव में पूज्यश्री की ओजस्विनी, प्रभावोत्पादक धर्मवाणी–वाग्विलास की वानगी नहीं है अपितु सुदीर्घ संयम-साधना के फलस्वरूप अन्तस्तल से निकली हुई युगवाणी है। इस उदात्त वाणी के उ गाता ने जैनधर्म के प्राणभूत तत्त्वों का युगदृष्टि से पर्यन्वेषण करके जैनधर्म को युगधर्म बनाने में बड़ा भारी योगदान दिया है। यही उनका दिव्य-दान है। पूज्यश्री की यह बहुत बडी देन है।

जीवनकला का ऐसा अनुपम दिव्य-दान देने वाले पूज्यश्री, उपनिषद् के शब्दों में 'शरदः शतं जीव'—चिरायु बनें और धर्म, समाज और राष्ट्र के कल्याण-मार्ग को चिरकाल तक अपनी कल्याण-कामना के द्वारा प्रशस्त बनाया करें यही इष्टदेव से प्रार्थना और हृदयगत भावना है।

अन्त में पूज्यश्री के भावों को भाषा की सुंदर पोशाक पहिना कर पंडित शोभाचन्द्रजी ने और उनका प्रचार करने में श्री चंपालालजी बांठिया ने सर्व साधारण का बड़ा उपकार किया है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। शुभमस्तु।

जैन-गुरुकुल, ब्यावर
ता. १–११–४२ } शान्तिलाल वनमाली सेठ, न्यायतीर्थ

मद्दीयम्

हमारे देश के नवयुवकों में धर्म के प्रति अरुचि का जो भाव दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है, उसका एक कारण अगर पाश्चात्य शिक्षा है तो दूसरा कारण धर्मोपदेशकों की उदासीनता भी है। धर्मोपदेशक अक्सर धर्म को संकीर्णता के कारागार में कैद कर रखते हैं और उसे परलोक के काम की चीज़ बताते हैं। वर्त्तमान जीवन में धर्म की क्या उपयोगिता है और किस प्रकार पद-पद पर धर्म का जीवन में समावेश होना आवश्यक है, इसकी ओर उनका लक्ष्य शायद ही कभी जाता है। संक्षेप में कहा जाय तो आज धर्म 'व्यवहार' न रह कर 'सिद्धान्त' बन गया है।

संसार में आज समाजवाद की भावना बढ़ रही है और भारत भी उस भावना का अपवाद नहीं रहा है। धर्मोपदेशक जब एकान्तत व्यक्तिवाद की ओर आकृष्ट होकर व्यक्तिगत अभ्युदय के ही साधन रूप में धर्म की व्याख्या करते हैं, तब समाजवादी नवयुवक धर्म की ओर हिकारत भरी निगाह से देखने लगता है।

जीवन को ऊँचा उठाने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप दो पंखों की आवश्यकता है। जिस पंखी का एक पंख उखड़ जायगा वह अगर अनन्त और असीम आकाश में विचरण करने की इच्छा करेगा तो परिणाम एक ही

होगा—अध पतन। यही बात जीवन के संबंध में है। जीवन की उन्नति प्रवृत्ति और निवृत्ति–दोनों के बिना साध्य नहीं है। एकान्त निवृत्ति निरी अकर्मण्यता है और एकान्त प्रवृत्ति चित्त की चपलता है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

अर्थात्-अशुभ से निवृत्त होना और शुभ में प्रवृत्ति करना ही सम्यक् चारित्र समझना चाहिए।

'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् सम्यक् चारित्र ही धर्म है; इस कथन को सामने रखकर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप है। 'अहिंसा' निवृत्ति भेद है पर उसकी साधना विश्वमैत्री और समभावना को जागृत करने रूप प्रवृत्ति से ही होती है। इसीसे अहिंसा व्यवहार्य बनती है। किन्तु हमें प्रायः जीवघात न करना सिखाया जाता है, पर जीवघात न करके उसके बदले करना क्या चाहिए, इस उपदेश की ओर उपेक्षा बताई जाती है।

आचार्य श्री जवाहरलालजी म० के व्याख्यानों में इन त्रुटियों की पूर्ति की गई है। उन्होंने धर्म को व्यवहार्य, सर्वांगीण और वैसक रूप देने की सफल चेष्टा की है। अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा उन्होंने शास्त्रों का जो नवनीत जनता के समक्ष रक्खा है, निस्सदेह उसमें संजीवनी शक्ति है। उनके विचारों की उदारता ऐसी ही है जैसे एक मार्मिक विद्वान् जैनाचार्य की होनी चाहिये।

आचार्य की वाणी में युगदर्शन की छाप है, समाज में फैले हुए अनेक

धर्म संबंधी मिथ्या विचारों का निराकरण है, फिर भी वे प्रमाणभूत शास्त्रों से कुछ मात्र इधर-उधर नहीं होते। उनमें समन्वय करने की अद्भुत क्षमता है। वे प्रत्येक शब्दावली की आत्मा को पकड़ते हैं और इतने गहरे जाकर चिन्तन करते हैं कि वहाँ गीता और जैनागम एकमेक से लगते हैं।

गृहस्थजीवन को अत्यन्त विकृत देखकर कभी-कभी आचार्य तिल-मिला उठते हैं और कहते हैं—'मित्रो! जी चाहता है, लज्जा का पर्दा फाड़कर सब बातें साफ़-साफ़ कह दूँ।' नैतिक जीवन की विशुद्धि हुए बिना धार्मिक जीवन का गठन नहीं हो सकता, पर लोग नीति की नहीं, धर्म की ही बात सुनना चाहते हैं। आचार्य उनसे साफ़-साफ कहते हैं—लाचारी है मित्रो! नीति की बात तुम्हें सुननी होगी। इसके बिना धर्म की साधना नहीं हो सकती। और वे नीति पर इतना ही भार देते हैं, जितना धर्म पर।

आचार्य के प्रवचन ध्यानपूर्वक पढ़ने पर विद्वान् पाठक यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि व्यवहार्य धर्म की ऐसी सुन्दर, उदार और सिद्धान्तसंगत व्याख्या करने वाले प्रतिभाशाली व्यक्ति अत्यन्त विरल होते हैं।

आचार्यश्री अपने व्याख्येय विषय को प्रभावशाली बनाने के लिये और कभी-कभी गूढ़ विषय को सुगम बनाने के लिए कथा का आश्रय लेते हैं। कथा कहने की उनकी शैली निराली है। साधारण से साधारण कथानक में वे जान डाल देते हैं। उसमें जादू-सा चमत्कार आ जाता है। उन्होंने अपनी सुन्दरतर शैली, प्रतिभामयी भावुकता एवं विशाल अनुभव की

-सहायता से कितने ही कथा-पात्रों को भाग्यवान् बना दिया है। 'सव्वा कला धम्मकहा जिणइ' अर्थात् धर्मकला समस्त कलाओं में उत्कृष्ट है, इस कथन के अनुसार आचार्यश्री की कथाएँ उत्कृष्ट कोटि की कला की निदर्शन हैं। वे प्रायः पुराणों और इतिहास में वर्णित कथाओं का ही प्रवचन करते हैं पर अनेकों बार सुनी हुई कथा भी उनके मुख से एकदम मौलिक-अश्रुतपूर्व सी जान पड़ने लगती है।

आचार्य के उपदेश की गहराई और प्रभावोत्पादकता का प्रधान कारण है, उनके आचरण की उच्चता। वे उच्चश्रेणी के आचारनिष्ठ महात्मा हैं।

आचर्यश्री के प्रवचनों का उद्देश्य न तो अपना वक्तृत्व-कौशल प्रकट करना है और न विद्वत्ता का प्रदर्शन करना यद्यपि उनके प्रवचनों से उक्त दोनों विशेषताएँ स्वयं झलकती हैं। श्रोताओं के जीवन को धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से ऊंचे उठाना ही उनके प्रवचनों का उद्देश्य है। यही कारण है कि वे उन बातों पर वारम्वार प्रकाश डालते नज़र आते हैं जो जीवन की नींव के समान है। इतना ही नहीं, वे अपने एक ही प्रवचन में अनेक जीवनोपयोगी विषयों पर भी प्रकाश डालते हैं। उनका यह कार्य उस शिक्षक के समान है जो अबोध बालक को एक ही पाठ का कई वार अभ्यास करा कर ऊंचे दर्जे के लिये तैयार करता है।

विश्वास है यह प्रवचन-संग्रह के पाठकों को अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा। इस संग्रह के प्रकाशन की आज्ञा देने वाले श्री हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम और प्रकाशक सेठ चम्पालालजी बांठिया, भीनासर, के प्रति हम पाठकों की ओर से कृतज्ञता प्रकाशन करते हैं।

सम्पादन करते समय मूल व्याख्यानों के भावों का और भाषा का ध्यान रक्खा गया है फिर भी यह छद्मस्थ ही कैसा जो अभ्रान्त होने का दावा करे? अगर कहीं भाव-भाषा संबंधी अनौचित्य दिखाई पड़े तो उसका उत्तरदायित्व सम्पादक के नाते मुझ पर है।

'जवाहर किरणावली' की दूसरी और तीसरी किरण भी साथ ही प्रकाशित हो रही है। अभी मुझे सूचना मिली है कि बीकानेर की श्रीश्वे. सा. जैन हितकारिणी संस्था ने पूज्यश्री का उपलब्ध साहित्य प्रकाशित करना तय किया है। हितकारिणी संस्था का यह पुण्य निश्चय बधाई के योग्य है आशा है इस किरणावली की अनेक किरणें भी शीघ्र पाठकों को हस्तगत होंगी।

जैन-गुरुकुल ब्यावर
दीपावली, १९९९

शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक के दो शब्द

परम प्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के जनहितकर व्याख्यान प्रकाशित करने का सुयोग पाकर मेरी प्रसन्नता का पार नहीं है। सर्व साधारण जनता इससे लाभ उठावे, इसीमे मेरी कृतार्थता है।

राजनीतिक परिस्थिति के कारण कागज़ का मूल्य बेहद बढ़ गया है और इतने पर भी समय पर आवश्यक कागज़ नहीं मिलता। फिर भी पुस्तक का मूल्य अधिक नहीं रक्खा गया है। पुस्तक-विक्रय की आय भी साहित्य प्रचार मे ही खर्च की जायगी।

जब पुस्तक-प्रकाशन का निश्चय हुआ तब पूज्य श्री की जयन्ती-कार्तिक शुक्ला चतुर्थी को बहुत दिन नहीं रह गये थे और उक्त समय पर पुस्तक प्रकाशित करनी थी। साहित्यप्रेमी पं० शान्तिलालजी शेठ के घोर परिश्रम से पुस्तक समय पर प्रकाशित हो सकी है। अतएव हम पंडितजी के आभारी है।

शीघ्रता के कारण प्रूफ संबंधी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। आशा है प्रेमी पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक.

श्रीमान् सेठ चम्पालालजी बांठिया
भीनासर (बीकानेर)

बांठिया-वंश की विभूति

[संक्षिप्त परिचय]

भीनासर (बीकानेर) का बांठिया-परिवार स्थानकवासी समाज में अपना ऊँचा स्थान रखता है। समय-समय पर इस परिवार ने समाज की बहुत-सी मूल्यवान सेवाएँ की हैं। प्रस्तुत पुस्तक—'दिव्य दान' और इसके साथ ही प्रकाशित होने वाली 'जवाहर किरणावली' की दूसरी किरण दिव्य-जीवन के प्रकाशन का श्रेय भी इसी परिवार के उदीयमान प्रभावशाली श्रीमान् सेठ चम्पालालजी बांठिया को प्राप्त होता है। आपने अपने व्यय से दोनों पुस्तकें प्रकाशित की हैं और उनसे होने वाली आय फिर साहित्य-प्रकाशन में ही लगा देने का निश्चय किया है।

सेठ चम्पालालजी सा० बांठिया के स्वर्गस्थ पिताश्री का शुभ नाम श्री हमीरमलजी बांठिया था। आपका जीवन बीसवीं शताब्दी के किसी भी रईस के लिए आदर्श और अनुकरणीय था। उनकी सादगी अनुपम थी। उनके मोटे वस्त्रों की पोशाक देख कर कोई यह कल्पना भी न कर सकता था कि यह धनकुबेर हैं और विख्यात बांठिया-वंश की विभूति हैं। जैसी सादगीपूर्ण उनकी पोशाक, वैसा ही सादा उनका भोजन था। वे उन सावधान व्यक्तियों में से थे जो दूसरों को उदार और सौम्य दृष्टि

से देखते हैं मगर अपने आपको अनुदार एवं तीक्ष्ण नज़रों से अवलोकन करते हैं, जो दूसरों के सौ गुनाह माफ कर देते हैं और अपने एक गुनाह के लिए अपने आपको क्षमा नहीं कर सकते। इसी वृत्ति के परिणाम स्वरूप व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है और वह साधारण जनसमाज से ऊँचा उठ जाता है। सेठ हमीरमलजी चांठिया में इस प्रकार की वृत्ति विकसित हो गई थी। वे अपने प्रत्येक आचार-विचार को, यहाँ तक कि रोजमर्रा के छोटे से छोटे काम को तीखी नज़र से देखते रहते थे और इस बात का पूरा ध्यान रखते थे कि उनके व्यवहार में कभी और कहीं विरूपता न आने पावे। यही कारण है कि उनका अन्तरंग और बहिरंग जीवन सदैव एक-सा सुसंगत रहा, उसमें कभी विसंगति नहीं आने पाई। उनके बोलचाल में अगर शहद की मिठास थी तो हृदय में भी अमृत की मधुरता थी। जब वे किसी को उसके हित की मौखिक सलाह देते थे तो उस समय उनका हृदय भी परहित की भव्य भावना से भरपूर रहता था। तात्पर्य यह है कि जैसे उनका लिबास, बोलचाल और अन्य बाह्य कार्य सरल और संयममय था, उसी प्रकार उनका अन्तःकरण भी सरल और संयत था।

तड़क भड़क से वे कोसों दूर रहते थे, और इसी कारण आज उनका एक फोटो तक हमें उपलब्ध नहीं है। इस युग में, एक धन-कुबेर का फोटो तक न उतरवाना कितना आश्चर्यजनक है? 'न हि कस्तूरिकाऽऽमोदः शपथेन प्रतीयते।' अर्थात् कस्तूरी की गंध किसी को कसम खाकर बताने की आवश्यकता नहीं होती। वह तो आप ही आसपास में फैल जाती है। सेठजी के उदात्त गुणों की यही हालत थी। आपके हृदय की सरलता,

सरलता, मिलनसारी, परहितपरायणता और निष्पक्षता के कारण सभी आपका आदर-सम्मान करते थे। आपने अपने उदार व्यवहार से 'ग्रामस्थविर' का-सा आदर प्राप्त किया था।

एक बार भीनासर के श्रीमानों में आपस में वैमनस्य हो गया। जहाँ धन की कमी नहीं, वहाँ किस बात की कमी रह सकती है? नतीजा यह हुआ कि आपस में एक साथ पचासों मुकदमे फूट पड़े। परस्पर विरोधी दो दलों में वैमनस्य की आग इतनी अधिक भड़क उठी कि एक ने दूसरे के विरुद्ध सच्ची-झूठी फरियाद करना आरंभ कर दिया। उस समय किसी का बेदाग बचे रहना कठिन था। पर नहीं, उस समय भी एक आदर्श पुरुष बेदाग और बेलाग था। वह तटस्थ था! उस समय भी उसकी उदार दृष्टि में दोनों विरोधी दल दो पुत्रों के समान थे। वह कौन था? वही हमारे चरित नायक सेठ हमीरमलजी बांठिया। वास्तव में वह अजातशत्रु थे! अपने जीवन में न उन्हें किसी ने अपना शत्रु समझा और न उन्होंने किसी को अपना दुश्मन माना। वे सभी प्रकार के रगड़ों झगड़ों से सदा दूर रहते थे और एक अच्छे श्रावक के योग्य अपना शान्तिमय जीवन यापन करते थे।

सच्चा श्रावक 'न्यायोपात्त धन' होता है। वह धनोपार्जन भले ही करता है परन्तु उसमें अन्याय का समावेश नहीं होने पाता। आदर्श श्रावक धन को अपने जीवन से ऊँचा कदापि नहीं उठने देता। उसका जीवन, धन के लिए नहीं वरन् धन, जीवन के लिए होता है। जो धन जीवन के अभ्युदय में सहायक नहीं होता वह धनवान् का परम शत्रु है। विवेकशाली धनवान् अपने धन का दास नहीं वरन् स्वामी होता है। वह

धन को अपने जीवन का बोझ नहीं बनने देता। स्वर्गस्थ सेठ साहब ऐसे ही धनी थे। उन्होंने धनोपार्जन करके धन को कभी अपने ऊपर सवार नहीं होने दिया, किन्तु वे स्वयं उस पर सवार रहे। एक कवि ने कहा है—

लक्ष्मीः! क्षमस्व वचनीयमिदं दुरुक्तम्,
अन्धा भवन्ति मनुजास्त्वदुपाश्रयेण।

अर्थात् हे लक्ष्मी! एक कटुक बात कह देने के लिए मुझे क्षमा कर देना। जो लोग तुम्हारा आश्रय लेते है—धनवान् हो जाते हैं वे अन्धे हो जाते है, उन्हे भलाई-बुराई का भान नहीं रहता।

अगर इस कवि ने हमारे चरितनायक के दर्शन किये होते तो वह अपनी उक्ति में अवश्य 'प्रायः' शब्द जोड़ देता या उन्हें अपवाद की गिनती में गिनता।

विष प्राणनाशक है, मगर जिसमें उसे पचा लेने की क्षमता है उसे वह प्राणदाता—शक्तिप्रद बन जाता है। धन में भले ही दुर्गुण पैदा करने का सामर्थ्य हो, परन्तु धन के सामर्थ्य से कहीं अधिक जीवनशक्ति से सम्पन्न पुरुष के लिए धन सद्‌गुण का कारण बन जाता है। आवश्यकता है सिर्फ उसे पचा लेने की। जिसमें जीवन की स्वतः शक्ति नही है, उसका धन उसके जीवन को खोखला बना सकता है, शक्तिशाली के लिए तो वह सहायक होता है। सेठ हमीरमलजी बांठिया में जीवनी शक्ति इतनी प्रबल थी कि धन उनमें किसी प्रकार का विकार न पैदा कर सका। यही नहीं, उन्होंने अपने धन का यथेष्ट उपयोग किया। वे मुक्त हस्त से दान देते थे और उन का दान-प्रवाह अविरत गति से चालू रहता था।

दान में एक बड़ा खतरा रहता है—अभिमान का। दान को अपने अभिमान-पोषण का साधन अकसर बनाया जाता है। प्रायः कीर्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए दान को घूंस का रूप दे दिया जाता है। सेठ साहब में इस प्रकार की लालसाएँ कतई न थीं। उनका सारा जीवन निरभिमानता से पूर्ण था और यश की कामना उनके पास नहीं फटकने पाती थी। यही कारण है कि उनका दान प्रायः 'गुप्त दान' ही होता था। वि० स० १९८४ में परम प्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के उपदेश से सेठ साहब ने ५१०००) इक्यावन हज़ार रुपयों का प्रशंसनीय दान दिया था और बीकानेर की श्री श्वे. सा. जैन हितकारिणी संस्था को ११०००) रुपयों की रकम अर्पित की थी। इसी प्रकार समय-समय पर अन्य रकमें भी आप प्रकट दान के रूप में देते थे, मगर आपका प्रधान दानप्रवाह गुप्त दान के रूप में रहता था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सेठ साहब सदा न्याय-नीति से ही धनोपार्जन करते थे। यही कारण है कि आपका निजी जीवन जितना उज्ज्वल रहा है, व्यावसायिक जीवन भी उतना ही उज्ज्वल रहा है। आपने अपने जीवन की कच्ची उम्र में अर्थात् १५ वर्ष की अवस्था में व्यापार करना आरंभ किया था और लगातार करीब चालीस वर्ष तक आपने व्यापारी जीवन बिताया। इतने दीर्घ व्यापारिक जीवन में, यह आश्चर्य की बात है कि किसी भी वर्ष आपको घाटा नहीं उठाना पड़ा। बीसवीं सदी में, जब सारे संसार के बाजार एकमेक हो रहे हैं, किसी भी देश की एक घटना का सारे संसार के व्यवसाय पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, और जब कि व्यापार के प्रधान सूत्र विदेशियों के हाथों में रहते हैं, इतनी

सफलता के साथ चालीस वर्ष तक व्यापार करना क्या साधारण व्यक्ति के बलबूते की बात है? निस्सन्देह इस सफलता के लिए असाधारण प्रतिभा एवं कौशल की आवश्यकता है। सेठ साहब न किसी व्यापारिक विद्यालय में पढ़े थे और न उन्होंने 'कमर्सियल कालेज' के द्वार खटखटाये थे। फिर भी जन्मजात बुद्धिकौशल के बल पर ऐसी असाधारण सफलता प्राप्त की थी।

इस व्यापारिक सफलता में जहाँ उनकी प्राकृतिक प्रतिभा का चमत्कार दिखलाई पड़ता है वहाँ उनकी नीति-निष्ठता भी कारणभूत है। साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि नीति और अनीति का विचार अथवा धर्म-अधर्म का ख़याल धर्मस्थानकों की वस्तु है। धर्मस्थान के बाहर, विशेषत. दुकान में नीति-अनीति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वहाँ व्यवसाय के साँचे में ढलकर अनीति भी नीति बन जाती है और अधर्म भी धर्म बन जाता है। मगर चरित-नायक इस विचार के अनुयायी न थे। उनका जीवन क्या धर्मस्थान में, क्या मकान में और क्या दुकान में, सर्वत्र एकरूप था। प्रामाणिकता, नैतिकता और धार्मिकता उनके आचरण में ऐसी ओतप्रोत हो गई थी कि कहीं भी वह जुदी नहीं होती थी। इसी कारण व्यापार में उन्हें कभी असफलता का मुख न देखना पड़ा।

सेठ हमीरमलजी साहब को सजीव पारस की उपमा देना कदाचित् असंगत न होगा। पारस को स्पर्श करने वाला लोहा, स्वर्ण बन जाता है। इसी प्रकार सेठ साहब का जिस किसी ने संसर्ग किया वही निर्धन से धनी बन गया। सेठ सा० के व्यापार में तीन पैसे की पांती वाले भागीदार भी आज लखपती बने हुए हैं।

कुछ दिनों तक सेठ सा० अपने कुटुम्ब में सबसे स्थविर थे। मगर उनकी स्थविरता अपने से छोटों की सेवा की अपेक्षा नहीं रखती थी। यद्यपि सभी लोग उनके आदेश पालन के लिए सदा तैयार रहते थे, फिर भी वे अपना काम-काज प्रायः अपने ही हाथों करते थे। वे अपने विशाल परिवार से बहुत अधिक प्रेम रखते थे और सबकी यथोचित सार-संभाल किया करते थे। अपने कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य को वे समान हैसियत में देखने के इच्छुक रहते थे। अपने कुटुम्बी जनों के प्रति ईर्षा का भाव, जो प्रायः देखा जाता है, उससे सेठ सा० को तीव्र घृणा थी।

यों तो सेठजी के जीवन का प्रत्येक व्यवहार ही धर्म-सापेक्ष होता था, फिर भी वे धार्मिक क्रियाकांड के कट्टर समर्थक और पालक भी थे। धर्म के प्रति निश्चल श्रद्धा उनके जीवन के साथ एकाकार हो गई थी। वे दृढ़ धर्मात्मा थे। त्रिकाल मुनि दर्शन करना, बिना नागा प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करना उनके जीवन का सहज कार्य हो गया था। उनके सभी व्यवहार श्रावक की मर्यादा के अनुसार होते थे।

खेद है कि विस्तारभय से यहाँ सेठ साहब के जीवन-चरित की ब्यौरे की बातों का उल्लेख नहीं किया जा सकता। उक्त सामान्य परिचय से पाठक समझ सकेंगे कि स्वर्गीय सेठ हमीरमलजी बांठिया समाज के अनुपम रत्न थे। उनका जीवन श्रावक का सच्चा जीवन था। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्ममय बनाया था। उनके लिए धर्म आदर्श की नहीं, वरन् व्यवहार की वस्तु थी।

वि० सं० १९८५ में, ६६ वर्ष की उम्र में, बिना किसी प्रकार का कष्ट पाये, शांतिपूर्वक, अचानक ही वे स्वर्गवासी बन गये। सेठजी के

अभाव से समाज ने एक आदर्श श्रीमान् गँवाया, भीनासर ने ग्रामस्थविर गंवाया, बांठिया परिवार ने अपना पथप्रदर्शक गंवाया और धर्म ने अपना सच्चा अनुयायी गंवाया।

व्यक्ति, जिस समाज में से अपना जो स्थान रिक्त करता है, उस स्थान की पूर्ति वह अपनी सुयोग्य संतान के द्वारा करता है। सुयोग्य सन्तान अपने पूर्वज का प्रतिनिधित्व करती है और अपने पूर्वज द्वारा समाज को मिलने वाली सेवाएँ जारी रखती है। यही संतान की सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता है।

सर्व साधारण के विषय में यह उपयोगिता कहाँ तक निभती है यह कहना कठिन है और यहाँ इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता भी नहीं है। यहाँ सिर्फ इतना बता देना आवश्यक है कि स्वर्गस्थ सेठ साहब की संतान ने अपने पिताश्री की सद्गुणावली का भलीभाँति प्रतिनिधित्व किया है। सेठ सा० के तीन पुत्रों में ज्येष्ठ सेठ कनीरामजी बांठिया की समाज-सेवा से समाज अपरिचित नहीं है। आप अत्यन्त सरल, नम्र, विवेकवान् और धर्मप्रेमी हैं। द्वितीय पुत्र सेठ सोहनलालजी हैं और सब से छोटे पुत्र हैं—सेठ चम्पालालजी बांठिया।

सेठ चम्पालालजी—साहब उदीयमान समाजसेवक हैं। अभी आपकी उम्र चालीस वर्ष की है। मगर इस उम्र में ही उन्होंने अपने पूज्य पिताजी का अनेक अंशों में अनुकरण किया है। आपने अपने पिताजी के स्मारक रूप में 'सेठ हमीरमलजी बांठिया बालिका विद्यालय' की स्थापना की है और बड़ी सफलता के साथ उसका संचालन कर रहे हैं। इन पंक्तियों के लेखक को विद्यालय के परिचय में आने का सुअवसर मिला है और

भीनासर जैसे क्षेत्र में विद्यालय की सफलता देख कर उसे विस्मय के साथ आनन्दानुभव हुआ है।

आपने एक प्रसंग पर एक मुश्त ७५०००) रु० का दान देकर अपनी उदारता प्रदर्शित की है।

सेठ चम्पालालजी बांठिया की विवेकपूर्ण धार्मिकता, सादगी, सरलता, मिलनसार वृत्ति, निरभिमानता, और समाज-सेवा के प्रति हार्दिक लगन सर्वथा सराहनीय है। समाज को आपसे भविष्य में बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

पूज्यश्री का शारीरिक स्वास्थ्य जब अत्यन्त खतरनाक दशा में पहुँच गया था, उस समय आपने जिस लगन और कौशल के साथ परिस्थिति को सँभाला और पूज्यश्री के स्वास्थ्य सुधार का पुण्य उपार्जन किया है, वह यहाँ संक्षेप में नहीं लिखा जा सकता। आज कल आप भीनासर के सार्वजनिक जीवन के एक संचालक हैं।

सेठ चम्पालालजी साहब बीकानेर राज्य के प्रभावशाली नागरिकों में गिने जाते हैं। सामाजिक क्षेत्र के साथ-साथ आप राजनीतिक क्षेत्र में भी दिलचस्पी रखते हैं। आप बीकानेर राज्य के 'ट्रेड एण्ड इण्डस्ट्रीज़ एसोसिएशन' के सभापति हैं और इस एसोसियेशन की ओर से आप बीकानेर की लेजिसलेटिव एसेम्बली (धारासभा) के माननीय सदस्य हैं। बीकानेर के व्यापारी वर्ग में उनकी कितनी प्रतिष्ठा है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है।

आपको राज्य में भी काफी प्रतिष्ठा है। रियासत की ओर से आपको कई प्रकार के सम्मान प्राप्त हैं। चांदी की छड़ी, चपरास आपको बीकानेर

नरेश ने प्रदान की है। उसे धारण कर आपके सेवक आपके साथ चल सकते हैं। रियासतों में यह एक बड़ा सम्मान समझा जाता है, पर अपने पिताजी की सादगी का प्रतिनिधित्व करने वाले सेठ चम्पालालजी इस सम्मान का कभी उपयोग नहीं करते। कैफ़ियत आदि के और भी कुछ सम्मान राज्य की ओर से आपको प्राप्त हुए हैं।

कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, लाहौर, बीकानेर, में आपके व्यापारिक फर्म चल रहे हैं। आप अपने विस्तृत व्यापार का संचालन करते हुए भी सार्वजनिक कार्यों में पर्याप्त समय दे सकते हैं। यह आपकी व्यवस्थित कार्यप्रणाली और चतुरता का प्रमाण है।

तात्पर्य यह है कि स्वर्गस्थ सेठ हमीरमलजी सा० ने अपने जीवन में जिन परम्पराओं को जन्म दिया था, उन्हें सेठ चम्पालालजी अत्यन्त सतर्कता के साथ जारी रख रहे हैं।

आपके ही साहित्यानुराग के फलस्वरूप 'जवाहर किरणावली' की प्रथम और द्वितीय किरण प्रकाशित हो रही है। आशा है आपसे समाज को इसी प्रकार लाभ मिलता रहेगा। एवमस्तु।

श्री जवाहर किरणावली

प्रथम किरण — दिव्य-दान

दिव्य-दान :: विषयानुक्रम
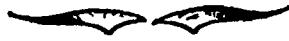
नं०	विषय	पृष्ठ

प्रार्थना

श्री आदीश्वर स्वामी हो, प्रणमूं सिर नामी तुम भणी ॥
प्रभु अन्तर्यामी आप, मो पर म्हेर करीजे हो ।
मेटीजे चिन्ता मन तणी, म्हारा काट पुराकृत पाप ॥
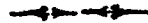
यहाँ भगवान् श्री ऋषभदेव की प्रार्थना की गई है। भगवान् ऋषभदेव इस भूतल पर कब अवतीर्ण हुए, यह अज्ञात है। इतिहास उस काल का पता नहीं देता, क्योंकि वह धीरे-धीरे भूतकाल की ओर बढ़ रहा है और अब तक उस अत्यन्त प्राचीन काल तक उसकी पहुँच नहीं हुई है। फिर भी विश्वस्त धर्मशास्त्रों में भगवान् ऋषभदेव का पता चलता है। उनका अस्तित्व धार्मिकता की दृष्टि से देखा जा सकता है, ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं। फिर भी उनका अस्तित्व असंदिग्ध है क्योंकि साहित्य भी इतिहास का एक मुख्य अंग है और जैन साहित्य

और वैदिक साहित्य दोनों—समान रूप से भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व का समर्थन करते हैं।

भगवान् ऋषभदेव इतिहासातीत काल में हुए हैं। उन्हें असंख्य समय व्यतीत हो चुका है। फिर भी हम भगवान् ऋषभदेव का गुणगान करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं मानो वे हमारे सामने ही विद्यमान हों।

प्रार्थना का विषय आध्यात्मिक है। इस आध्यात्मिक विचार के सामने तर्क-वितर्क का कोई मूल्य नहीं है। यह विश्वास का विषय है। हृदय की वस्तु का मस्तिष्क द्वारा निरीक्षण-परीक्षण नहीं किया जा सकता।

यहाँ जो प्रार्थना की गई है, उसका तत्त्व गंभीर है, फिर भी संक्षेप में उसे कहता हूँ। प्रार्थना मे कहा गया है कि—'हे नाथ! मैं दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर समभाव से आपको प्रणाम करता हूँ। प्रभो! आप कहाँ हैं? आपका वह स्थान कौन-सा है जहाँ मेरा विनय प्रणाम पहुँच सकता है? अध्यात्म दृष्टि से आपका स्थान अन्यत्र कहीं नहीं है। आप अन्तर्यामी हैं, इसलिए अन्तर्वासी हैं—आपका स्थान मेरा अन्तःकरण है। आप अन्तर में वास करते हैं अतएव अन्तर की बात जानते हैं।

यों तो सभी लोग स्तुति-पाठ करते हैं, परन्तु वास्तव में स्तुतिपाठ का अधिकारी वही है जो परमात्मा को अन्तर्यामी मानता है—अनुभव करता है। परमात्मा को अन्तःकरण का वासी समझने वाला ही स्तुति बोलने का सच्चा अधिकारी है।

प्रभो, तू अन्तर्यामी है, अन्तःकरण में विराजमान है, तो

एक कृपा कर। मेरे जिस अन्तर के स्वामी तुम हो उसी अन्तर में इतनी मलीनता व्याप्त है—ऐसी-ऐसी पाप-वासनाएँ घुसी हुई हैं कि जिन्हें प्रकट करने में भी मैं लज्जित होता हूँ। पाप की यह मलीन वासनाएँ मेरे लिए कितनी दुःखदायी होंगी, यह बात तेरे सिवाय और कौन जान सकता है ? तू ही मेरे अन्तःकरण में रहता है, इसलिए तेरे सिवाय वहाँ का हाल जानने वाला और कौन है ? हे मेरे देवता ! मेरी एक मात्र यही आकांक्षा है कि मेरे अन्तःकरण को उन मलीमस वासनाओं से मुक्त कर दे।

मैंने एक ओर भगवान् को अन्तर्यामी कहा है और दूसरी ओर अन्तःकरण की मलीनता का विनाश करने की प्रार्थना की है। इसमें यह विरोध न समझा जाय कि जिसका अन्तर्यामी स्वयं भगवान् है, उसके अन्तःकरण में मलीनता कैसी ? वहाँ दुःखों को अवकाश कहाँ है ?

प्रभो ! यदि तू अन्तर्यामी न होता और मैं तुझे अन्तर्यामी न समझता तो तुझे मेरे आन्तरिक दुःख का ज्ञान ही कैसे होता? वास्तविकता यह है कि तुझे अन्तर्यामी समझने से ही मुझे अपनी मलीनता का आभास हुआ और दुःखों की प्रतीति हुई है। साथ ही यह विचार भी आया कि तू ही अन्तर्यामी है और तू ही दुःखों का अन्त करने वाला भी है।

जिस घर में दीपक का प्रकाश नहीं होता, अंधकार में उस घर की वस्तुओं का पता नहीं चलता। उस समय चोर, साँप, गड्ढा या अन्य कोई विपत्ति का साधन भी दृष्टिगोचर नहीं

होता। इसी प्रकार जब तक मैंने तुझे अन्तर्यामी नहीं समझा था— अपने अन्तःकरण में तेरी अखंड सत्ता का अनुभव नहीं किया था, तब तक यह पता भी न था कि मेरे अन्तःकरण में क्या २ भरा पड़ा है ! जिस प्रकार प्रदीप के प्रज्वलित होने पर घर में की समस्त वस्तुएँ दीख पड़ने लगती हैं–साँप, बिच्छू, चोर, गड्ढा आदि विपत्तियाँ नजर आने लगती हैं, उसी प्रकार जब तेरी सत्ता का अन्तःकरण में आभास होते ही प्रकाश फैला, तो उस प्रकाश में मैंने देखा कि मेरे अन्तःकरण में क्या-क्या भरा है ! जब तेरे प्रकाश में अपने हृदय का हाल जाना और उसे दुःखों से परिपूर्ण पाया तो चिन्ता हुई और सोचने लगा—'अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किस विधि से अन्तःकरण की शुद्धि करूँ ?' इस प्रकार व्यग्र हो कर, अपनी अशक्ति को भलीभाँति समझ कर मैं उसके चरण-शरण में आया जिसने मुझे प्रकाश प्रदान किया है। जो स्वयं आलोक का पुंज है, वही अन्य को प्रकाश दे सकता है और वही दुःखों के अंधकार से उबारने में समर्थ हो सकता है।

मित्रो ! अन्तःकरण में भी एक प्रकार का अन्धकार होता है। ज्ञानीजन उस अन्धकार को अज्ञान कहते हैं। जैन परिभाषा में उसे मिथ्यात्व कहते हैं। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ अज्ञान है। जहाँ अज्ञान है, वहाँ मिथ्यात्व है। अज्ञान और मिथ्यात्व, रूप और रस की तरह सहचर हैं। एक के विना दूसरे की सत्ता नहीं रहती। मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व का उदय है और ज्ञानावरण कर्म के उदय से अज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का आच्छादन कर सकता है। उसमें ज्ञान

को कुज्ञान बनाने का सामर्थ्य नहीं है। मोहनीय कर्म ही ज्ञान में मिथ्या रूपता उत्पन्न करता है। मिथ्यात्व का संसर्ग पाकर ज्ञान भी मिथ्या बन जाता है।

प्रभो! जब तक मैं मिथ्यात्व के अन्धकार में निमग्न था, तब तक तो मुझे यह पता ही न था कि मेरे अन्तःकरण में क्या-क्या भरा है! उस समय निश्चिन्त होकर, विना किसी प्रकार के खटके के, मनमाना व्यवहार करता था। उस समय बुद्धि में विपरीतता आ गई थी। जो शत्रु हैं, वे मुझे मित्र जान पड़ते थे। हित, अहित दिखाई पड़ता था। जैसे अबोध बालक साँप को खिलौना समझ कर उसे हाथ में ले कर गले में डाल लेता है, उसी प्रकार मैं भी आत्मा के शत्रुओं को बड़े स्नेह के साथ गले से लगाये हुए था और उसी में आनन्द का अनुभव करता था। बुद्धि की विपरीतता ने बुरे कार्यों में अच्छाई की प्रतीति कराई थी; अतएव बुरे कार्यों का ही भला मान बैठा था।

किन्तु जिस दिन से तू अन्तर्यामी हुआ—मैंने तुझे अन्तर्यामी माना, उसी दिन से अन्तःकरण में ज्ञान रूपी दिव्य दीपक की ज्योति प्रकट हुई। उस ज्ञान रूपी दीपक की ज्योति के प्रकाश में मैंने अपने अन्तःकरण की ओर दृष्टि डाली तो उसमें भयावनी आपत्ति दीख पड़ी। अब उस आपत्ति से मुक्त होने के लिए विकल हूँ। अतएव प्रभो! मेरी प्रार्थना है कि मुझे उस विपदा से बचाओ।

मनुष्य को जब तक सम्यग्ज्ञान नहीं होता, तब तक वह साधु के स्थान पर भी धन-धान्य, पुत्र-पौत्र आदि की लालसा लेकर आता है। वह धन और पुत्र आदि सांसारिक पदार्थों के

निमित्त से होने वाले दुःखों से छुटकारा पाने के लिए साधु के पास आता है, लेकिन यह दुःख तो घर पर भी दूर हो सकते हैं। फिर साधु के स्थान पर आने की क्या आवश्यकता है ?

आप लोग जब तक यहाँ नहीं आये थे, तब तक की बात दूसरी है। लेकिन जब यहाँ आ गये हैं तो मुझ पर भी उत्तरदायित्व आ गया है। यदि मैं परमात्मा का स्मरण करके अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करूँ तो मुझ पर जितना उत्तरदायित्व अपने आत्मा का है उतना ही श्रोताओं के आत्मा का भी है। जैसे मैं अपनी आत्मा की शान्ति के लिए प्रयत्नशील हूँ, उसी प्रकार श्रोताओं के शान्तिलाभ के लिए भी मुझे चेष्टा करनी चाहिए। श्रोताओं को मैं शान्ति तभी प्रदान कर सकता हूँ जब मेरे अन्तरात्मा में शान्ति विद्यमान होगी। जो मेरे पास नहीं है, वह मैं दूसरों को कहाँ से दे सकता हूँ ?

सौ-पचास आदमियों की रसोई बनाने वाली बाई, रसोई चख कर इस बात का निर्णय कर लेती है कि यह रसोई मुझको अच्छी—स्वादिष्ट लगी है तो दूसरे जीमनेवालों को भी अच्छी लगेगी। यही बात यहाँ भी है। वक्ता को अपना व्याख्यान सर्व प्रथम अपने पर ही आजमाना चाहिए। व्याख्यान का विषय यदि वक्ता का हितकारक है तो श्रोताओं का भी उससे हितसाधन ही होगा; क्योंकि वक्ता और श्रोता की आत्मा समान है और उन आत्माओं को लगे हुए विकार भी समान हैं।

प्रभो ! ज्योंही तेरा स्वर्गीय प्रकाश मेरे अन्तःकरण में प्रकाशित हुआ त्योंही मेरे अन्तःकरण का संशोधन होने लगा।

मैं केहि कहौं विपत अति भारी,
श्री रघुवीर दीन हितकारी।
मम हृदै भवन प्रभु ! तौरा,
तहँ आन बसे बहु चोरा ॥
अति कठिन करहिं बल जोरा,
माने नहिं विनय-निहोरा ।
तम लोभ मोह अहँकारा,
मद क्रोध बोध-रिपु मारा ॥
अति करहिं उपद्रव नाथा !
मर्दहिं मोहिं जान अनाथा ।
मैं एक, अमित बटमारा,
कोउ सुनइ न मोर पुकारा ॥
भागे नहिं नाथ ! उबारा,
रघुनायक ! करहु सँभारा।
कहे तुलसीदास सुन रामा,
लूटैं तस्कर तव धामा ॥
चिन्ता मोहि एहि अपारा।
अपयश नहिं होय तुम्हारा ॥

इस प्रार्थना में और पहले की हुई भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना में कोई अन्तर नहीं है। दोनों की भाषा भिन्न है, भाव एक हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् ऋषभदेव जिस सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे उसी सूर्यवंश में राम भी उत्पन्न हुए थे, एवं राम

भी उसी तत्त्व तक पहुँचे हैं जिस परम तत्त्व तक भगवान् ऋषभ-देव पहुँचे हैं। 'रमन्ते योगिनो यत्रेति राम.' अर्थात् जिस तत्त्व में योगीजन रमण करते हैं वह 'राम' है, हम राम के इस रूप को मानते हैं।

इस प्रार्थना में बतलाया गया है कि—हे प्रभो! मैंने आपको अपना अन्तर्यामी स्वीकार किया है, तब आपसे क्या कहूँ? मेरे ऊपर जो विपदा है वह कही नहीं जा सकती। इस विपदा की दशा में तेरे सिवाय और कौन सहायक हो सकता है? जिस अन्तःकरण का तू स्वामी है, अन्तर्यामी है, उसी अन्तःकरण में, दुःख रूपी सागर में डुबाने वाले बड़े-बड़े चोर-डाकू घुसे बैठे हैं। मैं उनसे निहोरे करता हूँ—विनय करता हूँ—उनके सामने गिड़गिड़ाता हूँ, पर वे परवाह नहीं करते। उल्टे जोर दिखा कर मुझे अधिक घबराहट में डालते हैं। मैंने, तेरा प्रकाश मिलने से अपने अन्तःकरण को अपूर्ण ज्ञान से देखा तो मुझे अपने अन्तः-करण में भयंकर विपत्तियां दृष्टिगोचर हुईं।

प्रभो! मेरे अन्तःकरण में तुम्हारा वास हुआ, इसी से उसमें प्रकाश की आभा चमकी है। उस प्रकाश की आभा में देखता हूँ तो प्रतीत होता है कि अभी मेरे अन्त करण में अज्ञान विद्य-मान है। अज्ञान के अस्तित्व ने लोभ और मोह को जन्म दिया है। इन दोनों ने अहंकार का सर्जन किया। फिर क्रोध और लोभ रिपु आये, जिन्होंने सम्यग्ज्ञान का विनाश कर दिया है। इन सबके अतिरिक्त जन्म-मरण की चक्की में पीसने वाला काम भी वहाँ विद्यमान है। इस प्रकार यह चोर बहुतेरे हैं और मैं

अकेला हूँ। मैं आर्तनाद करता हूँ पर वे उस पर कान नहीं देते—मेरी पुकार उनके कानों तक भी नहीं पहुँचती। वे मुझे दबाये चले जाते हैं। इस गाढ़े मौके पर तुम्हारे अतिरिक्त अन्य सहायक नहीं है। मुझे यह सोचकर अधिक पीड़ा होती है कि तुम जिस स्थान के अन्तर्यामी हो, उसी स्थान को यह लूट रहे हैं। इससे कहीं तुम्हारा अपयश न हो जाय !

आप लोग लोक-व्यवहार की बात जानते हैं न कि मुनीम अपने सेठ की दुकान का अपमान होते देखता है, तो उस समय अपने प्राण निछावर करने को उद्यत हो जाता है ?

क्या मुनीम ऐसे समय में, जब कि सेठ की दुकान के अपमान का मौका हो, मजा-मौज करने के लिए अन्यत्र चला जा सकता है ? नहीं। अगर कोई मुनीम चला जाय तो उसे क्या कहा जायगा ?—नमकहराम।

कोई सैनिक युद्ध के समय अपने प्राणों के लोभ से, कायरता धारण करके, किसी बहाने से युद्धभूमि से हटना चाहे तो क्या वह सैनिक क्षत्रिय-धर्म का रक्षक कहा जा सकता है ?—कदापि नहीं।

भगवती सूत्र में वर्णन आया है कि वर्णनाग नतुवा श्रावक बेले-बेले पारणा करता था अर्थात् दो दिन उपवास किया करता और एक दिन भोजन करता था। वह श्रावक बड़ा तपोवीर और धर्म को जानने वाला था। एक बार उसके स्वामी पर संकट आ पड़ा। स्वामी ने उसे आदेश दिया कि युद्ध करने जाओ। वह बिना किसी आना-कानी के तत्काल युद्ध में जाने के लिए तैयार हो

गया। उसने यह नहीं कहा—'मैं तपस्वी हूँ। लड़ाई के लिए कैसे जा सकता हूँ?' वर्णनाग नतुवा ऐसा कहता तो उसका समर्थन करने वाले भी अनेक मिल जाते। (श्रोताओं को लक्ष्य करके) अगर आप लोग उस समय वहाँ होते तो शायद युद्ध का आदेश देने वाले महाराजा चेड़ा (चेटक) को कहते कि राजा कैसा दुष्ट है—कितना अविवेकी है, जो एक तपस्वी को रणभूमि में लड़ाई करने भेज रहा है! भला तपस्वी को लड़ाई से क्या वास्ता है! पर वहाँ वर्णनाग नतुवा था—धर्म का मर्म समझने वाला। उसने ऐसा कहकर टाल देने का प्रयत्न नहीं किया। उसने अपने तपस्वीपन को अपनी जान बचाने के लिए ढाल नहीं बनाया। उसने यह नहीं कहा कि मैं तो घर और संसार के प्रति अपना ममत्व न्यून से न्यूनतर कर रहा हूँ, मुझे लड़ाई से क्या लेना देना है!

जैनधर्म का उपदेश कितना महान् है! आदर्श कितना उच्च है! पर हो क्या रहा है? यह धर्म-वीरता का उपदेश देने वाला है। प्राचीन पुरुषों की अनेकानेक कथाएँ उनकी वीरता और प्रचण्ड पराक्रमशीलता की प्रतीक हैं; किन्तु वर्तमान में इस महान् धर्म के अनुयायियों में कायरता का प्रवेश हो रहा है।

भगवान् ने वर्णनाग नतुवा का वर्णन करते हुए गौतम स्वामी से कहा—युद्ध का आमन्त्रण पाकर वर्णनाग नतुवा के ललाट पर एक भी सिकुड़न न आई। वह हमेशा बेला किया करता था, पर युद्ध में जाते समय उसने तेला किया। वह तेला करके रथ में बैठा और अपने स्वामी की सेवा के लिए तथा अधर्म से

ने के लिए समरभूमि की ओर चल दिया; जिससे किसी
ो यह कहने का साहस न हो सके कि राज्य और राष्ट्र की
क्षा करने के लिए धर्मोपन त्यागना चाहिए। अर्थात् राज्य-
क्षा और धर्म-रक्षा में सर्वथा विरोध नहीं है, कोई यह न कहने
लगे कि हम धर्म की आराधना करने में असमर्थ हैं, क्योंकि
मारे ऊपर राज्य की रक्षा करने का उत्तरदायित्व है। वर्णनाग
नतुवा ने अपने व्यवहार से दोनों कर्त्तव्यों को समन्वय साधा
और यह भी सिद्ध कर दिया कि धर्मात्मा पुरुष अवसर आने
पर अपने स्वामी को कभी धोखा नहीं दे सकता। वह विना
किसी हिचकिचाहट के कर्त्तव्यभावना से प्रेरित होकर युद्ध के
लिए चल दिया।

यह तो लौकिक युद्ध की बात है। लोकोत्तर युद्ध में
ऐसे-ऐसे वीर साधु और श्रावक हुए हैं कि कहा भी नहीं
जा सकता। अनेक साधुओं और श्रावकों ने लोकोत्तर युद्ध
में जो शूरता का प्रदर्शन किया है, उसे देख कर चकित
रह जाना पड़ता है। कामदेव श्रावक के सामने,
सात-आठ ताड़ जितने लम्बे पिशाच का रौद्र रूप
धारण करके एक देव आया। वह कामदेव से कहने लगा—'मैं
जानता हूँ, तू महावीर का अनुयायी है। तुझे नियम-भंग करना
नहीं कल्पता है, फिर भी यदि तू अपने नियम का त्याग न
करेगा, तो मैं अपनी इस तीखी तलवार से तेरे टुकड़े-टुकड़े कर
डालूंगा।'

पिशाच द्वारा इस प्रकार भय बताया जाने पर भी कामदेव सुमेरु
की भाँति अचल रहा। कामदेव ने सोचा—'तलवार से टुकड़े-

टुकड़े हो जाना अच्छा है, लेकिन मैं अपने आचरण से भगवान् महावीर का जरा भी अपयश न होने दूंगा।' उसे मन में यह निश्चय हो गया था कि जो चीज टुकड़े-टुकड़े हो सकती है, वह मैं नहीं हूँ। मैं वह हूँ, जिससे तलवार टुकड़े-टुकड़े करना तो दूर, स्पर्श भी नहीं कर सकती। 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' अर्थात् आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते, सिर्फ शरीर को छेद सकते हैं। मैं चिदानन्दमय आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ।'

इस प्रकार दृढ़तापूर्ण विचार करने से ही समवशरण में भगवान् ने कहा था कि—कामदेव को देखो, वह कैसा दृढ़ श्रावक है। इस प्रकार समवशरण में कामदेव की धार्मिक दृढ़ता की प्रशंसा करते हुए भगवान ने निर्ग्रन्थ श्रमणों को जो कुछ सूचित किया था, शास्त्र में उसका उल्लेख विद्यमान है।

यह भगवान महावीर के छोटे पुत्र—श्रावक की बात हुई। भगवान् के ज्येष्ठ पुत्र—निर्ग्रन्थ मुनि—ने भगवान् का यश किस प्रकार कायम रक्खा, यह जानने के लिए गजसुकुमाल मुनि का उदाहरण मौजूद है। श्री गजसुकुमाल के उदाहरण से यह विचार करना चाहिए कि धर्म की रक्षा के लिए हमें क्या करना चाहिए ?

गजसुकुमाल मुनि भगवान् के बड़े पुत्रों में से हैं। उनके लोकोत्तर चरित ने उनके नाम में ऐसी पावनी शक्ति भर दी है कि उनके नाम का उच्चारण करने से ही हृदय पवित्र हो जाता है। ध्यानमग्न गजसुकुमाल के सिर पर पाल बाँध कर सोमल ब्राह्मण ने धधकते हुए लाल लाल अंगारे रक्खे। ऐसी घोरतम यातना के समय भी गजसुकुमाल ने भगवान् के यश का पूर्ण रूप से

संरक्षण किया। वे एक दृष्टि सोमल की ओर डाल देते, तो सोमल वहाँ ठहर नहीं सकता था। यही नहीं, संभव है वह भयभीत होकर अपने प्राण आप ही गँवा बैठता। पर नहीं, गजसुकुमाल मुनि ने और ही कुछ सोचा। उनका ध्यान अत्यन्त उच्च श्रेणी पर जा पहुँचा था। जिस शरीर को यह रोमाञ्च-कारिणी यातना पहुँचाई जा रही थी, उस शरीर से उन्होंने मानों अपना समस्त सम्बन्ध त्याग दिया था।

यदि गजसुकुमाल मुनि सोमल से पूछते कि मैंने तेरा क्या अपराध किया है, जिससे तु मेरे सिर पर पाल बाँध कर अंगार रखना चाहता है, तो दुरात्मा सोमल क्या मुनि का कोई अपराध बता सकता था ?

'नहीं।'

सोमल की कन्या के साथ विवाह करना या न करना, उनकी अपनी मर्जी की बात थी। लेकिन मुनिराज गजसुकुमाल ने संसार के दावे या फरियाद का विचार नहीं किया।

अगर आपको कहीं शीघ्र पहुँचना है, शीघ्र पहुँचने से किसी विशेष लाभ की आशा है। पर शीघ्र पहुँचने का कोई साधन नहीं मिल रहा है। इसी समय कोई पुरुष मोटरकार लेकर आपके पास आता है और आपको अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देता है। इस अवस्था में आपको हर्ष होगा या शोक ?

'हर्ष।'

उस समय आपके अन्तःकरण में मोटरकार लाने वाले पुरुष के प्रति कृतज्ञता का भाव उदित होगा। आप उसे परमोपकारी मानेंगे।

जिस प्रकार अचानक मोटर में बैठकर लक्ष्य स्थान पर शीघ्र पहुँच जाने के कारण आपको प्रसन्नता का अनुभव हो सकता है, उसी प्रकार की प्रसन्नता गजसुकुमाल मुनि को उस समय हुई थी। गजसुकुमाल मुनि की आन्तरिक अभिलाषा थी कि मैं सदा के लिए शरीर से मुक्त होकर सिद्धिलाभ करूँ। पर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करने का कोई साधन न था। इतने में अचानक ही सोमल ब्राह्मण आ पहुँचा और उसने उनके सिर पर अंगारे रख दिये। इस साधन के द्वारा गजसुकुमाल मुनि की अभिलाषा पूर्ण हुई। उन्होंने शीघ्र ही सिद्धिलाभ किया। इसी कारण गजसुकुमाल मुनि ने सोमल को अपना उपकारक मित्र माना। यद्यपि सोमल ने जैसा दुष्कर्म किया था, वैसा कोई अबोध बालक या हत्यारा भी नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी भावना मुनि को घोर कष्ट पहुँचाने की थी—उन्हें मोक्ष में पहुँचाने की नहीं थी। जिन गजसुकुमाल मुनि की मुद्रा निर्वैर थी—जिनके रोम-रोम से साम्यभाव के स्रोत बहते थे, उनके सिर पर अंगारे रखने का कौन साहस कर सकता था! किन्तु गजसुकुमाल मुनि जिस प्रकार लोकोत्तर साम्यभावी थे, सोमल उसी प्रकार लोकोत्तर कषायी—हत्यारा था। फिर भी गजसुकुमाल मुनि ने उसे वीर कह कर अपना मित्र माना।

ऐसी कोई परिस्थिति उपस्थित होने पर आप कहेंगे— 'कर्म की गति है।' लेकिन गजसुकुमाल मुनि कहते हैं—'धर्म की गति है!'

अगर कोई दरिद्र दामाद अपनी ससुराल जाए और उसे

एक अच्छी सुन्दर और कीमती पगड़ी मिल जाय तो उसे कितनी खुशी होगी ?

'खूब !'

गजसुकुमाल मुनि को भी वैसी ही खुशी है। वे कहते हैं—यह अग्नि जलाने वाली नहीं है, किन्तु मेरे आत्मा को प्रकाशित करने वाली सिद्ध ज्योति है। अगर वह जलाने वाली भी है तो मुझे नहीं, वरन् अनादि काल से आत्मा के साथ चिपटे हुए कर्मों को भस्म करने वाली है।

भावना के अनुसार सिद्धि प्राप्त होती है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है। मुनिराज गजसुकुमाल यदि निर्णय कराने जाते, तो उन्हें वह फल न मिलता, जो फल निर्णय न कराने से मिला। अगर गजसुकुमाल मुनि निर्णय कराने बैठते तो फिर भगवान् नेमिनाथ किसके बल पर गर्जते ? भगवान् का यश कैसे रहता ?

आज श्रीकृष्ण महाराज अपने महल से निकल कर नये मुनिराज के दर्शन करने की अभिलाषा से चले। समस्त यदुवंशियों के मन उन्हें देखने के लिए लालायित हो रहे थे। हृदय में उत्सुकता थी और आँखें उनके रूप का पान करने के लिए व्याकुल हो रही थीं। सभी को बड़ी भारी उमंग थी। इस प्रकार उत्सुकता और उमंग से भरे हुए श्रीकृष्ण, देवकी और अन्यान्य समस्त यदुवंशी लोग भगवान् नेमिनाथ की सेवा में उपस्थित हुए। सब ने उत्सुकता भरे नेत्र इधर-उधर, चारों ओर दौड़ाए, पर गजसुकुमाल मुनि के कहीं दर्शन न हुए। महाराज श्रीकृष्ण ने

भगवान् नेमिनाथ से पूछा—'गजसुकुमाल मुनि के दर्शन नहीं हो रहे हैं। वे महात्मा कहाँ हैं?' भगवान् नेमिनाथ ने गंभीर वाणी से कहा—'उन्होंने अपना अर्थ सिद्ध कर लिया है।'

श्रीकृष्ण महाराज—एक ही रात में उन्होंने अर्थ-लाभ कर लिया! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। प्रभो! इतनी जल्दी अर्थ-सिद्धि उन्हें कैसे हो गई?

भगवान् नेमिनाथ—उन्हें सहायता मिल गई थी।

श्रीकृष्ण—भगवन्! कैसी सहायता?

भगवान्—जैसी सहायता तुमने उस बूढ़े आदमी को पहुँचाई थी, वैसी ही सहायता गजसुकुमाल मुनि को देने वाला एक पुरुष उन्हें मिल गया।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि मुनि का घात करने वाले, अत्यन्त क्रूरकर्मा सोमल ब्राह्मण को भगवान् ने गजसुकुमाल मुनि का सहायक क्यों कहा है? क्या उसने मुनि पर दया की थी? क्या वह मुनिराज का हितैषी था? नहीं, तो भगवान् नेमिनाथ ने उसे सहायक किस उद्देश्य से कहा है?

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

साधारण जनता के लिए जो घोर अंधकार से भरी रात है, वही ज्ञानियों के लिए चमकता हुआ दिवस है।

मुनिहन्ता और क्रूरकर्मा सोमल को भगवान् ने गजसुकुमाल मुनि का सहायक क्यों बतलाया है? उसे उपकारी किस लिए कहा है? यह रहस्य स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को समझे बिना नहीं समझा जा सकता।

प्रत्येक पदार्थ अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। इन समस्त शक्तियों के दो वर्ग किये जा सकते हैं—घातक शक्ति और रक्षक शक्ति। मगर इन शक्तियों के देखने में दृष्टिभेद होता है। अज्ञानी लोग जिस शक्ति को घातक शक्ति मानते हैं, उसी को ज्ञानी जन रक्षक शक्ति मानते हैं। भगवान् नेमिनाथ ने इसी के अनुसार सोमल ब्राह्मण को गजसुकुमाल मुनि का घातक नहीं वरन् सहायक माना।

सच्चा ज्ञान वह है जो अपना दावा आप ही चुकाता है—दूसरे पर नहीं डालता। जो अज्ञान है वही अपनी बात दूसरों पर डालता है। इस दृष्टिभेद के कारण सोमल सहायक कहलाया। सोमल अपनी मलीन और क्रूर भावना के कारण मुनि-घातक है, फिर भी गजसुकुमाल मुनि की अपेक्षा से उसे सहायक कहा गया है।

मित्रो! नेमिनाथ भगवान् की लज्जा गजसुकुमाल मुनि ने पने अलौकिक क्षमाभाव के द्वारा रखी। क्या आप धर्म की ाज न रक्खेंगे? अगर आप क्षमा द्वारा धर्म की लाज रक्खेंगे ो धर्म आपकी रक्षा करेगा—आपका कल्याण होगा। अतएव पावन परमात्मा के प्रति प्रणत भाव से यही प्रार्थना करो —प्रभो! वस्तुतः हमारा अहित करने वाला अन्य कोई नहीं है। हित करने वाला हमारे अन्तःकरण में ही विद्यमान है। अगर हितकर्त्ता अन्तःकरण मे न होता तो अन्तःकरण में ही क्लेश का ादुर्भाव क्यों होता? जहाँ बीज बोया जाता है वहीं अंकुर उगता । अतएव अपने क्लेशों का कारण अपना आत्मा ही है। इस

प्रकार बहिर्दृष्टि त्याग कर अन्तर्दृष्टि से देखोगे तो तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा। तुम किसी भी घटना के लिए दूसरों को उत्तर-दायी ठहराओगे तो राग-द्वेष होना अनिवार्य है; अतएव उसके लिए अपने आप उत्तरदायी बनो। उसे अपने ही कर्मों का फल समझो। इस प्रकार तुम निष्पाप बनोगे—तुम्हारा अन्तःकरण समता की सुधा से आप्लावित रहेगा। कल्याण का यही राजमार्ग है।

महावीर भवन, देहली
ता० ४-५-३१
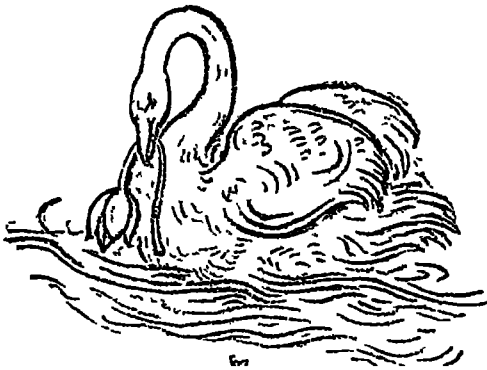
पवित्र प्रेरणा

प्रार्थना

आज म्हारा सम्भव जिनजी रा, हित चित सूं गुण गास्यां ॥
मधुर मधुर स्वर राग अलापी, गहरा शब्द गुंजास्यां ॥

एक मैं स्तुति बोलता हूँ और एक छोटा बालक भी बोलता है, लेकिन दोनों के स्तुति बोलने में क्या अन्तर है, इस पर ध्यान दो। स्तुति का नाम ही प्रार्थना है। स्तुति के द्वारा कवि ने प्रार्थना के भाव प्रकट किये हैं। ईश्वर की प्रार्थना के लिए हृदय में जो भावना उद्भूत हुई, उसे व्यक्त करने के लिए कवि ने स्तुति का रूप दे दिया है। इस प्रकार एक कवि ने इस स्तुति को शाब्दिक रूप प्रदान किया है, पर इसे दूसरे की ही न समझिए। आप यह देखिए कि इस स्तुति में प्रकट किये गये भावों के साथ अपनी आत्मा का कितना संबंध है? शब्द स्तुति का

शरीर है और भाव उसकी आत्मा है। अतएव स्तुति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा का संबंध स्थापित करना चाहिए। सोना किसी का हो और कहीं से आया हो, यदि वह कसौटी पर ठीक उतरता है तो उसे शुद्ध एवं ग्राह्य माना जाता है। इसी प्रकार स्तुति किसी की भी बनाई हुई क्यों न हो, यदि उसके भाव आत्मा की कसौटी पर खरे उतरते हैं तो उसे स्वीकार करना चाहिए।

अज्ञान पुरुष बुरी वस्तु को शीघ्र ही अपना लेते हैं और अच्छी वस्तु को ठुकरा देते हैं। ज्ञानी-जन ऐसा नहीं करते। वे चाहे किसी की बनाई हुई प्रार्थना हो, और चाहे किसी भी भाषा में हो, उसे आत्मा की कसौटी पर ठीक उतरने मे ग्रहण कर लेते हैं। वे अगर साधु हैं तो यह नहीं सोचते कि इस स्तुति को एक गृहस्थ ने शब्द-बद्ध किया है तो हम साधु होकर इसे कैसे ग्रहण करें? अगर वे गृहस्थ हैं तो यह नहीं सोचते कि साधु द्वारा निर्मित स्तुति का पाठ हम क्यों करें? अतएव वह स्तुति निस्सन्देह ग्राह्य है, जो आत्महित-साधन रूप है।

मैंने अभी जो स्तुति पढ़ी है, इसके रचयिता विनयचंदजी गृहस्थ थे। लेकिन इस स्तुति में मुझे इतने आनन्द की अनुभूति होती है कि छोड़ने को जी नहीं चाहता। कष्ट के समय भी, विनयचंदजी की स्तुति से मुझे शान्ति प्राप्त होती है। यही कारण है कि मैं यह स्तुतियाँ वारम्वार वोलता रहता हूँ। विनयचंदजी की यह चौवीस स्तुतियाँ मेरे लिए अध्यात्म-शास्त्र के चौवीस अध्यायों के समान हो रही हैं।

आज मैंने संभवनाथ भगवान् की प्रार्थना की है। कवि ने इस स्तुति में कहा है—

> आज म्हारा संभव जिनजी रा,
> हित चित से गुण गास्यां हो राज।
> मधुर मधुर सुर राग अलापा,
> गहरा शब्द गुंजास्यां हो राज ॥आज०॥
> मन वच काय लाय प्रभु सेती,
> निशदिन सांस उसांसा ॥

इस स्तुति में 'आज मेरे संभवनाथ' कह कर यह कहा है कि मैं उसके गुण गाऊँगा। अर्थात् आज मैं अपने संभवनाथ के गुण गाऊँगा, दूसरे के संभवनाथ के गुण नहीं गाऊँगा। अभी मैंने कहा है कि स्तुति में मेरे-तेरे का भेद नहीं रखना चाहिए। पर इस स्तुति में मेरे-तेरे का भेदभाव रह गया है, इसका समाधान क्या है? साथ ही एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि इस स्तुति वाले संभवनाथ अगर 'मेरे' हैं तो दूसरे के संभवनाथ कौन से हैं? कवि कहते हैं—आज गुण गाऊँगा। सो 'आज' में क्या विशेषता है? आज कहने का रहस्य क्या है?

जब तक इन सब प्रश्नों का समाधान न हो जाय तब तक स्तुति का मर्म नहीं समझा जा सकता और मर्म समझे बिना उसके प्रति प्रेम-आकर्षण नहीं हो सकता। बिना प्रेम के, ऊपरी भाव से गाई जाने वाली स्तुति से कदाचित् संगीत का लाभ हो सकता है, पर आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता। स्तुति तन्मयता के बिना तोता का पाठ है।

स्तुति में 'म्हारा' (मेरा) कहा है, तो पता लगाना चाहिए कि वास्तव में 'म्हारा' कौन है ? अगर हम 'मैं' या 'मेरा' का पता पा जाएँ तो अनायास ही यह समझ लेंगे कि संभवनाथ को 'मेरा' क्यों कहा है ?

आप में 'अपने' को कोई जब तलक पाता नहीं।
तब तलक वह मोक्ष को हर्गिज कदम धरता नहीं ॥

आप लोग 'मैं' का अर्थ करते हैं—

ये मम देश विलायत है अरु,
ये मम बांधव ये मम नाती।

यह मेरा देश है, यह मेरा घर है, यह मेरा पुत्र है, बस इसी में आपका 'मैं' समाप्त हो जाता है। लेकिन विचार करो कि जिसे आप 'अपना' कहते है वह आपका है भी या नहीं ? आप तो सारे देश को ही अपना कह रहे हैं पर सरकार ने आपका एक झौंपड़ा भी अपना रहने दिया है ? आप तो चाहते हैं हम गृह-कर न दें, लेकिन आप ऐसा करेंगे तो क्या सरकार आपको गृह में रहने देगी ? वह निकाल बाहर न करेगी ? फिर घर आपका कैसे हुआ ? वास्तव में घर न तुम्हारा है, न सरकार का है। वह तो ईंट, चूना, पत्थर आदि का बना हुआ है। वह तुम्हारा कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार जब आप अपने आपको ही नहीं पहचान सकते, तो और को क्या पहचानोगे ?

लोग बड़े अभिमान के साथ कहते हैं—यह मेरे हाथी हैं। यह मेरे घोड़े हैं। यह मेरी मोटर है। लेकिन क्या वास्तव में ही

हाथी, घोड़े और मोटर तुम्हारी है ? जिसकी वह मोटर कही जाती है, वह उसी पर चढ़ जाती है; फिर भी वह मोटर उसकी है ? सत्य तो यह है कि हाथी, घोड़े आदि कोई भी पदार्थ तुम्हारा नहीं है।

जो तुम्हारा है, वह तुमसे कभी विलग नहीं हो सकता। जो वस्तु तुमसे विलग हो जाती या हो सकती है, वह तुम्हारी नहीं है। पर-पदार्थों के साथ आत्मीयता का भाव स्थापित करना महान् भ्रम है। इसी भ्रमपूर्ण आत्मीयता के कारण जगत् अनेक कष्टों से पीड़ित है। अगर 'मैं' और 'मेरी' की मिथ्या धारणा मिट जाय तो जीवन में एक प्रकार की अलौकिक लघुता, निरुपम निस्पृहता और दिव्य शान्ति का उदय होगा।

हाथी, घोड़ा, महल, मकान आदि आपके नहीं हैं, यह बात अनाथी मुनि और महाराज श्रेणिक के संवाद से भलीभाँति समझी जा सकती है।

एक बार मगध का अधिपति श्रेणिक मंडिकुक्ष नामक उद्यान में विहार करने के लिए आया। संयोगवश अनाथी मुनि भी उसी उद्यान में विराजमान थे। राजा श्रेणिक की मुनि पर दृष्टि पड़ते ही वह उनकी ओर इस प्रकार आकर्षित हो गया जैसे चुम्बक से लोहा आकर्षित होता है। मुनि का दिव्य रूप और उनके मुख पर विराजमान तेज देखकर वह चकित रह गया। रूप बनावटी है या वास्तविक है, यह तो मुखाकृति देखते ही पता चल जाता है। बनावटी रूप छिपा नहीं रहता। मुनि के मुख पर जो तेज और रूप था, वह

आन्तरिक तेज का प्रतिबिम्ब था। उसे देखकर राजा को आश्चर्य हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा—'यह मुनि कैसे रूपवान हैं! रूप का इतना धनी तो मैंने आज तक किसी को नहीं देखा।' यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रेणिक स्वयं अत्यन्त सुन्दर था। उसकी सुन्दरता के विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार वह वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर जब भगवान् महावीर के समवशरण में गया था, तब उसका रूप-लावण्य देखकर कई साध्वियाँ भी मुग्ध हो गई थीं और उन्होंने ऐसे सुन्दर पुरुष की प्राप्ति का निदान किया था। इतने अधिक सौन्दर्य से सम्पन्न श्रेणिक भी मुनिराज का रूप देखकर चकित रह गया; इससे मुनिराज की रूप-सम्पत्ति का अनुमान किया जा सकता है

अन्ततः राजा श्रेणिक मुनिराज के समीप गया। वह उनके बाह्य एवं आन्तरिक गुणों का आकलन कर चुका था, अतएव उसने मुनिराज के चरणों में प्रणाम किया। उनकी प्रदक्षिणा की और न मुनिराज से अधिक दूर, न अधिक पास, यथोचित स्थान पर बैठ गया। तत्पश्चात् अत्यन्त नम्रतापूर्वक राजा ने कहा—'प्रभो! आज्ञा हो तो मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ।' मुनिराज की स्वीकृति प्राप्त करके उसने कहा—'महाराज! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने भर जवानी में दीक्षा क्यों धारण की है? इस उम्र में तो भोगोपभोग भोगने में रुचि होती है, फिर आप विरक्त होकर चारित्र का पालन करने के लिए क्यों निकल पड़े हैं? संसार के भोग भोगने योग्य इस अवस्था में आप योग की आराधना करें, यह ठीक नहीं जान पड़ता। अगर आप वृद्ध होते तो मुझे इतना कुतूहल न होता और आपकी योग-साधना

भी समझ में आ सकती थी। पर युवावस्था में आपने संयम धारण किया है, इसलिए मैं यह प्रश्न पूछने के लिए उद्यत हुआ हूँ। यदि आपकी भाँति सभी लोग इस तरुण अवस्था में संयम धारण करने लगेंगे तो गजब हो जायगा। मैं यह प्रश्न प्रत्येक संयमी से नहीं पूछता। पर मेरे सामने जिसने युवावस्था में संयम धारण किया हो, उससे यह पूछना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। अगर मैं अपने कर्त्तव्य का निर्वाह न करूँ, तो राजा कैसे कहला सकता हूँ ? अनुचित और अस्थानीय कार्य को रोक देना राजा का कर्त्तव्य है। अतः कृपा कर यह समझाइए कि आप बुद्धिमान् होते हुए भी इस वय में संयम की साधना के लिए क्यों प्रवृत्त हुए हैं ? अगर आपने किसी कष्ट के कारण या किसी के बहकाने से सयम ग्रहण किया हो, तो भी निःसंकोच होकर कह दीजिए, जिससे मैं आपका कष्ट निवारण करने में सहायक बनूं।

राजा श्रेणिक का प्रश्न सुन कर मुनिराज ने उत्तर दिया—'महाराज, मैं अनाथ था। मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं था। मेरा पालन कोई कर नहीं सकता था। इसलिए मैंने संयम धारण किया है।'

मुनि के इस संक्षिप्त उत्तर से यह समझा जा सकता है कि वह कोई भटकने वाला व्यक्ति होगा। उसे खाने-पीने और रहन-सहन की सुविधा न होगी। उसकी रक्षा करने वाला कोई न होगा; इसलिए उसने दीक्षा ले ली होगी। अथवा —

नारि मुई घर सम्पत नासी।
मूंड मुडाय भये सन्यासी॥

इस कथन के अनुसार या तो स्त्री का देहान्त हो गया होगा अथवा सम्पत्ति नष्ट हो गई होगी। ऐसे ही किसी कारण से मूंड मुड़ा कर दीक्षा ले ली होगी !

राजा को भी मुनि का उत्तर सुन कर आश्चर्य हुआ। उसने सोचा होगा—अभी तो ऐसा कलियुग नहीं आया कि कोई दयालु अनाथ की रक्षा न करे। फिर यह मुनि तो इस प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न हैं, यह अनाथ कैसे हो सकते हैं ? इनका कथन तो ऐसा मालूम होता है, जैसे कल्पवृक्ष कहे कि मेरा कोई आदर नहीं करता, चिन्तामणि कहे—कोई मुझे रखता नहीं है, या कामधेनु कहे—मुझे कोई खड़ा होने की भी जगह नहीं देता। जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु का यह कथन असंभव प्रतीत होता है, इसी प्रकार इन मुनि की बात भी कुछ समझ में नहीं आती। जिनके शरीर में शंख, चक्र, पद्म आदि शुभ लक्षण विद्यमान हैं, उनका कोई नाथ न हो, उनकी रक्षा करने वाला कोई न हो, उनका कोई सहायक मित्र भी न हो, यह कैसे माना जा सकता है ?

कवि कहते हैं—हंस से कदाचित् विधाता रुष्ट हो जाय तो उसके रहने का कमल-वन नष्ट कर सकता है। उसे मानस-सरोवर में रहने में बाधा पहुँचा सकता है। पर उसकी चोंच में दूध और पानी को अलग-अलग करने का जो गुण विद्यमान है, वह तो नहीं छीन सकता !

इस प्रकार मन ही मन सोचकर राजा ने कहा—'मुनिराज ! आप ऐसी असाधारण ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी अपने को

अनाथ कहते हैं। यह बात मानने को जी नहीं चाहता। मैं अधिक चर्चा करना नहीं चाहता। आप मेरे साथ चलिए, मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे राज्य में कोई कमी नहीं है।'

आपको भी राजा के समान विवेकशील बनना चाहिए। अगर कोई बात आपकी समझ में न आवे तो दूसरे पर झटपट आक्षेप कर डालना उचित नहीं है। पहले वास्तविकता को समझने का नम्रता-पूर्वक प्रयास करो, फिर यथोचित कर्त्तव्य का निर्णय करो।

श्रेणिक मुसकिरा कर फिर बोला—'हे भदन्त ! मैं आपसे कुछ अधिक न कहते हुए बस यही कहना चाहता हूँ कि आप संकोच न करें। आपने अनाथता के दुःख से प्रेरित होकर संयम धारण किया है, मैं उस अनाथता का दुःख दूर करने के लिए आपका नाथ बनता हूँ। जब मैं स्वयं नाथ बन जाऊँगा, तो आपको किस चीज की कमी रहेगी ? अतएव मुनिराज, चलिए। संयम त्याग कर भोगोपभोग का सेवन कीजिए। आपको सब प्रकार की सुख-सुविधा प्राप्त होगी।

राजा का यह कथन सुन कर मुनि को आश्चर्य हुआ। इधर मुनि सोच रहे थे—'बेचारा राजा स्वयमेव अनाथ है, तो फिर मेरा नाथ कैसे बनेगा ?' उधर राजा सोचता था—'ऐसे प्रशस्त लक्षणों से सम्पन्न ऋद्धिशाली पुरुष का नाथ बनने में कौन अपना सौभाग्य न समझेगा ?'

अन्त में मुनिराज ने गंभीर होकर कहा—'राजन् ! तुम स्वयं अनाथ हो, तो दूसरे के नाथ कैसे बनोगे ? जो स्वयं

दिगम्बर है—वस्त्ररहित है, वह अपने दान से दूसरों का तन कैसे ढँकेगा ?

शरीर भोगोपभोग के लिए है, यह विचार आते ही आत्मा गुलाम एवं अनाथ बन जाती है। आप समझते हैं—अमुक वस्तु हमारे पास है, अतएव हम उसके स्वामी हैं। पर ज्ञानी-जन कहते हैं—अमुक वस्तु तुम्हारे पास है, इसीलिए तुम उसके गुलाम हो—अतएव अनाथ हो। एक अज्ञान पुरुष सोने की कंठी पहन कर घमंड से चूर हो जाता है। वह दिखाना चाहता है कि मैं सोने का स्वामी हूँ, पर विवेकी पुरुष कहते हैं—'वह सोने का गुलाम है।' अगर वह सोने का गुलाम न होता तो सोना चला जाने पर उसे रोना क्यों पड़ता है ? वह सोने का आश्रय क्यों लेता है ? जहाँ पराश्रय है वहीं गुलामी है, जहाँ गुलामी है, वहीं अनाथता है।

मुनि ने राजा को अनाथ कहा। उसका भावार्थ यही है कि तुम जिन वस्तुओं के कारण अपने को नाथ समझते हो, उन्हीं वस्तुओं के कारण वास्तव में तुम अनाथ हो। जब तुम स्वयं अनाथ हो, तो दूसरे के नाथ कैसे बन सकते हो ? इस प्रकार जिन वस्तुओं पर तुम्हारा स्वामित्व नहीं है, वे वस्तु अगर दूसरों को प्रदान करोगे तो वह चोरी कहलाएगी, उसके लिये दंड का पात्र बनना पड़ेगा।

मुनिराज के इस कथन से राजा के विस्मय का ठिकाना न रहा। मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति श्रेणिक अनाथ है ! यह कल्पना ही उसे आश्चर्यजनक प्रतीत हुई। उसने

सोचा—मुनि मुझे अनाथ कहते हैं, यह मेरे लिए अश्रुतपूर्व है। आज तक मुझे किसी ने अनाथ नहीं कहा। मुझे घर-बार छोड़कर बाहर भटकना पड़ा था—मुसीबतों में मारा-मारा फिरता था. उस समय भी किसी ने मुझे अनाथ नहीं कहा था। मैंने उस गाढ़े अवसर पर भी अनाथता अनुभव न की थी, वरन् अपने पुरुषार्थ पर अवलंबित रह कर अपना काम निकाला था। संभव है, मुनि को मेरे वैभव का पता न हो। इनकी आकृति से जान पड़ता है कि यह मुनिराज महान् ऋद्धि के धनी हैं, तो संभव है इनकी दृष्टि में मैं अनाथ जँचता होऊँ।

राजा ने कहा—महाराज ! मैं मगध का अधीश्वर हूँ। मैं सम्पूर्ण मगध का पालन-रक्षण करता हूँ। मेरे राज्य में अनेक हाथी, घोड़े आदि रत्न विद्यमान हैं। बड़े-बड़े भाग्यशाली राजा मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं और अपनी कन्याएँ मुझे देकर अनुग्रहीत होते हैं। मेरी आज्ञा का अनादर करने का किसी में साहस नहीं है। ऐसी स्थिति में आप मुझे अनाथ क्यों कहते हैं ? मुनि होकर, मुझ सरीखे महान् ऐश्वर्य सम्पन्न सम्राट् को आप अनाथ कहते हैं। यह मिथ्याभाषण आश्चर्य उत्पन्न करता है। सूर्य प्रकाश न दे यह आश्चर्यजनक है, इसी प्रकार मुनि मिथ्याभाषण करें यह भी आश्चर्यजनक है। मुनि कभी असत्य का प्रयोग नहीं करते। मुनिवर ! आपको असत्य न कहना चाहिए। आपके कथन का मर्म क्या है, कृपया स्पष्ट समझाइए।'

मुनि ने उत्तर दिया—'राजन ! आप सनाथ-अनाथ का भेद नहीं

जानते। इसी कारण आप यह कह रहे हैं और आश्चर्य में पड़े हुए हैं। मैं आपको सनाथ–अनाथ का स्वरूप समझाता हूँ। शान्त-चित्त से सुनिए। यह मेरे स्वानुभव की बात है, इसमें संदेह के लिए लेशमात्र अवकाश नहीं है।

'कौशाम्बी नाम की नगरी में मेरे पिता रहते थे। उनके पास प्रचुर धन-सम्पत्ति थी। मेरा लालन-पालन अत्यन्त कुशलता-पूर्वक किया गया था। मुझे किसी चीज की कमी न थी। मेरी बाल-अवस्था बड़े आनन्द से व्यतीत हुई। जब मैं तरुण-अवस्था में आया तो सुयोग्य कन्या के साथ मेरा विवाह-संबंध हुआ। आप जिस अवस्था को भोग भोगने योग्य कहते हैं, उसी अवस्था में, आपके बताये हुए समस्त साधन विद्यमान होने पर भी मेरी क्या दशा हुई सो ध्यान से सुनिये। युवावस्था में मेरी आँखों में रोग उत्पन्न हो गया। उसके कारण मुझे तीव्र वेदना होने लगी। नेत्र-पीड़ा के साथ ही साथ मेरे सम्पूर्ण शरीर में दुःसह संताप फूट पड़ा। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों सारा शरीर आग में रख दिया गया है।

राजन्! आप शासन के संचालक हैं। अगर आपके सामने कोई किसी की आँखों में सुई भोंक दे या किसी का शरीर जला दे तो आप क्या करेंगे?'

राजा ने कहा—'मेरे राज्य में किसी ने अपराध किया हो और पता लगने पर भी मैंने अपराधी को दंड न दिया हो, यह आज तक नहीं हुआ।'

मुनि—'राजन्! बाहर के अपराधी से आप मेरी रक्षा

कर सकते थे, पर जिस शैतानी रोग ने मुझ पर आक्रमण किया था, उससे मुझे कौन बचा सकता था ? क्या आपके राज्य में रोग का आक्रमण नहीं होता ? क्या आप उस आक्रमण का सामना करने के लिए कभी प्रयत्नशील हुए और प्रजा की रोग से रक्षा की है ? क्या अब आपके राज्य में प्रजा रुग्ण नहीं होती ? अगर रोग से आप अपने प्रजाजनों की रक्षा नहीं कर सकते तो उनके नाथ कैसे कहला सकते हैं ? इस दृष्टि से विचार करो तो प्रजा का नाथ होना तो दूर रहा, आप अपने खुद के 'नाथ' भी नहीं हैं ! मैं इसी प्रकार का अनाथ था। अगर यह कहा जाय कि रोग से किस प्रकार रक्षा की जा सकती है ? वह तो अपने हाथ की बात नहीं है। तो फिर नाथ होने का दावा क्यों करना चाहिए ? नम्रतापूर्वक अपनी अनाथता स्वीकार करनी चाहिए, जिससे सनाथ बनने का उपाय सूझ पड़े और उसके लिए प्रयत्न भी किया जा सके।

राजन् ! तुम बाहर के शत्रुओं को देखते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे हैं उन्हें क्यों नहीं देखते ? भीतर के शत्रु ही तो असली शत्रु हैं। उन्हें जो जीत नहीं सकता, वह नाथ कैसा? अतएव तुम स्वयं भी अनाथ हो।'

राजा—'आपको बड़ी असह्य वेदना थी ?'

मुनिराज—'मैं क्या बताऊँ! आँखों में इतनी तीव्र वेदना थी जैसे कोई तीक्ष्ण भाला लेकर उनमें चुभा रहा हो। आप विचार कीजिए कि उस समय जो शत्रु मुझे घोर वेदना पहुँचा रहा था उसे पराजित न कर सकने वाला सनाथ है या अनाथ है ? एक

ओर मेरी आँखों में पीड़ा थी, दूसरी ओर दर्द के मारे कमर टूटी जाती थी। इसके अतिरिक्त, जिसे उत्तमांग कहते हैं और जो ज्ञान का केन्द्रभूत मस्तिष्क है, उसमें भी इतनी पीड़ा थी मानो इन्द्र वज्र का प्रहार कर रहा है। इस प्रकार मेरा सारा शरीर पीड़ा से छटपटा रहा था।

आप कह सकते हैं कि उस वेदना का प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सहायता लेनी चाहिए थी। पर जितने बड़े-बड़े चिकित्सकों का उस समय पता चला, सब से चिकित्सा कराई गई। दवा में किसी प्रकार की कोरकसर नहीं की गई। नाना प्रकार की चिकित्सा-प्रणालियों का अवलम्बन लिया गया, पर फल कुछ भी नहीं निकला। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित आयुर्वेदज्ञ ऑपरेशन करने में कुशल, मंत्र-विद्या-विशारद लोग अपना कौशल दिखाते-दिखाते थक गये। वेदना नहीं मिटी, सो नहीं मिटी। अब कहो मैं उस समय सनाथ था ?

राजन् ! तुमने जिस शरीर की प्रशंसा की है और जिस शरीर को भोग के योग्य बताया है, उसी शरीर में यह पीड़ा उत्पन्न हुई थी। उस समय मुझे यह विचार आया कि मैं इस शरीर के कारण ही इतना कष्ट भुगत रहा हूँ। अगर मुझे विष मिल जाय तो विष-पान करके इस मार्मिक पीड़ा से मुक्त होऊँ। मगर फिर सोचा—विषपान करने से भी शरीर का सर्वथा अन्त न होगा। शरीर-उत्पत्ति के कारणभूत कर्म जब तक विद्यमान हैं तब तक एक शरीर का अन्त होने से क्या लाभ है ? एक के पश्चात् दूसरा शरीर प्राप्त होगा और वह भी इसी प्रकार का

होगा। शरीर की पद परम्परा जब तक नहीं मिट जाती तब तक एक शरीर का त्याग करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त मैंने सोचा—जिस शरीर के कारण मुझे इतने कष्ट भोगने पड़ रहे हैं, उस शरीर का नाथ मैं अपने आप को क्यों मानूँ ? यह खोटी मान्यता ही सब अनर्थों की जड़ है। जब शरीर का ही यह हाल है तो आत्मीय जनों का तथा धन-दौलत का क्या ठिकाना है ? उसका कोई नाथ कैसे हो सकता है ? मुझे इस घटना से शरीर और आत्मा के पार्थक्य का भान हुआ। मैंने समझा—इस पीड़ा का कारण स्वयं मैं हूँ। अज्ञान के कारण मैं पर-पदार्थों को आत्मीय मान रहा हूँ। मैं अपने शरीर का भी नाथ नहीं हूँ, अगर शरीर का नाथ होता तो उस पर मेरा अधिकार होता। मेरी इच्छा के बिना वह रुग्ण क्यों होता ? वेदना का कारण क्यों बनता ? जीर्ण क्यों होता ? यह सब शरीरधारी की इच्छा के विरुद्ध होता है; अतएव यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने शरीर का नाथ नहीं है।"

मित्रो ! अनाथी मुनि की कथा विस्तृत और भावपूर्ण है। उसे यहाँ पूर्ण रूप मे नहीं कहा जा सकता। 'मैं' और 'मेरा' वास्तव में क्या है, पर स्पष्ट करने के लिए अनाथी मुनि की कथा उपयोगी है। इससे यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि पर-पदार्थों में ममत्व धारण करना भ्रममात्र है।

भगवान् संभवनाथ की स्तुति में 'आज' पद भी अभिप्राय-सूचक है। कवि कहते हैं—प्रभो ! मैं अब तक आपको नहीं अपना सका। क्योंकि मैं दुनिया की दौलत को और कुटुम्ब-परि-

वार को अपना मानता रहा। एक म्यान मे दो तलवारें कैसे समा सकती हैं ? बाह्य पदार्थों को अपनाया तो आपको न अपना सका। आज मैंने समझ पाया है कि वास्तव में अपना कौन है ? अब, जब आपके साथ आत्मीयता स्थापित हो गई है तो प्रतीत होता है कि जैसा शुद्ध तू है वैसा ही शुद्ध मैं भी हूँ।

य. परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्तथा।
अहमेव मयाऽऽराध्यः, नान्य कश्चिदिति स्थितिः॥

आज मेरी यह अवस्था है कि–जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। अतएव मेरे द्वारा मैं स्वयं ही आराधना करने योग्य हूँ, मुझसे भिन्न—पर-पदार्थ आराधन करने योग्य नहीं है।

अतएव अशुद्धता का समूल नाश करने के लिए, पूर्ण विशुद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से उसी के गुण गाऊँगा जो पूर्ण शुद्ध है और जो मुझसे भिन्न नहीं—वरन् वास्तव में 'म्हारा' है।

जब तक मैं धन-सम्पदा, घर-द्वार आदि में रचा–पचा रहता था तब तक तो अशुद्ध व्यक्तियों को ही अपना 'संभवनाथ' मान रक्खा था—उन्हें ही अपना नाथ समझता था। लेकिन अब मैं इन के चक्कर से निकल गया हूँ। ऐसी स्थिति में जो इस चक्कर में पड़े हैं उन्हें ही अपना नाथ क्यों मानूं ?

न दारे मगेरस्त फरियाद रस।
तुही आशियाँरा ख़ता बख्श बख्श॥

मैं किसी दूसरे को अपनी फरियाद नहीं सुनाता। बस, एक

मात्र तू ही मेरी फरियाद सुनने वाला और मेरी मुराद पूरी करने वाला है। मैं तुझे ही मानूंगा, दूसरे किसी को मानने की मुझे क्या जरूरत है ? मैं दूसरे को अपनी फरियाद क्या सुनाऊँ ? जो स्वयं लोभ का कुत्ता बना हुआ है-स्वयं सब कुछ हड़प जाने की भावना रखता है, वह मेरी मनमानी मुराद क्या पूरी करेगा ?

इस प्रार्थना की भाषा फारसी है, लेकिन इसका अर्थ वही है जो संभव जिनजी की प्रार्थना में प्रकट किया गया है। संभवनाथ भगवान् की प्रार्थना में, प्रभु के प्रति जो एकनिष्ठता का भाव है, वही भाव यहाँ दूसरे शब्दों में विद्यमान है। तुलसीदास ने भी कहा है—

जासों दीनता कहौं मैं देख्यो दीन सोई।
दीन को दयालु दानी दूसरा न कोई॥

अर्थात्—हे प्रभो ! दीन का दुःख दूर करने वाला तुझ-सा दानी दूसरा नहीं दिखाई देता।

फ़ारसी की गाथा में जो बात कही है वही बात तुलसीदासजी ने भी कही है कि मैं अपनी दीनता किसी दूसरे से कहूँगा ही नहीं। जो स्वयं आफ़त का मारा है और जो स्वयं मेरी तरह संसार की उलझनों में फँसा हुआ है वह दूसरे की दीनता कैसे दूर करेगा ? उसके आगे अपनी दीनता प्रकट करने से क्या लाभ है ?

तात्पर्य यह है कि यदि संभवनाथ भगवान् को अपना बनाना है, अगर तुम चाहते हो कि संभवनाथ भगवान् 'म्हारा' बन जाएँ तो दुनिया की दौलत से, दुनिया के समस्त पदार्थों से

मोह–ममता तजनी पड़ेगी। संसार के पदार्थों का त्याग किये बिना सभवनाथ तुम्हारे नहीं बन सकते। एक साथ दो घोड़ों पर सवार होने का प्रयत्न करना अपने आपको खतरे मे डालना है। उससे अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा जा सकता। इसी प्रकार जब तक अन्तःकरण में दुविधा है—एकनिष्ठा नहीं है, तब तक आपका दुःख दूर नहीं हो सकता।

आप सोचेंगे कि हम गृहस्थ ठहरे, दुनिया में रहते हैं। धन की पद-पद पर आवश्यकता रहती है। उसे छोड़ दें तो जीवन-यात्रा कैसे सफल होगी? इसका समाधान यह है कि अनाथी मुनि के मुखारविन्द से नाथ-अनाथ का भेद सुनकर राजा श्रेणिक ने राज्य नहीं छोड़ा। वह राजा ही बना रहा; किन्तु नाथ-अनाथ का सच्चा स्वरूप समझने से उसकी मिथ्या धारणा मिट गई। वह समझने लगा कि वास्तव में मैं नाथ नहीं हूँ—अनाथ हूँ। मुनिराज ही वास्तव मे नाथ हैं। इस तथ्य को समझ जाने से वह किसी मुनि से यह नहीं कह सकता कि, चलो, मैं आपका नाथ बनता हूँ।

वस्तु का स्वरूप जान कर उसे आचरण में लाना सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञान का फल चारित्र है। वस्तु को त्याज्य समझ कर त्यागना, ग्राह्य समझ कर ग्रहण करना और उपेक्षणीय समझ कर उसकी उपेक्षा करना, यह ज्ञान का फल बतलाया गया है। पर यह ज्ञान का परम्परा-फल है। साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है। जब हम किसी वस्तु को जानते हैं तो उसके संबंध में जो अज्ञान विद्यमान था, वह दूर हो जाता है। यह अज्ञान का

विनाश, ज्ञान का साक्षात्—तत्काल और सीधा होने वाला फल है। अज्ञान विनाश होने पर अगर वस्तु का ग्रहण या त्याग कर दिया जाय तो वह उस ज्ञान का परम्परा-फल है। अगर आप नाथ-अनाथ का सम्यक् स्वरूप समझ कर, तद्विपयक अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं तो दूसरा फल नहीं, तो भी पहले फल के भागी हो जाते हैं।

जो प्रथम फल का भागी होगा अर्थात् अज्ञान से मुक्त हो जायगा वही त्याज्य वस्तु का त्याग कर सकेगा, वही ग्राह्य वस्तु को ग्रहण कर सकेगा, वही उपेक्षणीय वस्तु पर उपेक्षा का भाव धारण कर सकेगा; अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वरूप जान लेने से उसे आचरण में लाने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। अगर आप कोई चीज व्यवहार में नहीं ला सकते तो भी उसे व्यवहार में लाने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए। ऐसा होने पर कभी ऐसा अवसर भी आएगा जब आप उस योग्यता को व्यवहार में अवतीर्ण करेंगे।

आप पगड़ी उतार कर यहाँ इसीलिए बैठे हैं। यह धन-दौलत, घर-द्वार अभी छूटा नहीं है लेकिन इसे छोड़ने की प्रार्थना करने के लिए ही आप मेरे पास आते हैं। अगर आप इतना भी नहीं कर सकते हो—पर-पदार्थों के परित्याग की प्रार्थना करना भी आपको रुचिकर न हो, तो मेरे समान त्यागी के पास आना निरर्थक है। धन प्राप्त करने के लिए धनी के पास जाना चाहिए और त्याग करने की भावना से त्यागी के पास जाना चाहिए। आप मेरे पास आये हैं इसी से यह प्रकट है कि आप धन को

त्याग भले ही न सकते हों पर त्याग की भावना अवश्य रखते हैं। त्याग की भावना के विना तो आदर्श श्रावक होना भी कठिन है। श्रावक के तीन मनोरथों मे अकिंचन् अनगार बनने का भी एक मनोरथ है।

भाइओ, जितना हो सके उतना त्यागो। जो वन सके उसको त्यागने की भावना रक्खो। परमात्मा के प्रति पूर्ण एकनिष्ठा उत्पन्न करो। 'म्हारा' पद एकनिष्ठा या अभेदनिष्ठा को ही प्रकट करता है।

अब यह देखना है कि 'आज' का अर्थ क्या है ? 'आज' पद का अभिप्राय यह है कि–' हे प्रभो ! मैंने अब तक देश को, घर को, कुटुम्ब-परिवार आदि को अपना माना था, लेकिन आज से—अभेदज्ञान उत्पन्न हो जाने पर – तेरी-मेरी एकता की अनुभूति हो जाने के पश्चात्, मैं तुझे अपना मानता हूँ। अपने अन्त.करण में अनादिकाल से सांसारिक पदार्थों को स्थान दे रक्खा था। आज उन सब से उसे खाली करता हूँ। अब अपने हृदय के सिंहासन पर तुझ को ही विराजमान करूंगा। अब वहाँ अन्य कोई भी वस्तु स्थान न प्राप्त कर सकेगी।

'मधुर मधुर सुर तान अलापी' का अर्थ यह है कि जैसे तंदूरे में तीन तार होते हैं और तीनों तारों के मिलने से मधुर राग निकलता है, उसी प्रकार मन, वचन एवं काय को एकत्र करके—तीनों योगों से एकमुख होकर—परमात्मनिष्ठ होकर, धन एवं सदन का ममत्व त्याग दो, तो हृदय से वह राग निकलेगा जो अन्य स्थान से नहीं निकल सकता। जब तीनों योगों

की एकता सध जाती है तो 'सोऽहं' की परमानन्ददायिनी ध्वनि फूट पड़ती है और उससे परम एवं चरम कल्याण की प्राप्ति होती है। उस अद्भुत और अपूर्व अवस्था में परमात्मा पूर्ण रूप से 'म्हारा' (अपना) बन जाता है और आत्मा-परमात्मा का भेद-भाव समाप्त हो जाता है। कल्याणमस्तु !

महावीर भवन, देहली
ता० ६-५-३१
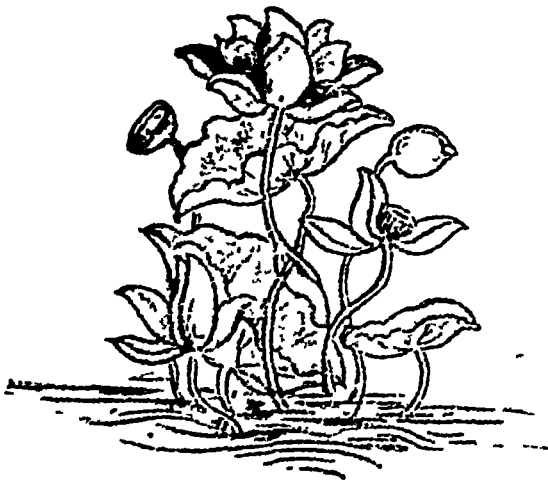
आत्म-बल

प्रार्थना

पदम प्रभु पावन नाम तिहारो, पतित उधारनहारो ॥
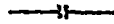
आज से पर्युषण-पर्व आरम्भ हुआ है। यद्यपि पर्व की आराधना एक ही दिन करनी है, लेकिन इन सात दिनों में उस आराधना की तैयारी करना आवश्यक है। इस आराधना की तैयारी करने और अन्त में आराधना करने के लिए किन महापुरुषों की शरण ग्रहण करना चाहिए? यही बात जानने के लिए पर्युषण के दिनों में 'अन्तगड़ सूत्र' के पठन, मनन एवं

श्रवण की परिपाटी चली आ रही है। प्राचीन महर्षियों ने आठ दिन में ही सम्पूर्ण अन्तगड़सूत्र के पठन, मनन एवं श्रवण की परम्परा प्रचलित की है, इसका कारण क्या है ? इस प्रश्न का समाधान तो कोई पूर्ण योगीश्वर ही कर सकते हैं।

मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि अन्तगड़सूत्र, श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी में आठवां अंग है। इस अंग में ९० महात्माओं के पवित्र चरित्र वर्णन किये गये हैं। सभी महात्माओं के चरित्र समान है। व्यवहार के भेद से चरित्रों में थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही पाया जाय, पर उन सबका मर्म—अन्तस्तत्व—एक ही है। सभी महात्माओं के चरित्र से एक ही ध्वनि निकलती है। सभी ने एक ही पथ का अवलम्बन किया है, एक ही लक्ष्य को समक्ष रख कर साधना की है और एक ही प्रकार की साधना से सिद्धि-लाभ किया है।

यों तो श्रमण भगवान् महावीर के ७०० शिष्य केवलज्ञानी हुए हैं परन्तु इस सूत्र में उन सबका वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ उन्हीं महात्माओं का वर्णन है जिन्होंने अपनी आयु के अन्त में दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया है। ऐसे महात्माओं के जीवन—चरित्र पर पूर्ण विचार योगीश्वर ही कर सकते हैं। ऐसा करना हम जैसे छद्मस्थों के लिए शक्य नहीं है। प्रस्तुत अंग अन्तगड़, चार ज्ञानधारी, चौदह पूर्व के ज्ञाता गणधरों ने लिखा है। किस विचार से उन्होंने इसकी रचना की है, यह कहना हमारी शक्ति से बाहर है। हम तो इन महात्माओं के विषय में प्रार्थना के रूप में बाल-भाषा में जो कुछ कहा गया है, वही कहते हैं।

श्री जिनशासन मुनिवर वंदूं,
भगते निज सिर नाय रे माई ।
कर्म हणांने केवल पामी
पोंच्या जे शिवठाम रे माई ॥ श्री० ॥
नित्य उठी प्रणमूं नेमीसर,
श्रमण ए सहस अठार री माई ।
वरदत्त आदि मुनि पन्दरे से,
वन्दों केवल-धार री माई ॥ श्री० ॥
गौतम समुद्र ने सागर गाऊँ,
गभीर स्तमित कुमार री माई ।
अचल ने कंपित्त अक्षोभन सेनी,
दसवों विष्णुकुमार री माई ॥ श्री० ॥

इस पद में उन महात्माओं को संग्रह करके नमस्कार किया गया है, जिनका वर्णन अन्तगड़ सूत्र के प्रथम वर्ग में है। इस प्रथम वर्ग में इन दस महापुरुषों के नाम से दस अध्याय हैं।

अन्तगड़ सूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि और भगवान् महावीर के शासन का वर्णन है। यद्यपि सभी तीर्थंकरों का पद समान है, सभी समान भाव से मान्य हैं अथवा यों कहना चाहिए कि सभी तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व अभिन्न है; फिर भी यहाँ दो ही तीर्थंकरों के शासन का वर्णन किया गया है। नहीं कहा जा सकता, इसका रहस्य क्या है ?

भगवान् नेमिनाथ के शासन में अठारह हजार श्रमण

हुए हैं। उनमें से १५०० केवलज्ञानी हुए हैं। इन सब को इस प्रार्थना में नमस्कार किया गया है। इन १५०० केवलज्ञानियों में से दस महापुरुषों के चरित्र मे समानता होने के कारण अथवा अन्य किसी विचार से, पहले वर्ग के दस अध्यायों में इनका चरित्र दिया गया है।

अन्तगड़ दसांग अथवा अन्तकृद्दशाङ्ग का अर्थ है—आयु के अन्त में जिन महात्माओं ने कर्मों का अन्त किया है, उनके चरित्र का वर्णन। पहले वर्ग में दस अध्याय होने से इसे दशांग कहते हैं।

प्रथम वर्ग में जिन दस महात्माओं का वर्णन है उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) गौतम (२) समुद्र (३) सागर (४) गंभीर (५) स्तिमित (६) अचल (७) कम्पिल (८) अक्षोभ (९) सेन (१०) विष्णुकुमार।

यह दसों महापुरुष एक ही माता के पुत्र थे। इनका लालन-पालन, विवाह-संबंध, शिक्षा-दीक्षा सब एक ही समान हुआ था और एक ही साथ भगवान् की वाणी सुनकर ये संसार से विरक्त हुए थे। इन्होंने एक साथ दीक्षा ग्रहण की, एक साथ तपश्चर्या की, एक साथ केवल-ज्ञान प्राप्त किया और एक ही साथ संथारा धारण करके मोक्ष-लाभ किया था।

गंगा और यमुना का मिल जाना कदाचित् सरल हो सकता है, पर इन दस महात्माओं का एक ही घर में पृथक्-पृथक् समयों में उत्पन्न होना और एक साथ संसार से विरक्त होकर मोक्ष जाना कितना कठिन-सा प्रतीत होता है। यह एक अद्भुत संयोग है!

हम लोगों की आत्मा को बोधित करने के लिए, आत्मा की सोई हुए शक्तियों को प्राणवान् एवं जागृत बनाने के लिए ही महात्माओं ने इनका वर्णन हमारे लिए कहा है।

भगवान् का जो पद है वही पद मुनि का है और जो पद मुनि का है वही भगवान् का है। भाव-वन्दना के समय यह पाठ बोला जाता है—

'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं पज्जुवासामि। मत्थएण वंदामि।'

यह पाठ पढ़ते हुए वन्दना की जाती है। यह वंदना करने का पाठ है। लेकिन वन्द्य कौन है? जिसके प्रति भक्तजन अपने अन्तःकरण का सम्पूर्ण श्रद्धा-भक्ति का भाव अर्पित करते हैं, जिसके समक्ष भक्तजन एकाकार होकर किंचित् काल के लिए सब प्रकार का दुराव भूल जाते हैं, आत्मकल्याण के लिए जिसकी शरण ग्रहण की जाती है, वह कौन है? वह हैं—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन पाँचों को वन्दना करते समय इस पाठ में भेद नहीं किया जाता। उसी पाठ से अरिहन्तों को वन्दना की जाती है और उसी से साधु को भी।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कहाँ तो चार घातिक कर्मों का सर्वथा क्षय करने वाले, जीवन्मुक्त अरिहन्त, और कहाँ साधना का लगभग आरंभ करने वाले मुनि? दोनों में महान् अन्तर है। दोनों के आत्म-विकास में इतना अन्तर होने पर भी एक ही पाठ से दोनों को वन्दना क्यों की जाती है?

इस युग में आध्यात्मिकता की ओर विशेष अभिरुचि न

होने के कारण, भौतिकता की भावना में वृद्धि हो जाने से एवं उसी का समर्थन करने वाले व्याख्यान सुन कर, पुस्तकें पढ़ कर कई लोग साधुओं को समाज का बोझ समझने लगे हैं। उन्हें साधु निरर्थक प्रतीत होते हैं, क्योंकि कई साधुओं को 'लेक्चरार' की भाँति छटादार भाषा में व्याख्यान देना नहीं आता। साधु, अन्यान्य प्रवृत्तियों में भी नहीं पड़ते, जिन्हें इस समय प्रधानता दी जा रही है। साधारण जनता प्रवृत्ति के बहाव में बहती है। जिस समय, जिस चीज की विशेष आवश्यकता होती है, उस समय समाज के मुखिया उस चीज को अत्यधिक महत्व देते हैं। सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसा करना ही पड़ता है! पर यह भूल नहीं जाना चाहिए कि समाज की आवश्यकताएँ किसी खास समय तक ही परिमित नहीं हैं। मानव-जीवन पानी का बुलबुला नहीं है कि उसका कुछ ही समय में अन्त आ जाय। मानव-जीवन सत्य है, इसलिए सनातन है। अमुक युग की अमुक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पन्न की गई भावना में ही जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता नहीं है। उसके अतिरिक्त बहुत कुछ शाश्वत तत्त्व है, जिसकी सिद्धि में जीवन की सर्वांगीण सफलता निहित है। अतएव ऐसे सर्वकालीन तत्त्वों का संरक्षण करना, उनकी व्याख्या करना भी आवश्यक है। उस ओर से सर्वथा उदासीन होकर कोई भी समाज पूर्ण सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि युगधर्म ही सब कुछ नहीं है, वरन् शाश्वत धर्म भी है, जो जीवन को भूत और भविष्य के साथ संकलित करता है। युगधर्म का महत्त्व काल की मर्यादा में बंधा हुआ है पर शाश्वत धर्म

सभी प्रकार की सामयिक सीमाओं से मुक्त है। मुनिजन अगर युगधर्म को गौण करके शाश्वत धर्म का मुख्य रूप मे प्रचार करते हैं तो क्या इसी से उन्हें उपेक्षा का पात्र समझना चाहिये? कदापि नहीं; क्योंकि वे जीवन के महत्तम आदर्श के संदेशवाहक हैं और उस संदेश को अपने जीवन में उतार कर उसे मूर्तिमान रूप प्रदान करते हैं।

इसमे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मुनि युगधर्म की ओर दृष्टि नहीं देते अथवा उसका विरोध करते हैं। मुनि युगधर्म की प्रतिष्ठा में सहायक होते हैं पर उनका जीवन एक विशिष्ट साधना से समन्वित होता है। वह साधना है संयम। भगवान् का यही आदेश है कि संयम मार्ग को लक्ष्य में रख कर ही साधुओं को सब कार्य करने चाहिए। उन्हें संयम खोकर कोई काम नहीं करना है। संयम की साधना में अगर कोई दूसरे कार्य में व्याघात होता है तो भले ही हो जाय पर संयम की उपेक्षा करके दूसरा कार्य उन्हें नहीं करना चाहिए। लौकिक प्रवृत्तियों में पड़ कर संयम का व्याघात नहीं करना चाहिए। इतना होने पर भी अनेक महात्मा अपने संयम का संरक्षण करते हुए लोकहित का उपदेश देते हैं और युगधर्म की प्रतिष्ठा में इतना योग देते हैं कि संयम का पालन न करने वाला कोई उपदेशक या व्याख्याता भी उतना सहायक नहीं हो सकता।

पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन करने वाले साधु को, सब सूत्रों का ज्ञाता इन्द्र भी नमन करता है। इन्द्र जानता है कि मेरा समस्त वैभव इन महात्माओं की चरण-रज के बराबर

भी नहीं है। मुझे जो विभूति प्राप्त हुई है उसकी प्राप्ति का कारण तप एवं संयम ही है और वह भी तप-संयम का तुच्छ फल है। तप-संयम का प्रधान फल तो भव भ्रमण का अन्त हो जाना है। जैसे गेहूँ के साथ भूसा भी होता है, परन्तु गेहूँ गेहूँ ही रहता है और भूसा भूसा ही। इसी प्रकार पाँच समिति और तीन गुप्ति से होने वाली आध्यात्मिक सिद्धि गेहूँ के समान है और उससे आनुषंगिक रूप में प्राप्त हुआ इन्द्रपद भूसा के समान है। इन्द्र कहता है — तो पाँच समिति और तीन गुप्ति की शाला का एक छोटा-सा विद्यार्थी हूँ। मैं इस शाला को छोड़ चुका हूँ और मुनि उसमें अभी तक मौजूद हैं। फिर भी अगर मैं इस शाला को भूल जाऊँ तो मैं कृतघ्न बनूंगा। आप उस तप-संयम में अभी लीन हैं, जिसका तुच्छ फल मैंने पाया है। अतएव आप मेरे द्वारा वन्दनीय हैं। मैं आपको वन्दना करता ।

आप तनिक विचार कीजिए कि जिन सन्त महात्माओं को इन्द्र भी वन्दन करता है, उनका कितना आदर-सम्मान करना चाहिए ? यद्यपि जो सच्चे सन्त हैं, उन्हें आप चाहे अच्छा कहें, चाहे बुरा कहें, चाहे आप उनकी निन्दा करें, चाहें प्रशंसा करें, उनके लिए यह सब समान है। न उन्हें किसी पर रोष है, न किसी पर तोष है। फिर भी आपको तो अपना कर्त्तव्य सोचना ही चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि महात्मा में ऐसा कौनसा बल है जिससे प्रभावित होकर इन्द्र भी उन्हें नमन करता है ?

पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में ऐसी कौनसी शक्ति है जो देवराज इन्द्र का मस्तक झुका देती है ?

मित्रों ! महात्माओं में जो बल है, वही बल प्राप्त करने का यह सुअवसर मिला है। इस सुअवसर का उपयोग कर लो—हाथ से न जाने दो।

मुनि ईर्यासमिति से चलते है, भाषा समिति का ध्यान रखते हुए बोलते हैं। आप कहेंगे इसमें कौन-सी बड़ी विशेषता हो गई ? नीचे देखकर तो हम भी चलते हैं। मुनि अगर साढ़े तीन हाथ भूमि देखकर चलें तो वह उनकी बहुत बड़ी विशेषता नहीं है। परन्तु देखकर चलने को ही ईर्या नहीं कहते। ईर्या को आप मामूली-सी चीज समझते हैं, मगर वह मामूली नहीं है। समस्त राजयोग का उसमें समावेश हो जाता है। मुनिजन ईर्या का अवलम्बन लेते हैं अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र को देखकर—उनमें किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाते हुए चलते हैं।

गृहस्थ लोग नीची दृष्टि करके चलते हैं। सो कोई कांटा, ईंट, पत्थर, आदि की ठोकर खाने से बचने के लिये, कोई जीव-जन्तु को बचाने के बदले विषैले जन्तुओं से बचने के लिए और कोई-कोई जीवरक्षा के विचार से। मगर मुनिराज ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र की रक्षा के लिये नीची दृष्टि रख कर चलते हैं। एक आदमी कौड़ी ढूढ़ने के लिए जमीन पर नजर डाल कर चलता है, दूसरा चिन्तामणि रत्न की खोज के लिए पृथ्वी की ओर देखता हुआ चलता है। पृथ्वी की ओर दोनों देखते हैं फिर भी कौड़ी ढूँढ़ने वाले की चाल कौड़ी की है और रत्न ढूँढ़ने वाले

की रत्न की है। मुनि ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य रूपी रत्न खोजते हुए चलते हैं, इसलिए वे इन्द्र द्वारा भी पूजनीय हैं।

इतना प्रासंगिक कथन करके मैं अब यह बतलाना चाहता हूँ कि पर्युषण की तैयारी किस उद्देश्य से की जाती है ?

संसार में सब को सब की आवश्यकता है। किसी को तनबल की आवश्यकता है, किसी को मनोबल की, किसी को धनबल की और किसी को राज्य, पंचायत या परिवार-बल की आवश्यकता है। इन सब बलों को प्राप्त करने के लिए की जाने वाली आराधना के लिए कुछ विशेष अवसर नियत किये हैं। इन्हें त्यौहार कहते हैं। पर्युषण भी एक महान् त्यौहार है। उसमें किस बल की प्राप्ति के लिये आराधना की जाती है ? पर्युषण में जिस बल को प्राप्ति के लिए आराधना की जाती है वह आत्मबल है। आत्मबल के विषय में कहा है—

आतम-बल ही है, सब बल का सरदार। आतम० ॥
आतमबल वाला अलबेला, निर्भय होकर देता हेला।
लड़ कर सारे जग से अकेला, लेता बाजी मार ॥ आतम० ॥
कैसी भी हो फौज भयंकर, तोप मशीनें हों प्रलयंकर।
आतम-बली रहता है बेडर, देता सब को हार ॥ आतम० ॥
चाहे फाँसी पर लटका दे, भले तोप के मुँह उड़वा दे।
आतमबली सब को हो दुआ दे, कभी न दे धिक्कार ॥ आतम० ॥
लेता है आतमबलधारी, स्वतन्त्रता सब जग की प्यारी।
पराधीनता-दुखसंहारी, करे सुखी संसार ॥ आतम० ॥

प्रतिहिंसा के भाव न लाता, सदा शान्ति का गाना गाता।
सारा सोता देश जगाता, कर नीती परचार ॥ आतम० ॥
आतम-बली है जग में नामी, इसमें कछू नहीं है खामी।
बनो इसी के सच्चे हामी, तज पशुवत अहँकार ॥ आतम० ॥

कवि ने इस गीत में अपने भाव प्रकट किये हैं। इन भावों को सिर्फ समझ लेना और गीत गा लेना पर्याप्त नहीं है। आत्म-बल की महिमा का मर्म समझ कर उसे आत्मा में किस प्रकार व्यक्त किया जाय, यह समझो।

वास्तव में आत्मबल में अद्भुत शक्ति है। इस बल के सामने संसार का कोई भी बल नहीं टिक सकता। इसके विपरीत जिसमें आत्मबल का सर्वथा अभाव है वह अन्यान्य बलों का अवलंबन करके भी कृत-कार्य नहीं हो सकता। मृत्यु के समय अनेक क्या अधिकांश लोग दुःख का अनुभव करते हैं। मृत्यु का घोर अंधकार उन्हें विह्वल बना देता है। बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा, जो समुद्र के वक्षस्थल पर क्रीड़ा करते हैं, विशाल जल-राशि को चीर कर अपना मार्ग बनाते हैं और देवताओं की भाँति आकाश में विहार करते हैं, जिनके पराक्रम से संसार थर्राता है, वे भी मृत्यु का समीप आता देखकर कातर बन जाते हैं, दीन हो जाते हैं। लेकिन जिन महात्माओं का उल्लेख ऊपर किया गया है वे मृत्यु का आलिंगन करते समय रंचमात्र भी खेद नहीं करते। मृत्यु उनके लिए सघन अंधकार नहीं है, वरन् स्वर्ग-अपवर्ग की ओर ले जाने वाले देवदूत के समान प्रतीत होती है। इसका कारण क्या है? इसका एकमात्र कारण आत्मबल है।

आत्मबल सब बलों में श्रेष्ठ है; यही नहीं वरन् यह कहना भी अनुचित न होगा कि आत्मबल ही एकमात्र सच्चा बल है। जिसे आत्मबल की लब्धि हो गई है उसे अन्य बल की आवश्यकता नहीं रहती। आधुनिक कविता में आत्मबल की उक्त प्रकार से प्रशंसा की गई है; परन्तु प्राचीन कविता में उसका दूसरे ही रूप से वर्णन किया गया है—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

पिछली साख भरूँ सन्तन की, आड़े सुधरे काम। सुने री० ॥

जब लग गज बल अपनो राख्यो, नेक सरयो नहि काम।

निर्बल हो बलराम पुकारे, आये आधे नाम ॥ सुने री० ॥

चाहे आत्मबल कहो, चाहे रामबल कहो, चाहे अर्हन्तबल कहो, चाहे परमेष्ठीबल कहो, बात एक ही है। आत्मा और परमात्मा का अभेद है, यह मैं बतला चुका हूँ। यदि उस बल को तुम प्राप्त करने की तैयारी में आये हो तो यह सोचो कि उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? उसे प्राप्त करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

इस बल को प्राप्त करने की क्रिया है तो सीधी-सादी, लेकिन क्रिया करने वाले का अन्तःकरण सच्चा होना चाहिए। वह क्रिया यह है कि अपना बल छोड़ दो। अर्थात् अपने बल का जो अहंकार तुम्हारे हृदय में आसन जमाये बैठा है, उस अहंकार को निकाल बाहर करो। परमात्मा की शरण में चले जाओ। परमात्मा से जो बल प्राप्त होगा वही आत्मबल होगा। जब तक तुम ऐसा न करोगे, अपने बल पर अर्थात् अपने शरीर,

बुद्धि या अन्य भौतिक साधनों के बल पर निर्भर रहोगे, तब तक आत्मबल प्राप्त न हो सकेगा।

पुराण में लिखा है कि एक हाथी परमात्मा का भक्त था। वह भगवान् का नाम लिया करता था। उसे मालूम था कि आपत्ति आने पर भगवान् सहायता देता है, अतएव उसने भगवान् की खुशामद करके भगवान् को राजी रखना उचित समझा। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में अपना मतलब निकालने के लिए दूसरों को प्रसन्न रखना पड़ता है, उसी भाव से हाथी भगवान् को खुश रखने लगा।

जैसे लोग अच्छे-से बड़े मकान में दिखावट के लिए थोड़ा-सा फर्नीचर रख छोड़ते हैं, उसी प्रकार कई लोग अच्छा दिखने के लिये, समाज में अपना मान-सम्मान बढ़ाने के लिए 'धर्म' करते हैं। ऐसा लोग सोचते हैं—संसार के सभी काम हम करते हैं, पर यदि धर्म न करेंगे तो अच्छे न दिखेंगे। लोग हृदय से हमारा आदर नहीं करेंगे। इस प्रकार के विचार से प्रेरित होकर वे धर्म कर लिया करते हैं, जैसे मकान को अच्छा दिखाने के लिए थोड़ा-सा फर्नीचर रख लिया जाता है। मगर सच्चा धर्मिष्ठ पुरुष ऐसा विचार नहीं करता। उसका विचार इससे भिन्न होता है। उसकी दृष्टि में धर्म फर्नीचर नहीं है, वरन् धर्म मकान के समान होता है और अन्यान्य सांसारिक व्यवहार फर्नीचर के समान होते हैं। अर्थात् वह धर्म को मुख्य और अन्य व्यवहारों को गौण समझता है। हाथी, सजावट के लिए फर्नीचर रखने वालों के समान धर्म करने वालों मे से एक था।

एक दिन हाथी पानी पीने गया। वहाँ एक मगर ने उसका पाँव पकड़ लिया। मगर उसे गहरे पानी की ओर खींच ले चला। यद्यपि हाथी भी बलवान् था, उसने अपना पाँव छुड़ाने के लिए पूरा जोर लगाया, लेकिन जिसका जोर जहाँ के लिए होता है उसका जोर वहीं चलता है। हाथी स्थलचर प्राणी है, इसलिए उसका जोर जितना स्थल पर काम आ सकता है, उतना जल में काम नहीं आ सकता। दोनों की खींचातानी हुई, लेकिन मगर जल का जीव था, उसका बल जल में सफल हो रहा था। उसके आगे हाथी की एक न चली और वह उसे खींच ले चला। हाथी जब खिचने लगा और अपनी सारी शक्ति लगाकर निराश हो गया तो उसे भगवान् याद आये। आखिर ऐसे ही अवसर के लिए तो उसने इतने दिनों तक भगवान् की खुशामद की थी। वह पुकारने लगा—'प्रभो! मुझे बचाओ। मगर मुझे लिए जाता है। वह मुझे मार डालेगा। त्राहि! त्राहि! मां त्राहि!'

हाथी ने इस प्रकार आर्त्तनाद करके भगवान् को बहुत पुकारा, पर भगवान् तक या तो उसकी पुकार पहुँची नहीं या भगवान् ने उस पर ध्यान नहीं दिया। तब वह मन में सोचने लगा—'मैंने सुना था, भगवान् भीड़ पड़ने पर भक्त का भय हटाने के लिए भागे-भागे आते हैं, पर यहाँ तो उनके आने का कुछ भी चिन्ह नहीं दिखाई देता। मैं बराबर परमात्मा की पुकार कर रहा हूँ, फिर भी मगर मुझे खींचे ही लिये चला जा रहा है। इस समय भगवान् न जाने सो गये हैं, या कहीं चले गये हैं। जान पड़ता है, मैं धोखे में रहा। मैंने भगवान् पर भरोसा करके वृथा उनकी खुशामद की।'

इस प्रकार फर्नीचर के समान जो भक्ति हाथी की थी, वह बिगड़ गई। मगर ज्ञानीजनों का कथन है कि आस्तिकता से किसी न किसी प्रकार उत्थान अवश्य होता है। हाथी के अन्तर की आस्तिकता जागृत हुई। अन्त में उसने सोचा—'मैं भगवान्, भगवान् रट तो रहा हूँ, पर भगवान् मेरी जिह्वा पर ही हैं या हृदय में भी हैं? अगर मेरे अन्तरंग में ईश्वर का स्थान होता तो मैं मगर के साथ क्यो खींचातानी करता? मैं मगर के साथ खींचातानी भी कर रहा हूँ और भगवान् को पुकार भी रहा हूँ। यही क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि मैं भगवान् पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं हूँ। क्या मैं अपने शरीर-बल को ईश्वरी-बल से अधिक महत्व नहीं दे रहा हूँ? अगर मैं ईश्वर की शरण में जाता और अपनी समस्त शक्तियाँ उन्हीं के पावन चरणों में समर्पित कर देता तो ईश्वर अवश्य आता। मैं तो अपने शरीर के बल का भरोसा करता हूँ। मल-मूत्र से बने हुए इस शरीर पर मेरा जितना विश्वास है उतना परमात्मा पर भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस शरीर को मैं अपना समझता हूँ, उसी को मगर अपना आहार समझता है। मैं कितने भारी भ्रम में हूँ कि मगर के आहार को मैं अपना मान रहा हूँ—उस पर मुझे ममत्व हो रहा है।

इस प्रकार की विचारधारा प्रवाहित होते ही हाथी कहने लगा—'अरे मगर! मैं तुझे धिक्कार रहा था; मगर अब मैं समझा कि तुझे धिक्कार देने की आवश्यकता नहीं है। अभी तक मैं तुझे इसलिए भला-बुरा कह रहा था कि मुझे शरीर पर ममता थी और इसी कारण मैं ईश्वर को भूला हुआ था और शरीर-बल पर ही भरोसा लगाये बैठा था। अब मैं समझ

चुका हूँ। तेरे द्वारा जो खाया जा सकता है वह मेरा नहीं हो सकता। और जो मेरा है उसे तू खा नहीं सकता। इसलिए भाई, मैं तुझ से क्षमा याचना करता हूँ। तू मेरी कुछ भी हानि नहीं कर रहा है।'

अभी मैंने कहा था—

चाहे फाँसी पर लटका दे, भले तोप के मुँह उड़वा दे।
आत्म-बली सब को ही दुआ दे, कभी न दे धिक्कार॥

तोप से उड़ाना क्या कोई भलाई करना है? फिर भी आत्म-बली तोप से उड़ाने वाले को क्यों दुआ देता है? लेकिन अगर तोप से उड़ाने वाले की और तोप से उड़ने वाले की भावना समान ही हो जाय तो फिर आत्मबली में और तोप से उड़ाने वाले में अन्तर ही क्या रह जाता है?

गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमल ब्राह्मण ने जलते अँगारे रख दिये, फिर भी गजसुकुमार मुनि ने सोमल को उपकारी माना या अपकारी?

'उपकारी।'

मित्रो! तुम तो धर्मक्रिया करते हो, वह लोक को दिखाने के लिये मत करो। अपनी आत्मा को साक्षी बना कर करो। निष्काम कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर करो। अपनी अमूल्य धर्मक्रिया को लौकिक लाभ के लघुतर मूल्य पर न बेच दो। चिन्तामणि रत्न को लोहे के बदले मत दे डालो।

'चाहे फाँसी पर लटका दो' यह पद चाहे आधुनिक वाता-वरण को लक्ष्य करके कहा गया हो, पर हमारे लिए तो हमारे

ही शास्त्रों में इसके प्रमाण मौजूद हैं। गजसुकुमार के सिर पर अंगारे रक्खे गये, अनेक मुनियों को कोल्हू में पेरा गया, फिर फाँसी पर लटकाने में क्या कसर रह गई ? इतने उज्ज्वल उदाहरण विद्यमान होने पर भी आप धर्म में बनियाई चला रहे हैं।

हाथी ने मगर से कहा—'मुझ में भक्ति है या नहीं, इसकी परीक्षा तू ही कर रहा है। तू ही है जिससे मेरी भक्ति की परीक्षा होगी। जा, ले जा, और खा जा '। मैं अब अपना बल न लगाऊँगा।'

हाथी ने अपना बल लगाना छोड़ दिया। खींचातानी बंद होगई। हाथी ने कहा—'प्रभो ! भले ही मेरा शरीर चला जाय, पर तू न जाने पाय। मैं यह शरीर देता हूँ और इसके बदले तुझे लेता हूँ।'

इस प्रकार विचार कर हाथी ने भगवान् के नाम का उच्चारण आरंभ किया। उसने जैसे ही आधे नाम का उच्चारण किया कि उसी समय हाथी में एक प्रकार का अनिर्वचनीय बल प्रकट हुआ। उस बल के प्रभाव से हाथी अनायास ही छूट गया और विपत्ति से छूट कर आनंद में खड़ा हो गया। अपने यहाँ भी कहा है कि पांच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतना ही समय आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने में लगता है।

हाथी मगर के फन्दे से छूट कर अलग जा खड़ा हुआ। वह सोचने लगा—कैसी अद्भुत घटना है। मैं मगर से कहता हूँ—खा।जा, और वह मुझे छोड़ गया !

तात्पर्य यह है कि सांसारिक बल को त्याग देने पर जो बल आता है, वही आत्मबल है, वही रामबल है और वही भगवद्बल है।

हमारे मन-रूपी हाथी को एक ओर काम, क्रोध, मोह रूपी मगर अपनी ओर खींचता है। दूसरी ओर अहंकार खींच रहा है। हमारे हृदय में यह खींचातानी जब तक मची रहेगी, तब तक आत्मबल का प्रादुर्भाव न होगा। काम, क्रोध की यह लड़ाई आसुरी लड़ाई है। इस लड़ाई के घट जाने पर ऐसा बल उत्पन्न होता है जिसका सामना कोई नहीं कर सकता और जिसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। वही बल-आत्मबल है।

पाठशाला में पढ़ाई होती है। वहाँ शिष्यों की योग्यता के आधार पर अनेक कक्षाएँ होती हैं। अगर कोई बच्चा आकर कहे कि मैं पाठशाला में पढ़ना चाहता हूँ पर दसवीं कक्षा की पढ़ाई मुझ से न होगी; तो उसे क्या उत्तर दिया जायगा ? यही न कि तुम दसवीं कक्षा तक पहुँचने का ध्यान रक्खो, भावना बनाये रहो, पर बैठो पहली श्रेणी में। आज पहली कक्षा में बैठोगे तो कभी दसवीं में भी पहुँच जाओगे। इसी प्रकार ऊपर जिस आत्मबल का वर्णन किया गया है वह उच्च श्रेणी का है। उस आत्मबल रूपी ऊँची कक्षा में पहुँचने के लिए अर्थात् उसे प्राप्त करने के लिए दानधर्म, शीलधर्म, तपधर्म और भावधर्म की आवश्यकता है। इन चार प्रकार के धर्मों के अनुष्ठान से आत्म-बल की प्राप्ति हो सकती है।

दान देना अर्थात् अपने आर्थिक बल का परित्याग करके

आत्मबल प्राप्त करना। आत्मबल की उपलब्धि के लिए ही दान दिया जाता है। किसी वस्तु पर से अपनी सत्ता उठा लेने को ही दान कहते हैं। मान, प्रतिष्ठा या यश के लिए जो त्याग किया जाता है, वह दान नहीं है। वह तो एक प्रकार का व्यापार है, जिसमें कुछ धन आदि दिया जाता है और उससे मान-सम्मान आदि खरीदा जाता है। ऐसे दान से दान का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। 'अहंभाव' या 'ममता' का त्याग करना दान का उद्देश्य है। अगर कोई दान अहंकार की वृद्धि के लिए देता है, तो उससे दान का प्रयोजन किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? दान से कीर्त्ति भले ही मिले, पर कीर्त्ति की कामना करके दान नहीं देना चाहिए। किसान धान्य की प्राप्ति के लिए खेती करता है पर उसे भूसा तो मिल ही जाता है। अगर कोई किसान भूसे के लिए ही खेती करे तो उसे बुद्धिमान कौन समझेगा? इसी प्रकार निष्काम भाव से दान देने से कीर्त्ति आदि भूसे के समान आनुषंगिक फल मिल ही जाते हैं, पर इन्हीं फलों की प्राप्ति के लिए दान देना विवेकशीलता नहीं है। इसी प्रकार दानीय व्यक्ति को लघु और अपने आपको गौरवशाली समझ कर भी दान नहीं देना चाहिए। यह कभी न भूलो कि दान देकर तुम दानीय व्यक्ति का जितना उपकार करते हो, उससे कहीं अधिक दानीय व्यक्ति तुम्हारा—दाता का—उपकार करता है। वह तुम्हें दान-धर्म के पालन का सुअवसर देता है; तुम्हारे ममत्व को घटाने या हटाने में निमित्त बनता है। अतएव वह तुमसे उपकृत है, तो तुम भी उससे कम उपकृत नहीं हो। अगर दान देते समय अहंकार का भाव आ गया तो तुम्हारा दान अपवित्र हो जायगा।

आत्म-बल की प्राप्ति के लिए इसी प्रकार के निष्काम और निरहंकार त्याग की आवश्यकता है। उसके बदले न स्वर्ग-सुख की अभिलाषा करो, न दानीय पुरुष की सेवाओं की आकांक्षा करो, न यश-कीर्ति खरीदो और न उसे अपने अहंकार की खुराक बनाओ।

तुम्हारे पास धन नहीं है, तो चिन्ता करने की क्या बात है ? धन से बढ़ कर विद्या, बुद्धि, बल आदि अनेक वस्तुएँ हैं। तुम उनका दान करो। धन-दान से विद्यादान और बलदान क्या कम प्रशस्त है ? नहीं। तुम्हारे पास जो कुछ अपना कहने को है, जिसे तुम अपनी वस्तु कहते हो, उस सब का परित्याग कर दो— सब का यज्ञ कर डालो। इस सब ऊपरी बल से जब विमुख हो जाओगे तो तुम्हारी अन्तरात्मा में एक अपूर्व ओज प्रकाशित होगा। वही ओज आत्मबल होगा।

मनुष्य इधर-उधर भटकता फिरता है—भौतिक पदार्थों को जुटा कर बलशाली बनना चाहता है। लेकिन वह किस काम आयगा ? अगर आँख में आन्तरिक शक्ति नहीं है, तो चश्मा लगाना व्यर्थ है। दूरबीन की शक्ति किसी काम की नहीं। इसी प्रकार आत्मबल के अभाव में भौतिक-बल निरुपयोगी है। अरे, बड़े-बड़े विशाल साम्राज्य भौतिक बल के सहारे कायम न रह सके ! रावण जैसे पराक्रमी योद्धा को उसके भौतिक बल ने कुछ भी सहायता न पहुँचाई। दुर्योधन की कोटि सेना का सारा बल कुण्ठित हो गया ! तुम्हारे पास कितना-सा बल है, जिसके कारण तुम फूल नहीं समाते !

आत्म-बली को प्रकृति स्वयं सहायता पहुँचाती है। दन्त-कथा प्रसिद्ध है कि एक बार बादशाह अकबर, महाराणा प्रताप की परीक्षा करने के लिए फकीर का भेष बना कर आया था, उस समय महाराणा को प्रकृति से सहायता मिली थी।

सुप्रसिद्ध वीर नैपोलियन के विषय में भी प्रसिद्ध है कि एक बार उसकी माता ने खर्च के लिए उससे रुपये माँगे। नैपोलियन के पास उस समय रुपये न थे। उसे इतनी ग्लानि हुई कि वह डूब मरने के लिए नदी की ओर चलने लगा। उसी समय एक अपरिचित व्यक्ति ने आकर उसे रुपयों की थैली देते हुए कहा—'इसे लिये रहना, मै अभी आता हूँ।' रुपयों की थैली देकर वह सज्जन गया सो चला ही गया। लौट कर नही आया।

मित्रो ! कोई कैसी भी स्थिति में क्यों न हो, आखिर अपना पेट तो भरता ही है। अगर वह अपनी एक रोटी में से एक छोटा-सा टुकड़ा भी दान कर देता है तो उसका दान धन्य है। श्रीमान् के लाखों-करोड़ों रुपयों के विराट दान की अपेक्षा उस गरीब का रोटी के एक टुकड़े का दान अधिक महिमाशाली है। हे गरीब ! तू क्यों चिन्ता करता है ? जिसके शरीर में अधिक कीचड़ लगा होगा, वह उतना ही अधिक उसे छुटाने का प्रयत्न करेगा। तू भाग्यशाली है कि तेरे पैर में कीचड़ अधिक नहीं लगा है। तू दूसरों से ईर्षा क्यों करता है ? उन्हें तुझसे ईर्षा करनी चाहिए। पर देख, सावधान रहना, अपने पैरों में कीचड़ लगाने की भावना भी तेरे दिल में न होनी चाहिए। जिस दिन, जिस क्षण यह दुर्भावना पैदा होगी, उसी दिन और उसी क्षण तेरा सौभाग्य

पलट जायगा। तेरे शरीर पर अगर थोड़ा-सा भी मैल है तो तू उसे छुड़ाता चल। उसे थोड़ा समझ कर उसका संग्रह न किये रह!

इस प्रकार आत्मबल प्रकट होगा। आत्मबल प्रकट करने का सर्वप्रथम साधन 'दान' है।

दान धर्म के अनन्तर शीलधर्म है। शीलधर्म का अर्थ है—सदाचार का पालन। सदाचार का पालन आत्मबल वाला ही कर सकता है और आत्मबल वाले में ही सदाचार हो सकता है। शील की महिमा अपरिमित है। उसकी महिमा प्रकट करने वाली अनेक कथाएँ मौजूद हैं। सुदर्शन सेठ के लिए, शील के प्रताप से ही फाँसी का तख्ता सिंहासन बन गया था। सीता के शील के प्रभाव से अग्नि शीतल हो गई थी। प्रभात होते ही सोलह सतियों का स्मरण क्यों किया जाता है?—क्यों उनका यश गाया जाता है? शील के कारण ही।

राजा ने सेठ सुदर्शन से बहुतेरा कहा कि तुम रानी का सच्चा सच्चा हाल बताओ। मैं तुम्हारी बात पर अविश्वास नहीं करूँगा। फिर भी सुदर्शन ने राजा को उसकी रानी का हाल नहीं बताया। रानी के द्वारा वह तिरस्कृत ही नहीं हुआ था, वरन् उसी की बदौलत वह शूली पर चढ़ाया जा रहा था; फिर भी सुदर्शन ने रानी का अनिष्ट नहीं किया। आप शूली पर चढ़ गया, लेकिन शूली, शील के प्रताप से, सिंहासन बन गई।

ऐसी-ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें शीलधर्म की महिमा का बखान है। कई लोग इन कथाओं को कल्पित कहकर उनकी

उपेक्षा करते हैं, पर वास्तव में उन्होंने इनका मर्म नहीं समझा है। आत्मबल के प्रति अनास्था ही इसका प्रधान कारण है।

शील-धर्म के पश्चात् तप-धर्म है। तप में क्या शक्ति है, सो उनसे पूछो जिन्होंने छह-छह महीने तक निराहार रह कर घोर तपश्चरण किया है और जिनका नाम लेने मात्र से हमारा हृदय निष्पाप, एवं निस्ताप बन जाता है! तप में क्या बल है, वह उस इन्द्र से पूछो जो महाभारत के कथनानुसार अर्जुन की तपस्या को देखकर काँप उठा था और जिसने अर्जुन को एक दिव्य रथ प्रदान किया था।

कहते हैं, अर्जुन की तपस्या से इन्द्र काँप उठा। उसने मातलि को रथ लेकर अर्जुन के पास भेजा। मातलि अर्जुन के पास रथ समेत पहुँचा और बोला—धनञ्जय! इन्द्र आपके तप से प्रसन्न हैं। आप इस रथ के योग्य हैं; अतएव इसमें आप बैठिए। बहुत लोगों ने ससार के बहुत से काम किये हैं, पर यह रथ किसी को नहीं मिला। मगर तप के प्रताप से आज यह रथ आपको भेंट किया जाता है।

इस कथन में अलंकार-भाषा का प्रयोग है। वस्तुतः यह शरीर ही रथ है और इस रथ में जुतने वाले अश्व इन्द्रियाँ हैं। तप के प्रभाव से अर्जुन को एक विशिष्ट प्रकार के रथ की प्राप्ति हुई, जिसमें तपोधनी ही बैठ सकते हैं।

चक्रवर्त्ती भरत महाराज के पास सेना, अस्त्र-शस्त्र, और शरीर के बल की कमी नहीं थी। लेकिन जब युद्ध का समय आता था, तब वे तेला करके युद्ध किया करते थे। इसका तात्पर्य

यह हुआ कि तेला का बल चक्रवर्त्ती के समग्र बल से भी अधिक होता है।

तप बडो संसार में, जीव उज्ज्वल होवे रे।
कर्मों रूपी इँधन जले, शिवपुर नगर सिधावे रे ॥तप०॥
तपस्या सूं देव सेवा करे, घरे लक्ष्मी पिण आवे रे।
ऋद्ध वृद्ध सुख सम्पदा आवागमन मिटावे रे ॥तप०॥

तप की महिमा कहाँ तक कही जाय! संसार में जो भी शक्ति है, वह तप की ही है। संसार तप के बल पर ही ठहरा हुआ है।

आज खान-पान सम्बन्धी तृष्णा बढ़ गई है, लोग जिह्वा को अपने वश में करने के बदले जिह्वा के वश हो रहे हैं। इसी से तप-बल भी कम हो गया है और इसी से संसार कष्ट भोग रहा है। जो स्वेच्छापूर्वक, समभाव से कष्ट नहीं भोगते, उन्हें अनिच्छा से, व्याकुल भाव से, कष्ट भोगना पड़ता है। स्वेच्छा-पूर्वक कष्ट भोगने में एक प्रकार का उल्लास होता है और अनिच्छा-पूर्वक कष्ट भोगने में एकान्त विषाद होता है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहने का परिणाम मधुर होता है और अनिच्छा से कष्ट सहने का नतीजा कटुक होता है।

तप एक प्रकार की अग्नि है जिसमें समस्त अपवित्रता, सम्पूर्ण कल्मष एवं समग्र मलिनता भस्म हो जाती है। तपस्या की अग्नि में तप्त होकर आत्मा सुवर्ण की भाँति तेज से विराजित हो जाती है। अतएव तप-धर्म का महत्त्व अपार है।

इन तीन धर्मों का आचरण करके भावना को पवित्र बनाना

भावधर्म है। भावधर्म व्यापक धर्म है। वह प्रथम के तीन धर्मों में भी विद्यमान रहता है। भावधर्म के अभाव में उक्त तीनों धर्मों का भी अभाव हो जाता है। अतएव भाव-शुद्धि की अनिवार्य आवश्यकता है। इस प्रकार चारों धर्मों को धारण करके अपने जीवन को सफल बनाओ। इसमें ही कल्याण है।

महावीर-भवन, देहली
ता० ९ ५-२१
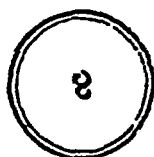
अमोघ धर्म

प्रार्थना

जय जय जगत-शिरोमणि, हूँ सेवक मैं तू धनी।
अब तोसौं गाढ़ी बनी, प्रभु आशा पूरो हम तनी॥
मुझ मिहर करो चन्द्र प्रभु, जग-जीवन अन्तरजामी।
भव दुःख हरो, सुनिये अरज हमारी त्रिभुवन स्वामी॥ मुझ०॥

अन्तगड़सूत्र में जैसे महान् और उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किये गये हैं वैसे आदर्श और किसी साहित्य में शायद ही हों।

प्रत्येक शास्त्र का उद्देश्य अलग-अलग होता है। यही कारण है कि एक ही वस्तु का विभिन्न शास्त्रीय शाखाओं में

विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्णन किया जाता है। धर्म-शास्त्र का कार्य किसी कथा को ऐतिहासिक स्थिति पर पहुँचाना नहीं है। अतएव धर्म-कथा को धर्म की दृष्टि से ही देखना चाहिए, इतिहास की दृष्टि से नहीं। धर्मकथा में आदर्श की उच्चता और महत्ता पर बल दिया जाता है और जीवन-शुद्धि उसका लक्ष्य होता है। इतिहास का लक्ष्य इससे भिन्न है। जैसे स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का परिज्ञान करने में दर्शन-शास्त्र निरुपयोगी है और दार्शनिक दक्षता प्राप्त करने के लिए आयुर्वेद अनावश्यक है, इस प्रकार इतिहास की घटनाएँ जानने के लिए धर्मशास्त्र और जीवन-शुद्धि के लिए इतिहास अनावश्यक है।

अनावश्यक कहने का अर्थ यह न समझा जाय कि दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरोधी हैं। हमारे कथन का आशय यह है कि दोनों की पृथक्-पृथक् दृष्टि है। दोनों अपनी-अपनी सीमा में रह कर बोध प्रदान करते हैं। यद्यपि इतिहास जीवन-शुद्धि में कभी सहायक हो सकता है और धर्मशास्त्र भी इतिहास के ज्ञान में सहायता पहुँचाता है, फिर भी हैं दोनों पृथक्-पृथक्। एक की कसौटी पर दूसरे को कसना भ्रम है और इस भ्रम में पड़कर अनेक लोग सचाई से वंचित हो जाते हैं। अगर इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया जाय तो अनेक आलोचकों को वृथा श्रम नहीं करना पड़ेगा। वे स्वयं भ्रम से बचेंगे और जनता को भी भ्रम में पड़ने से बचा सकेंगे। अस्तु।

संसार-अवस्था के छहों भाई और इस समय एक ही गुरु के छहों शिष्य दो–दो के संघाड़े से देवकी रानी के घर भिक्षा के

लिए पधारे। यह छहों मुनिराज अपने गुरु से आज्ञा लेकर वेले-तेले से पारणा किया करते थे। दो दिन के उपवास के बाद पारणा करना और फिर दो दिन उपवास करना, इसी क्रम से उन मुनियों की तपस्या चल रही थी। फिर भी वे स्वयं गोचरी करने जाते थे। संसार-अवस्था में बड़े कुलीन और धनवान् थे। प्रत्येक ३२-३२ करोड़ मोहरों के स्वामी थे। पर उन मोहरों को तृण की तरह तुच्छ समझ कर उन्होंने त्याग दीं। जो मनुष्य इतनी महान् ऋद्धि का त्याग कर सकता है, वह क्या कभी रोटी के टुकड़ों के लिए लालायित होगा? कदापि नहीं।

द्वारिका नगरी बहुत लम्बी-चौड़ी थी। मुनि किसी के भी घर गोचरी करने जा सकते थे। पर गजसुकुमाळ को घड़ने के लिए एक अदृश्य शक्ति काम कर रही थी। उसी शक्ति की प्रेरणा से, छहों मुनि एक देवकी के घर दो-दो के तीन संघाड़ों में गये।

मुनियों का अभिग्रह भिन्न-भिन्न होता था। एक को दूसरे के अभिग्रह का पता तक नहीं चलता था। वे दो-दो साथ होकर गोचरी के लिए जाते थे। एक युगल कहाँ-किस घर में गोचरी के लिए गया सो दूसरे युगल को माळूम नहीं होता था। उस दिन संयोगवश तीनों युगल देवकी के घर गोचरी करने जा पहुँचे।

जो युगल सब से पीछे देवकी के यहाँ गया था, उसके दोनों मुनियों को देख कर देवकी ने उनसे कहा—'मुझे एक विचार आ रहा है। अगर आपकी स्वीकृति हो तो वह प्रकट करूं। मैं आशा करती हूँ, आप मेरी बात का उत्तर अवश्य देंगे।'

मुनि बोले–'आप जो कहना चाहती हैं, निःसंकोच होकर कहिए।'

देवकी—'इस द्वारिका नगरी में लाखों आदमी धर्म की सेवा करने वाले और सन्तों की सेवा करने वाले मौजूद हैं। मेरा कृष्ण भी राज्य करता हुआ धर्म का प्रचार कर रहा है। ऐसा होते हुए भी मुझे आज यह विचार आ रहा है कि द्वारिकावासी इतने अनुदार और धर्मविमुख क्यों हो गये हैं? उनकी धर्मभावना और दानशीलता कहाँ चली गई है? अगर ऐसा न होता तो मुनियों को अपने नियम के विरुद्ध एक ही घर बार-बार भिक्षा के लिए क्यों आना पड़ता है? मैं अपना अत्यन्त अहोभाग्य मानती हूँ कि मुनिराज मेरे यहाँ गोचरी के लिए पधारे, मगर नगर-निवासी जनों में क्या इतनी भी भक्ति शेष नहीं रही कि मुनियों को आहारदान दे सकें?

प्रजा में यदि धर्म-भावना कम हो जाय तो राजा को समझना चाहिए कि उसमें स्वयं धर्मभाव कम हो गया है। प्रजा अगर मुनि का आदर नहीं करती तो राजा को समझना चाहिए कि वह स्वयं मुनियों का आदर नहीं करता। राजा के पाप का प्रभाव प्रजा पर पड़े बिना नहीं रहता। राजा में जब तक पाप की बुद्धि न आवे तब तक प्रजा म पाप-बुद्धि नहीं आ सकती। अतएव मैं यह जानना चाहती हूँ कि मुनि मेरे यहाँ किस कारण से बार-बार गोचरी करने पधारे हैं? मेरी स्पष्टता के लिए मुझे क्षमा कीजिएगा।'

मुनियों को देवकी की बात सुनते ही यह समझने में विलम्ब न

लगा कि हमारे चार भाई पहले यहाँ गोचरी के लिए आ चुके हैं और इसी कारण देवकी के दिल में यह बात पैदा हुई है। अतएव वे बोले-'जहाँ रानी के चित्त में इतनी अधिक धार्मिक भक्ति विद्यमान है, वहाँ की प्रजा धर्म-विमुख कैसे हो सकती है? जहाँ लौकिक धर्म में भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पाती, वहाँ आत्मिक धर्म में कैसे कमी हो सकती है? महारानी, नगर-निवासियों में धर्मप्रेम की कमी नहीं हुई है और न हम वारम्वार आपके यहाँ आये हैं। पहले जो यहाँ आये होंगे वह हमारे साथी दूसरे मुनि थे। हम दूसरे हैं। वे हम नहीं है और हम वे नहीं हैं।'

देवकी-मुनिराज! आपका स्पष्टीकरण सुनकर मुझे संतोष है। आपका और उनका रूप-रंग आदि सब समान है। यही देखकर मैंने समझा था कि वही-वही मुनिराज मेरे घर पुनः पुनः आ रहे हैं। मैं इसके लिए क्षमा की याचना करती हूँ। आप सब महाभागी मुनियों का एक-सा रूप-यौवन देखकर मैं चकित रह जाती हूँ। वह कौन-सी पुण्यशालिनी और सौभाग्यभागिनी माता होगी जिसने आप सरीखे सुपुत्रों को जन्म दिया है? आप छहों मुनि भाई-भाई जान पड़ते हैं। जब आप सब ने मुनिदीक्षा धारण की होगी तब उस माता के अन्तःकरण की क्या दशा हुई होगी? आपके वियोग को उसने किस प्रकार सहन किया होगा? मैंने आपको थोड़ी-सी देर देखा है, फिर भी मेरे हृदय में भक्तिभाव के अतिरिक्त वात्सल्य का भाव उमड़ रहा है। मैं न जाने किस अनिर्वचनीय अनुभूति का आस्वादन कर रही हूँ। तब आपको जन्म देने वाली माता की क्या अवस्था होगी?

आपके माता-पिता ने किस हृदय से आपको दीक्षा धारण करने की आज्ञा दी होगी ! आपको संयम-पालन की आज्ञा देने वाले वे कैसे होंगे ! उनका हृदय न जाने कैसा होगा ! प्रथम तो इस अवस्था में ही संयमी होना दुष्कर कार्य है, तिस पर इस दिव्य रूपसम्पत्ति के होते हुए संयम अंगीकार करना तो और भी कठिन है ।

आपका रूप-रंग कृष्ण से जरूर मिलता है। कृष्ण के अतिरिक्त मुझे तो कोई और दिखाई नहीं देता, जिसके साथ आपके रूप की सदृशता हो सके। कृपा कर मुझे बतलाइए कि आपका जन्म कहाँ हुआ था ? आपके माता-पिता का क्या नाम था ? और आपके घर की क्या स्थिति थी ? आपने किस तात्कालिक कारण से संयम स्वीकार किया है ?

साधारणतया कोई भी शिष्ट पुरुष आत्म-प्रशंसा नहीं करता। फिर मुनिराज अपनी प्रशंसा आप कैसे कर सकते हैं ? फिर भी जहाँ परिचय देना आवश्यक हो और उस परिचय में ही प्रशंसा-सी ओतप्रोत हो तो क्या उपाय है ? अतएव मुनि बोले—'महारानी, भद्दलपुर नामक नगर में हमारा जन्म हुआ था। हमारे पिता का नाम गाथापति नाग था और माता का नाम सुलसा था। हम छहों मुनि उन्हीं के अंगजात हैं। हमारा जन्म होने पर माता-पिता ने लोकोचित सभी संस्कार-व्यवहार किये। छहों भाइयों को बड़े-बड़े धनाढ्य सेठों ने अपनी-अपनी कन्याएँ प्रदान कीं।

कुछ दिनो के अनन्तर भद्दलपुर में भगवान् अरिष्टनेमि

पधारे। हमें भगवान् के प्रवचन को श्रवण करने का सौभाग्य मिला। उस प्रवचन के श्रवण से हमारा विवेक जागृत हुआ और संसार से विरक्ति हो गई। तब से ऐसा मालूम होने लगा कि संसार जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर एवं निस्सार है। इस विरक्ति भावना से प्रेरित होकर हमने भगवान् अरिष्टनेमि के चरण-शरण में जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली है। हम शरीर में रहते-रहते घबड़ा उठे हैं। चाहते हैं कि इस सुन्दर शरीर से सिद्ध होने वाले प्रयोजन को साधकर इसका भी त्याग कर दें। अतएव हम छहों ने बेले-बेले पारणा करने का निश्चय किया है। यों तो भगवान् के अनुग्रह से, स्थविर मुनि की सेवा में रहकर हमने बारह अंगों का अध्ययन किया है और श्रुतकेवली हुए हैं, परन्तु पूर्वोर्जित कर्मों का क्षय करने के लिए इस विशेष तपस्या को अपनाया है।'

मित्रों! मुनियों के इस कथन से स्पष्ट है कि श्रुतकेवली भी तपस्या करते हैं। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि तप का कितना माहात्म्य है! तप का वर्णन किया जाय तो वाणी को कभी विश्राम न मिले और फिर भी तप का वर्णन अधूरा ही रह जाय। आजकल के अधिकांश लोग तप के प्रति अभिरुचि से हीन हैं और खाने-पीने को ही जीवन का आधार बनाये बैठे हैं। परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि तप भी शरीर का आधार है। शरीर को रखने के लिए तप की भी आवश्यकता है। अनेक यूरोपीय चिकित्सक शारीरिक व्याधियों का निवारण करने के लिए उपवास-चिकित्सा-पद्धति का आश्रय लेते हैं और उपवास भी तप का एक अंग है।

मगर जैनसमाज आजकल भी अपनी परम्परा निभाये जा रहा है। उसमें आज भी अनेक विकट तपस्वी मौजूद हैं। इन तपस्वियों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि पंचम काल में, हीन संहनन वाले इस युग में भी, ऐसे-ऐसे तपस्वी विद्यमान हैं, तो सुदृढ़ संहननवाले समय में, तीर्थंकर की मौजूदगी में-चौथे आरे में-भला कैसे उद्भट तपस्वी होंगे !

जिस साल मैंने जलगांव में चातुर्मास किया था, उस साल गांधीजी ने इक्कीस दिन का उपवास किया था। सुनते हैं किसी ने गांधीजी से प्रार्थना की कि आपका शरीर पहले से ही दुबला-पतला है। अब उपवास करके उसे अधिक सुखाना उचित नहीं है। अतएव यह उचित होगा कि आप उपवास करना छोड़ दें और उचित परिमाण में भोजन किया करें।

गांधीजी ने क्या उत्तर दिया, आप जानते हैं ? उन्होंने कहा-'फिर यों कहो कि जीना ही छोड़ दो !'

गांधीजी के उत्तर का आशय स्पष्ट है कि, मैं भोजन पर ही नहीं जी रहा हूँ, बल्कि उपवास पर भी जी रहा हूँ।

भोजन ही अगर शरीर का आधार है तो आप आठों प्रहर खाते क्यों नहीं रहते ? अगर आप आठों प्रहर खाते रहें तो जानते हैं उसका फल क्या होगा ?

'मौत हमें खा जायगी।'

अधिकांश रोगी, भोजन करने से ही रोगी होते हैं। वैद्यों, हकीमों और डाक्टरों की संख्या में दिनों-दिन जो वृद्धि हो रही है, उसका प्रधान कारण भोजन के प्रति असावधान रहना ही है।

भोजन जीवन का साथी बन गया है, अतएव भोजन ने अपने साथी रोग को भी जीवन का सहचर बना रक्खा है। लोग खाने में गृद्ध हैं और शरीर को चिकित्सकों के भरोसे छोड़ रक्खा है। इस भावना ने इस लोक को भी बिगाड़ रक्खा है और परलोक को भी। इस भोजन के भूत ने बहुत कुछ चौपट कर दिया है।

तात्पर्य यह है कि तप दोनों लोकों में से किसी भी लोक के लिए निरर्थक नहीं है। उससे इस लोक में भी लाभ होता है और परलोक में भी कल्याण होता है। देवकी के घर आये हुये महात्मा इसी कारण बेले बेले पारणा करते थे। संयम और ब्रह्मचर्य की पूर्ण रूप से साधना, तप के बिना नहीं हो सकती।

उन मुनि ने कहा—'हम छहों भाई बेले-बेले का पारणा कर रहे हैं। आज हमारे पारणे का दिन था, अतएव हमने दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया, दूसरे प्रहर में ध्यान किया और उसके पश्चात् भगवान् की आज्ञा लेकर छहों भाई तीन संघाड़ों में विभक्त होकर, पृथक्– पृथक् भिक्षा के अर्थ नगरी में निकले। यद्यपि चलते समय आपके यहाँ आने का कोई इरादा नहीं किया था, फिर भी फिरते-फिरते आपके भाग्य से यहाँ आ पहुँचे हैं। द्वारिका में मुनियों के लिए भिक्षा की कमी नहीं है और हम लोग दूसरी या तीसरी बार यहाँ नहीं आये हैं। दैवयोग से ही -सब तुम्हारे यहाँ आगये हैं।'

इतना कह कर मुनि वहाँ से चल दिये। देवकी विस्मित भाव से उन मुनियों की ओर देखती रही।

जब मुनि थोड़ी दूर चले गये तब देवकी सिंहासन पर बैठ

कर सोचने लगी कि मुझे इस बात में किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है कि—

जो भाषे वर कामिनी, जो भाषे अणगार।
जो भाषे बालक कथा, संदेह नहीं लगार॥

चाहे सुमेरू डिग जाय पर सत्यवती स्त्री की कही हुई बात मिथ्या कदापि नहीं हो सकती। इसी प्रकार जिन्होंने मन, वचन, काय से मिथ्या-भाषण का परित्याग कर पूर्ण रूप मे निरवद्य सत्य-भाषण का व्रत ग्रहण किया है उन अनगार महात्माओं के मुख से निकली हुई बात भी सत्य ही होगी। छल-कपट से अनभिज्ञ, सरल-हृदय बालक भी जो बात कहता है वह झूठी नहीं हो सकती।

ऐसा होते हुए भी मेरे मन में एक सन्देह हो रहा है। जब मैं अपने पिता के घर थी तब मेरे चचेरे भाई, जो मुनि हो गये थे और जिनका नाम अतिमुक्तक था, एक बार गोचरी के लिए पधारे थे। उस समय मेरी भौजाई—कंस की पत्नी—ने अभिमान दिखलाते हुए कहा था कि—'तुम राजवंश में उत्पन्न होकर भी भिक्षुक हुए हो! क्या भीख माँग कर खाना क्षत्रिय का धर्म है! तुम्हारा यह वेश देख-देख कर हमें लाज लगती है। इसे छोड़ो, राजोचित वस्त्राभूषण धारण करो।' भौजाई की यह बात सुनकर उत्तर देते हुए मुनिराज ने मेरे आठ अनुपम पुत्रों के होने की बात कही थी। वह बात कैसे मिथ्या ठहर रही है? मैं अपने आपको भाग्यशालिनी मानती थी, पर नहीं. भाग्यशालिनी माता वह है जिसने इन छह मुनियों को

अपनी कोंख से जन्म दिया है। मैं भला काहे की भाग्यशालिनी हूँ, जिसने अपने पुत्रों को जन्म देकर भी उनका मुख तक न देख पाया ! उस समय मुख देखती भी क्या ! जानती थी दूसरे ही क्षण वे यमराज के अतिथि बनने जा रहे हैं। उस दशा में भला मुख देख कर क्यों अपने हृदय को जलाती ! हे परमात्मा ! वह समय स्मरण आते ही अब भी रोम-रोम थर्रा उठता है।

इस प्रकार देवकी अपने अभाग्य पर देर तक विचार करती रही और मन ही मन सुलसा के सौभाग्य की सराहना करती रही, जिसने साकार सौन्दर्य के समान छह सुयोग्य पुत्रों को जन्म दिया ! *

विचार करते-करते उसे ध्यान आया कि इस समय भगवान् श्री अरिष्टनेमि यहीं विराजमान हैं। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् समस्त संदेहों का निवारण करने में सर्वथा समर्थ हैं। मैं सन्देह के जाल में क्यों फँसी रहूँ, जब कि उसे निवारण करने का सुगम उपाय मौजूद है। कहा भी है-

संशयात्मा विनश्यति ।

हृदय में जब एक बार संशय रूपी शल्य चुभ जाय तो उसे जितनी जल्दी हो सके, निकाल फैंकना चाहिए। अन्यथा वह शल्य हृदय में चुभता रहता है और बुद्धि को भ्रान्त बना कर जीवन को विनाश के मार्ग में ले जाता है।

सन्देह आग के समान है। जब वह हृदय में भड़क उठता है तो मनुष्य की निर्णायक शक्ति उसमें भस्म हो जाती है और

* इस घटना का वर्णन देखो ता० ५-९-३१ के व्याख्यान में।

मनुष्य किकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। अतएव संशय का अंकुर फूटते ही उसे शीघ्र समाधान के द्वारा हटा देना उचित है। समय पर संशय न हटाया गया और वह बढ़ता गया तो उससे इतनी अधिक कालिमा फैलती है कि अन्तःकरण अन्धकार से पूरित हो जाता है और आत्मा का सहज प्रकाश उसमें कहीं विलीन हो जाता है।

देवकी ने निश्चय कर लिया कि मैं अपने संशय के विषय में भगवान अरिष्टनेमि से अवश्य पूछूंगी। उसने विलम्ब नहीं लगाया और रथ में बैठ कर भगवान् के समीप पहुँची। वहाँ पहुँचते ही उसने विधि के अनुसार भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया।

भगवान् सर्वज्ञता के धनी थे। उन्होंने देवकी के संशय को पहले ही जान लिया था। अतएव उन्होंने देवकी से कहा—'देवकी आज तुम्हारे यहाँ छह मुनि तीन बार आहार लेने गये थे? उन्हें तुमने आहारदान दिया था? और तुम्हारे मन में मुनि अतिमुक्तक के कथन के प्रति संदेह उत्पन्न हुआ था? तुमने अपने आपको भाग्यहीना और सुलसा को सौभाग्य-शालिनी समझा था?'

भगवान् की बात सुन कर देवकी दंग रह गई। वह कहने लगी—'प्रभो! आपसे कौन-सा रहस्य छिपा है? आप सभी कुछ जानते हैं। आपने मेरे मन के विचारों को जान लिया है। मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ, कृपया मेरा संशय निवारण कीजिए।'

भगवान् ने कहा—'देवकी, तुम निश्चय समझो, यह पुत्र

सुलसा के नहीं हैं, तुम्हारे ही हैं। तुम और सुलसा एक ही साथ गर्भवती होती थीं। दोनों के गर्भ में साथ ही साथ बालक भी बढ़ते थे। सुलसा को एक निमित्तवेत्ता ने बताया था कि तुम्हारे उदर से मृत बालकों का जन्म होगा। निमित्तवेत्ता का वृत्तान्त सुनकर सुलसा को बहुत चिन्ता हुई। वह सोचने लगी, इससे संसार में मेरा बड़ा अपयश होगा और मेरे पति सन्तान-हीन रहेंगे। इससे मुझ पर उनका ऋण रह जायगा। मैं भी सन्तान के सुख से वंचित रहूँगी। इस चिन्ता का निवारण करने के लिए सुलसा ने हिरणगमेषी देव की तेला द्वारा आराधना की। सुलसा की तपस्या के प्रभाव से देव आया और सुलसा ने अपनी चिन्ता का कारण उसे सुनाया। सुलसा की बात सुनकर हिरणगमेषी देव ने कहा—'मृत पुत्रों को जीवित करना मेरी शक्ति से परे है। हाँ, मैं इतना करूँगा कि तुम्हें ऐसे पुत्र दूंगा जैसे त्रिलोक में भी दुर्लभ हैं।'

भगवान् ने अपना कथन चालू रखते हुए कहा—'देवकी, तुम्हारे और सुलसा के गर्भ के बालक एक ही साथ उत्पन्न होते थे। पुत्र के प्रसव के समय तुम आँख मूंद लेती थी। उसी समय हिरणगमेषी देव सुलसा का मृत पुत्र लाकर तुम्हारे पास रख देता था और तुम्हारा जीवित पुत्र ले जाकर सुलसा को सौंप आता था। तुम उस मृत पुत्र को आँखें मूंदे ही मूंदे, कंस को सौंपने के लिए राजा वसुदेव को दे देती थीं और वसुदेव भी बिना बालक पर दृष्टि डाले कंस के हवाले कर देते थे। बालक को न तो तुम देखती थीं, न वसुदेव देखते थे। अतएव तुम्हें यह पता नहीं चलता था कि बालक जीवित है या मृत है?

कंस, उन मृत पुत्रों को देख कर अपने पुण्य के प्रकर्ष पर फूला नहीं समाता था। वह सोचता था–'धन्य है मेरा पुण्य, जिसके प्रताप से मुझे मारने वाले स्वयं मरे हुए पैदा होते हैं! मैं कितना तेजस्वी हूँ कि बिना हाथ उठाए ही ये बालक अपने आप काल के गाल में समा जाते हैं।'

कंस के चापलूस सरदार कहा करते थे–'आप के भय के मारे देवकी पीपल के पत्ते की तरह कांपती रहती है। वह सदा भय-विह्वल रहती है और उसी भय के कारण बालक गर्भ में मर जाते हैं।'

कंस बालकों को मरा हुआ देखता था, फिर भी उसे संतोष नहीं होता था और वह उन बालकों को भी पैर पकड़ कर पछाड़ डालता था।

देवकी, इस प्रकार तुम्हारे सब बालक सुलसा के यहाँ चले गये थे। वही यह बालक हैं। अतिमुक्तक मुनि की बात सत्य है, मिथ्या नहीं।'

भगवान् का कथन सुनकर देवकी के आनन्द का पार न रहा। भगवान को उसने वन्दना की और वहाँ पहुँची जहाँ वे छह अनगार थे। यद्यपि ये मुनि वही थे जो देवकी के घर भिक्षा के लिये गये थे और जिन्हें देवकी ने अपने घर पर देखा था; देवकी भी वही थी, फिर भी उसकी तब की दृष्टि से अब की दृष्टि में बड़ा अन्तर था। उस समय सिर्फ भक्ति का भाव था और इस समय वात्सल्य की प्रबलता थी। ज्यों ही मुनियों पर उसकी नजर पड़ी, उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा! आन्तरिक

प्रसन्नता के कारण उसका शरीर फूल गया; यहाँ तक कि उसकी चोली फट गई और उसके स्तनों से दूध की धारा बह निकली। देवकी की बाहें ऐसी फूलीं की चूड़ियाँ भी छोटी पड़ने लगीं। देवकी उस समय बेभान थी। वह भूल गई थी कि मैं साधुओं के सामने हूँ। पुत्रों के सुख से वञ्चिता देवकी को अचानक पुत्र प्राप्त होने पर-और वे भी असाधारण रूप-सम्पत्ति से समृद्ध-इस कारण, वह लोकव्यवहार की भी परवाह न करती हुई एकटक दृष्टि से मुनियों की ओर देखती रही।

मित्रों! देवकी के व्यवहार पर विचार करो तो प्रतीत होता है कि संसार के समस्त संबंध कल्पना के खेल हैं। देवकी पहले भी उन मुनियों की माता थी, मगर उस समय उसे इस बात की कल्पना नहीं थी। भगवान् के कथन से उसे यह खयाल आया तो वह स्नेह से पगली हो उठी! वस्तुतः संसार में अपना क्या है? कुछ भी नहीं। जिसे अपना मान लिया जाता है, वही अपना है। जिसे अपना न समझा, वह पराया है। जो कल तक पराया था वही आज अपना बन जाता है और जिसे अपना मान कर स्वीकार किया जाता है वह एक क्षण में पराया बन जाता है। अतएव अपने-पराये की व्यवस्था केवल कल्पना है। तत्त्वज्ञ पुरुष इस कल्पना का रहस्य समझ कर वैराग्य धारण करते हैं।

देवकी बहुत समय तक मुनियों की ओर टकटकी लगा कर देखती रही। जब उसके स्नेह का नशा कुछ कम हुआ तो उसने सोचा-अब कहाँ तक मैं इन्हें देखती रहूँगी। आज मेरा

सौभाग्य फला-फूला है, कि मैं ऐसे सुयोग्य, सुन्दर एवं संयम-शील साधुओं की माता बनी हूँ! मेरा भाग्य धन्य है, मैं कृतार्थ हुई। इन्हे भी धन्य है जो इस वय में महान् एवं प्रशस्त कार्य में लगे हुए हैं।

इस प्रकार विचार कर देवकी अपने घर लौटी। उसके मन में कुछ विषाद, कुछ संतोष का विचित्र सम्मिश्रण हो रहा था। दोनों के द्वन्द्व के कारण देवकी का दिल उदास, खिन्न और अशान्त बना हुआ था।

घर आते ही देवकी चिन्ता मे डूब गई। भोजन के अभाव में भूख सहन करना सरल है पर जब भोजन सामने रक्खा हो उस समय उसे सह लेना बड़ा कठिन है। वह सोचने लगी-मेरे सौभाग्य पर दुर्भाग्य की कैसी काली छाया पड़ी हुई है! असाधारण पुत्र-रत्नों को जन्म देकर मेरा सौभाग्य कितना ऊंचा है पर हाय! उन्हें जन्म देना न-देने के ही समान हो गया! सात पुत्रों का मैंने प्रसव किया, मगर एक के साथ भी मैं मातृधर्म का निर्वाह न कर सकी।

मैंने शिशुओं के सरल और स्वच्छ स्मित से अपना मातृत्व सार्थक न कर पाया! उनकी अस्फुट तोतली वाणी सुन कर अपने श्रुतिपुटों में अमृत न भर पाया। डगमगाती चाल देखकर नेत्रों को सार्थक न किया।

माता के हृदय में एक प्रकार की अग्नि जलती रहती है, जो पुत्र-वात्सल्य से ही शान्त होती है, वह अग्नि आज भी मेरे हृदय में धधक रही है। मैंने अपने बालकों को अपने स्तनों का

पान भी नहीं कराया, जिससे कि उनमें मैं अपनी आत्मीयता स्थापित कर पाती।

मैं हतभागिनी हूँ। मुझ-सी माता इस मही-मंडल पर दूसरी कौन होगी ? मेरे सात पुत्र जन्मे। उनमें से छह तो सुलसा के यहाँ चले गये और सातवें पुत्र कृष्ण को यशोदा के घर गोकुल में भेज देना पड़ा। इस प्रकार मैं अपनी सन्तान के साथ मातृधर्म का जरा भी पालन न कर सका।

देवकी की इस चिन्ता में एक ओर मोह की चेष्टा दिखाई देती है और दूसरी ओर कर्त्तव्यपालन की चेष्टा। माता का पुत्र पर मोह होता अवश्य है, पर वह बालक की जो सेवा करती है वह मोह से प्रेरित होकर नहीं, किन्तु करुणा की प्रेरणा से। बालक पर करुणा करना, वह अपना कर्त्तव्य समझती है। ज्ञाता-सूत्र में मेघकुमार के अधिकार में यह बात स्पष्ट की गई है।

देवकी की चिन्ता में मोह की चेष्टा का अभाव है, यह तो कहा नहीं जा सकता, लेकिन उससे एक बात स्पष्ट लक्षित होती है। वह यह है कि देवकी सोचती है—या तो पुत्र उत्पन्न ही न कर के ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहिए था, और जब मैंने बालक उत्पन्न किये हैं—मोह का पाप किया है—तो उनका पालन-पोषण करके उन पर दया भी करनी चाहिए थी, जिससे वह मोहजन्य पाप कम हो। माता पुत्र की सेवा करके उसे जन्म देने के पाप को कम करती है। देवकी सोचती है—मैंने जन्म देने का पाप तो किया लेकिन उस पाप के प्रायश्चित के रूप में उनके पालन-पोषण की दया नहीं की; अतएव मेरा जन्म धिक्कार

है। मैं वसुदेव की प्रियतमा रानी और कृष्ण की आदरणीया माता होकर भी हतभागिनी हूँ—पुण्यहीना हूँ !

महापुरुषों की चिन्ता निष्फल नहीं जाती। देवकी की चिन्ता भी व्यर्थ न हुई। देवकी चिन्तामग्न बैठी ही थी कि इसी समय कृष्णजी महाराज उनके चरण-वन्दन के लिए आ उपस्थित हुए।

महाराज कृष्ण भरतक्षेत्र के तीन खंडों के नाथ हैं। महापुरुषों में जितनी ख्याति कृष्ण की है, उतनी किसी दूसरे महापुरुष की नहीं है, भले ही ख्याति के विषय और क्षेत्र पृथक्-पृथक् हों। किसी न किसी रूप में, हरेक व्यक्ति कृष्णजी को मानता ही है। जैनधर्म में भी कृष्णजी को 'पुरुषोत्तम' माना गया है। कृष्ण जैसे महापुरुष भी अपनी माता को प्रतिदिन प्रणाम करते हैं। लेकिन आजकल के अनेक पुत्र, अपनी जन्म देने वाली—दुष्करकारिणी—माता का भी अपमानित करने से नहीं चूकते। माता जो दुष्कर कार्य अपने पुत्र को उत्पन्न करके करती है, वैसा कोई और नहीं कर सकता। अगर कोई किसी कुलीन स्त्री से कहे कि हम हजार रुपये देने को तैयार हैं, तुम हमारे बालक की अशुचि साफ कर दो, तो क्या वह स्त्री रुपयों के लोभ से ऐसा करने को तैयार होगी ?

'नहीं !'

किसी लोभिनी की बात निराली है। अन्यथा रुपया लेकर अशुचि उठाने के लिए शायद ही कोई स्त्री तैयार होगी। मगर वही प्रतिष्ठित और कुलीन स्त्री अपने बालक की अशुचि उठाने में क्या तनिक भी शंकित होती है ?

'नहीं ।'

मल-मूत्र उठाने का उत्तरदायित्व माता का समझा जाता है। अगर किसी के बालक ने कहीं मल-मूत्र कर दिया हो, तो उसकी सफाई के लिए उसकी माता की खोज की जाती है। माता बिना किसी संकोच के, यह कार्य इतने प्रेम से करती है कि उतने प्रेम से शायद कोई दूसरा उसे नहीं कर सकता।

जब मेरे माता-पिता नहीं रहे थे तो मैं अपनी ननहाल मे रहता था। मेरे सांसारिक मामाजी सम्पन्न थे और प्रतिष्ठित भी थे। एक बार मेरी सांसारिक मामीजी कार्यवश बाहर चली गई और अपनी छोटी लड़की को झूले में सुला कर, उसकी देखरेख की जवाबदारी मेरे सिर डाल गई। उस समय मैं बालक था। मामीजी की अनुपस्थिति में उस लड़की ने अशुचि की। अशुचि करके वह रोने लगी और रोते-रोते उसने अपना सारा शरीर अशुचि से भिड़ा लिया। ऐसे मौके पर मैं देखते रहने के सिवाय और क्या कर सकता था ?

मामाजी वहाँ आये। मैंने यह घटना उनसे कही। उन्होंने लड़की को उठा लिया और धोने लगे। मामाजी उसे धोते थे और मैं पानी डालता था। मामाजी लड़की को धो रहे थे पर मुझ पर वे इतने क्रुद्ध हो रहे थे कि सब बातों के लिए मुझे ही दोषी बनाते जाते थे। उस समय उनकी मुख-मुद्रा विचित्र थी। मामाजी की बातें सुन कर उस समय तो मुझे कुछ विचार नहीं हुआ, लेकिन आज सोचता हूँ कि जिसकी लड़की थी, वह पिता भी अशुचि साफ करने में इतना घबराया तो दूसरा आदमी कितना न घबराएगा !

तात्पर्य यह है कि माता के समान पिता भी सन्तान का पालन-पोषण नहीं कर सकता। माता भोजन कर रही हो और सन्तान उस समय अशुचि कर दे तो वह थाली एक ओर सरका कर उसी समय दौड़ेगी और बालक को पहले सँभालेगी। यह समर्पण का भाव, माता के सिवाय और किसमें है ?

देवकी इसी मातृ कर्त्तव्य का विचार करके चिन्तित हो रही है। उसे अपने कर्त्तव्य के पालन करने का अवसर नहीं मिला, यह बात देवकी के दिल में कांटे की तरह चुभ रही है। यह कहा जा सकता है कि माता राग से प्रेरित होकर ही सन्तान की अशुचि उठाती है और उसका पालन-पोषण करती है; परन्तु मैं पूछता हूँ कि आप जो दान देते हैं या सामायिक करते हैं, सो क्या वीतराग बनकर करते हैं ? राग तो दसवें गुणस्थान तक बना रहता है। हाँ, वह राग प्रशस्त होता है, वह विषयवासना के लिए नहीं होता। इसी प्रकार राग तो देवकी में भी है, मगर वह राग विषय के लिए नहीं—कर्त्तव्यपालन के लिए है।

माता के असीम उपकार को ध्यान में रख कर श्रीकृष्ण प्रतिदिन अपनी माता देवकी को प्रणाम करते थे। वास्तव में सन्तान पर माता का असीम उपकार है। माता-पिता का इतना अधिक उपकार बताया गया है कि यदि सन्तान अपने माता-पिता को कंधे पर बैठाये फिरे तब भी वह उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकती। भला जिन्होंने तन दिया है, तन को पाल-पोस कर सबल बनाया है, जिन्होंने अपना सर्वस्व सौंप दिया है, उनके उपकार का प्रतिकार किस प्रकार किया जा सकता है ?

जब श्रीकृष्ण देवकी के समीप आये तो उन्होंने देवकी को उदास पाया। उसे उदास देखकर कृष्णजी कहने लगे—'माताजी, मैं नित्य आता था तब तो तुम बड़े दुलार से भरी हुई दृष्टि से मुझे देखती थीं, मेरे सिर पर हाथ फेरती थीं और मुझे आशीर्वाद देती थीं। मगर आज आपके मुख पर वह प्रफुल्लता नहीं है। वह शान्ति नहीं दिखाई देती। आप किस कारण से चिन्ता में डूबी हुई हैं? आज आपने मेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा, जैसे मेरे आने की आपको खबर ही न पड़ी हो। कृपा कर मुझे समझाइए, आपकी चिन्ता का कारण क्या है?'

कृष्णजी की स्नेह और आदर से भरी बात सुनकर देवकी के दिल में जो दुःख भरा हुआ था वह उबल पड़ा। उसके हृदय में तूफान-सा जाग उठा। वह रोने लगी।

श्रीकृष्ण—'माताजी, आज मैं यह क्या देख रहा हूँ? आपके रोने का क्या कारण है? कृपा कर मुझे बतलाइए।'

देवकी—'वत्स, मैं अपने छह पुत्रों को मरा समझती थी। पर ऐसी बात नहीं है। आज तुम्हारे वे छहों भाई यहाँ आये थे। वे भगवान् नेमिनाथ के समीप दीक्षित होकर मुनि बन गये हैं। भगवान् ने उनके विषय में मुझे बताया कि वे मरे नहीं थे, वरन् सुलसा के यहाँ बड़े हुए हैं।' देवकी ने भगवान् नेमिनाथ से सुना हुआ वृत्तान्त आद्योपान्त श्रीकृष्ण को कह सुनाया।

सोले वरस थाने पणे कन्हैयालाल,
तू बध्यो गोकुल माँय रे गिरधारीलाल।

परब दिवस तुझ पारवती कन्हैयालाल,
आती दर्शन काज रे, गिरधारीलाल ॥

हूँ तुझ आगळ सूं कहूँ कन्हैयालाल,
वीतग दुखड़ा नो थाग रे गिरधारीलाल ।

दु.खिनी तो जग में छे घणी कन्हैयालाल,
पिण दु.खिनी थारी माय रे गिरधारीलाल ॥

'हे कन्हैया ! मैं तुझे क्या बताऊँ ! तेरे सोलह वर्ष गोकुल में बीते । जब मेरा मन नहीं मानता था, तब त्योहार का मिष करके जाती थी और तुझे देख आती थी । यद्यपि तुम्हारे पिताजी अक्सर रोका करते थे कि बार-बार जाने से पुत्र के प्रगट हो जाने की आशंका है, फिर भी मैं उनसे आज्ञा ले ही लेती थी। तुझे देख देख कर मेरा हृदय तृप्त नहीं होता था । जब तेरे ऊपर नजर पड़ती तो मैं अपने आपको धिक्कारने लगती थी कि मैंने तुझे जन्म तो दिया है पर तेरे प्रति अपना धर्म पालन नहीं किया । मातृ-कर्त्तव्य के पालन से मैं वंचित रही । इस प्रकार तुम्हारा पालन-पोषण तो गोकुल में हुआ और वे छह पुत्र सुलसा के घर बड़े हुए । यही सोचकर मेरा दुःख उमड़ पड़ा है कि संसार में मुझ-सी दुःखिनी माता दूसरी कौन होगी? मेरे दुर्भाग्य की बराबरी कोई नहीं कर सकता और दैव किसी को ऐसा दुःख न देवे ! ओह ! सात पुत्रों में से किसी को भी खिलाने, खेलाने, नहलाने, धुलाने का अवसर मुझे न प्राप्त हो सका । आज यह चिन्ता विशेष रूप से उमड़ पड़ी है, इसी कारण मेरा मन स्वस्थ नहीं है ।'

कृष्णजी ने कहा—'माताजी, आप इसके लिए चिन्ता क्यों कर रही हैं ? यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मेरे छह भाई कंस के शिकार न बने और वे सकुशल जीवित हैं। उन्हें तुम देख आई हो। वे भगवान् नेमिनाथ के चरणकमलों के भ्रमर हैं। यद्यपि इस परिस्थिति में, माता के भावुक और कोमल हृदय को कष्ट पहुँचना अस्वाभाविक नहीं है, पर लीजिए मैं आपकी आकांक्षा पूरी करता हूँ। मैं छोटा सा बालक बनता हूँ, आप अपनी आकांक्षाएँ पूर्ण कर लीजिए।'

यह कह कर कृष्णजी बालक बन गये। देवकी को जाने मनमानी मुराद मिल गई। बड़ी प्रसन्नता के साथ उसने कृष्ण को नहलाया, धुलाया, खिलाया-पिलाया और कपड़े पहनाये।

अन्त में कृष्ण ने सोचा—'माता का हृदय बच्चे से कभी तृप्त नहीं हो सकता। माता के हृदय में बहने वाला वात्सल्य का अखंड झरना कभी सूख नहीं सकता। वह सदैव प्रवाहित होता रहता है। अग्नि जैसे ईंधन से कदापि तृप्त नहीं होती वरन् ईंधन पाकर वह अधिकाधिक प्रज्वलित होती है उसी प्रकार माता का प्रेम, सन्तान से कभी तृप्त नहीं होता। वह सन्तान पाकर निरन्तर बढ़ता ही चला जाता है। माता का प्रेम सदा अतृप्त रहने के लिए है। और उसकी अतृप्ति में ही शायद जगत् की स्थिति है। जिस दिन मातृहृदय सन्तान-प्रेम से तृप्त हो जाएगा, उस दिन जगत् में प्रलय हो जायगा। मेरा कोई भी प्रयत्न उसे तृप्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त मेरे माथे पर इतनी अधिक जिम्मेदारियाँ हैं कि मैं अगर बहुत दिनों तक बालक ही बना रहूँ तो काम नहीं चलने का।'

इस प्रकार सोच-विचार कर कृष्ण ने देवकी से कहा—'मैया, मैया, दूद (दूध) ला। मैं दूद पिऊँगा।'

देवकी के घर दूध की कमी नहीं थी। वह मुस्किराती हुई उठी और दूध ले आई।

तब कृष्ण बोले—'दूद में मीथा (मीठा) नहीं है। यह तो फीका है। इसमें थोरा-सा मीथा और मिला।'

देवकी ने दूध में थोड़ी-सी शक्कर और डाल कर कृष्ण को दिया। कृष्ण ने उसे ओठों से लगाया और नाक-भौं सिकोड़ कर बोले—'छिः छिः, इसमें तो भौत मीथा हो गया। थोरा-सा मीथा इसमें से निकाल ले।'

देवकी ने कृष्ण को बहुत समझाया-बुझाया कि भैया, अब इस दूध में से मीठा नहीं निकल सकता। मैं दूसरा दूध ला देती हूँ। मगर कृष्ण कब मानने वाले थे? उनकी नस-नस में नट-खटाप भरा था। वे मचल पड़े—न दूसरा दूध पीएँगे, न इतना अधिक मीठा पड़ा दूध पीएँगे, पर दूध पीए बिना न मानेंगे! उनके हठ के सामने देवकी हैरान थी। कृष्ण ने देवकी को थोड़ी ही देर में इतना परेशान कर दिया कि वह कहने लगी—मैं भर पाई, बस माफ करो!

कृष्ण ने फिर अपना असली रूप धारण कर लिया। देवकी ने पूछा—तुम अब तक कहाँ थे? और वह बालक कृष्ण कहाँ गया?

कृष्ण ने कहा—वही मैं हूँ और मैं ही वह था। और मैं यहीं मौजूद हूँ। मैं कहीं नहीं गया।

देवकी—तो तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि दूध में से फिर शक्कर नहीं निकल सकती ?

कृष्ण—आप यह बात जानती हैं। बेचारा अबोध बालक इसे क्या समझे ? माताजी, जिस प्रकार दूध में पड़ी शक्कर निकल नहीं सकती, और उसे निकालने का प्रयत्न करना निरर्थक है, इसी प्रकार जो बात बीत चुकी है, उसके लिए दुःख मनाना भी निरर्थक है।

देवकी—बेटा कृष्ण, बात तो सही है। पर दिमाग़ के लिए ही यह सही है, वही इसे मानता है। हृदय मानने को तैयार नहीं होता। हृदय तो यही चाहता है कि मुझे एक और पुत्र की प्राप्ति हो, जिससे मैं अपने मातृत्व को चरितार्थ कर सकूं ! ऐसा हुए बिना वह अतृप्त रहेगा—अस्वस्थ रहेगा। उसे मनाना मैं अपनी सामर्थ्य से बाहर पाती हूँ। न जाने निसर्ग ने किन उपादानों से जननी के अन्त करण का निर्माण किया है !

कृष्ण—माताजी, आपकी यह अभिलाषा पूरी होगी। मेरा छोटा भाई अवश्य जन्म लेगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मेरा छोटा भाई न हो, तो मेरी तपस्या निष्फल है।

कृष्ण की प्रतिज्ञा सुन कर देवकी को पूरा भरोसा हो गया। उसकी चिन्ता दूर हो गई। उसे पूर्ण विश्वास था कि कृष्ण की प्रतिज्ञा कभी अधूरी नहीं रह सकती। उसकी सामर्थ्य में शंका नहीं की जा सकती। जब उसने प्रतिज्ञा की है तो अवश्य ही मेरा मनोरथ पूर्ण होगा।

कृष्णजी प्रतिज्ञा करके देवकी के पास से चले गये। वे

सोचने लगे—'अब मुझे क्या करना चाहिए, जिससे मेरा छोटा भाई जन्मे और मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति हो। इस दुष्कर कार्य की सिद्धि के लिए दैवी सहायता की आवश्यकता है और देव तपस्या से प्रसन्न हो सकते हैं। इस प्रकार विचार कर कृष्ण ने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए हिरणगमेषी देव का स्मरण करना और तेला की तपस्या करना निश्चय किया। उन्होंने सोचा—जब सुलसा का प्रयोजन हिरणगमेषी देव ने सिद्ध कर दिया तो मेरा प्रयोजन क्यों नहीं सिद्ध होगा ?

यह निश्चय करके कृष्णजी पौषधशाला में गये। अपने हाथ से पौषधशाला का प्रमार्जन करके, घास का संस्तारक बिछाकर तेले की तपस्या अंगीकार करके बैठ गये।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि कृष्ण ने अपने छोटे भाई के जन्मने के लिए तेला किया था; यह कोई आध्यात्मिक प्रयोजन नहीं है, सांसारिक प्रयोजन है। फिर उनके तेले को पौषध क्यों कहा गया है ?

वास्तव में जब किसी विषय में शंका उत्पन्न हो जाय तो उसका निवारण करने के लिए प्रश्न उचित है। बिना पूछे समाधान नहीं हो सकता। शास्त्र में कहा है—'पुच्छियट्ठा।' अर्थात् पूछ कर—शंका करके पदार्थों का निश्चय करने वाले।

शंका यद्यपि समकित के अतिचारों में प्रथम है और जिन भगवान् के वचन में शंका करने से सम्यक्त्व दूषित हो जाता है; पर उस शंका में और इस प्रकार की शंका में बड़ा अन्तर है। सम्यक्त्व को दूषित करने वाली शंका अश्रद्धापूर्वक होती है और

यह शंका श्रद्धायुक्त होती है। उस शंका में मनुष्य का भाव ऐसा होता है कि न जाने भगवान् का कथन समीचीन है या नहीं? इत्यादि। श्रद्धापूर्वक की जाने वाली शंका में मूल पदार्थ का पूर्ण निश्चय होता है। जिन-वचन पर सम्पूर्ण प्रतीति होती है। केवल किसी वस्तु के ठीक-ठीक न समझ में आने से उसकी जिज्ञासा होती है। वह शंका अश्रद्धा से प्रेरित होती है, और यह जिज्ञासा—जानने की इच्छा—से प्रेरित होती है। जिज्ञासा से प्रेरित शका सम्यक्त्व का दूषण नहीं है; वरन् उसे निर्मल और प्रगाढ़ बनाने का साधन होने के कारण भूषण है। अतएव इस प्रकार शंका करने में संकोच नहीं करना चाहिए। सरल भाव से जिज्ञासा-पूर्वक प्रश्न पूछने से नवीन बोध प्राप्त होता है और अन्त करण का पशोपेश दूर हो जाता है। अस्तु।

प्रकृत प्रश्न का समाधान यह है कि—भक्ति चार प्रकार की होती है। चार प्रकार की भक्ति करने वाले भक्त भी चार प्रकार के होते हैं। चारों प्रकार के भक्त इन नामों से पुकारे जाते है—आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी।

चिन्ताओं से ग्रस्त होकर, दुःख से अभिभूत होकर भक्ति करने वाला भक्त 'आर्त्त' कहलाता है। किसी कामना से प्रेरित होकर भक्ति करने वाला भक्त 'अर्थार्थी' है। ईश्वरीय स्वरूप को साक्षात् करने और उसे जानने के लिए भक्ति को साधन बना कर भक्ति करने वाला 'जिज्ञासु' कहा जाता है। और आत्मा तथा परमात्मा में अभेद मान कर आत्मा-परमात्मा की एकता

निश्चित कर—भक्ति करने वाला 'ज्ञानी' है। इन चारों प्रकार के भक्तों की भावना में भेद है, तथापि चारों ही भक्त उदार हैं। आर्त्ति (पीड़ा) होने पर भी और अर्थ की कामना से प्रेरित हो करके भी वे किसी नीच देवता को पूजने, उसे प्रसन्न करने नहीं गये। वे यही सोचते हैं कि हमारे सिर पर आई हुई पीड़ा का निवारण अथवा जो हमारा काम्य है वह, भक्ति से ही प्राप्त होगा। हमें जो अभीष्ट है उसे धर्म से ही माँगेंगे, दूसरे से क्यों माँगें ?

एक बेटा अपनी माता से रोटी माँगता है और दूसरा किसी वेश्या के घर जाकर माँगता है। कहिए, इन दोनों में कुछ अन्तर है या नहीं ?

'बहुत अन्तर है।'

यदि पुत्र माता से किसी प्रकार की याचना न करके उसकी सेवा करे तो अत्युत्तम है। यदि आवश्यकता पड़ने पर—कभी घबरा करके माँ से माँग करे तो भी कोई बुरी बात न कहलाएगी। वह भूख से घबरा करके भी दूसरे के पास रोटी माँगने नहीं गया, यह तो उसका गुण ही कहलाएगा। इसी प्रकार कई आर्त्त या अर्थार्थी पुरुष अनेक कुदेवों और कुगुरुओं के पास जाते हैं और जहाँ हजारों बकरे कटते हैं—हजारों पशुओं का निर्दयतापूर्वक बलिदान किया जाता है, वहाँ भी अपना मस्तक रगड़ते हैं। ऐसा करना अपनी माँ को छोड़ कर वेश्या से रोटी माँगने के समान है। कृष्ण को भी अपनी माता की पीड़ा दूर करनी थी और छोटे भाई की उन्हें कामना भी थी; किन्तु वे किसी कुगुरु या कुदेव के शरण में नहीं गये। वे धर्मरूपी माता के शरण में गये

और पौषध तथा तेला का उन्होंने अनुष्ठान किया। अतएव कृष्ण का पौषध, सांसारिक प्रयोजन होने पर भी, धर्म का अवलंबन करने के कारण पौषध ही कहलाएगा।

अब आप पूछ सकते हैं कि कृष्ण ने इसमें धर्म की क्या आराधना की ? इसका समाधान यह है कि किसी दूसरे के पास न जाकर वे अपने धर्म पर दृढ़ रहे—धर्म पर पूर्ण प्रतीति रक्खी—इस अपेक्षा से उन्होंने धर्म की उपासना की। कृष्ण ने अपने व्यवहार से, अपने कार्य से जनता के समक्ष यह आदर्श उपस्थित किया कि आर्त्त होकर भी, और किसी पदार्थ की कामना से प्रेरित हो करके भी कुगुरुओं और कुदेवों के पास नहीं फटकना चाहिए। धर्म, कल्पवृक्ष के समान समस्त प्रयोजनो का साधक है। धर्म के बिना कुगुरु और कुदेव भी कुछ नहीं दे सकते। ऐसी अवस्था में धर्म का परित्याग करके, कुगुरु और कुदेव की उपासना द्वारा अधर्म का सेवन करने से इष्ट अर्थ की प्राप्ति कैसे हो सकती है ! प्राणियों की पीड़ा का वास्तविक निवारण किस प्रकार संभव है !

हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि आर्त्त और अर्थार्थी की उपासना, जिज्ञासु और ज्ञानी की उपासना से निम्न कोटि की है; परन्तु यह तो कोटि का ही प्रश्न है। उस उपासना को उपासना तो कहना ही पड़ेगा। अतएव कृष्ण के पौषध को 'पौषध' कहना बुरा नहीं है।

मित्रो ! आप लोग भी धर्म का परित्याग कर अन्यत्र न जावें। यदि इसमें किन्हीं कार्यों में रुकावट होती है तो होने दीजिए। वह रुकावट आपके पुण्य की न्यूनता से होगी, धर्म की

आराधना से नहीं। यह भी संभव है कि उस रुकावट में ही आपका कल्याण निहित हो। अगर कोई बालक अपनी माता से, अच्छा भक्ष्य पदार्थ समझ कर विष माँगता है और माता उसे नहीं देती, तो उसके न देने में ही बालक का हित निहित है। ऐसी अवस्था मे अगर वह बालक अपनी माता को त्याग देता है या उस पर अश्रद्धा करता है या उसे निर्दय कहता है तो वह भूल करता है। माता अश्रद्धा का भाव सहन कर लेगी, निर्दयता का लांछन स्वीकार कर लेगी, पर फिर भी बालक को विष खाने को नहीं देगी। एतावता क्या सचमुच ही माता अश्रद्धाभाजन है? नहीं। इसी प्रकार संभव है कि जिस कार्य में तुम सफलता चाहते हो, उस कार्य की सफलता से तुम्हारा अहित होता हो और असफलता मे ही तुम्हारा हित समाया हो। ऐसे कार्यों में रुकावट पड़ जाने में ही कल्याण है। ऐसी अवस्था में धर्म पर अश्रद्धा न करो। धर्म की इष्ट-प्रदता में संदेह न करो। भरोसा रक्खो, तुम्हारी समस्त आशाएं धर्म से ही पूरी होंगी और जो आशाएँ धर्म से पूरी न होंगी, वे किसी और से भी पूरी न हो सकेंगी।

आम को सींचने से भी यदि आम फल नहीं देता तो बबूल को सींचो भले ही, पर आम्रफल तो उससे मिल नहीं सकेंगे।

धर्म की उपासना करने पर भी कदाचित् कोई कामना सिद्ध न हो, तो भी धर्म निरर्थक नहीं जाता। धर्म अमोघ है। धर्म का फल कब और किस रूप में प्राप्त होता है, यह बात छद्मस्थ भले ही न जान पावे, फिर भी सर्वज्ञ की वाणी सर्वथा सत्य है।

धर्म निष्फल नहीं है। इस प्रकार की श्रद्धा रखते हुए धर्म की सेवा करोगे तो कल्याण होगा।

महावीर-भवन, देहली ।
ता० ११-९-३१ ।

देवी दया

प्रार्थना

काकंदी नगरी भली हो, श्री सुग्रीव नृपाल।
'रामा' तसु पटरानी हो, तस सुत परम कृपाल।
श्री सुबुध जिनेश्वर वन्दिये हो लाल॥

भगवान् सुबुधनाथ की यह प्रार्थना की गई है। इस प्रार्थना में प्रार्थना करने वाले ने क्या भाव प्रकट किये हैं? वह कहता है कि मैं भगवान् सुबुधनाथ को वन्दना करता हूँ। क्यों उन्हें वन्दना करने की आवश्यकता है, इस प्रश्न का समाधान करते

हुए उसी ने कहा है कि—

वन्दत पाप पलाय।

भगवान् सुबुधनाथ को नमस्कार करना पाप-कर्म नष्ट करने का उत्कृष्ट साधन है। अतएव उन्हें वन्दना करने से मेरे पापों का नाश होगा।

इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि मैं अपने पाप-कर्मों को नष्ट करने की अभिलाषा रखता हूँ और भगवान् ने समस्त पापों का नाश कर डाला है।

ईश्वर की आराधना या पर्युषण पर्व की आराधना करने का उद्देश्य क्या है? भगवान् सुबुधनाथ ने जिस क्रिया के द्वारा ईश्वरीय तत्त्व प्रकट किया है, उसी तत्त्व को हम अपने लिए प्रकट करने के उद्देश्य से पर्युषण की आराधना करते हैं।

जैन धर्म में आत्मा को और ईश्वर को मूलतः पृथक्-पृथक् नहीं माना गया है। ईश्वर, आत्मा से भिन्न जाति की सत्ता नहीं है। किन्तु आत्मा जब अपने समस्त पापों को नष्ट कर डालता है, उसकी समस्त औपाधिक विकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं और जब वह अपने शुद्ध स्वभाव में आ जाता है तब आत्मा ही परमात्मा या ईश्वर बन जाता है। इस प्रकार जैन धर्म चरम सीमा का विकासवादी धर्म है। वह नर के सामने ईश्वरत्व का का लक्ष्य उपस्थित करता है। भगवान सुबुद्धिनाथ ने जिस क्रिया द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान और चारित्र की प्राप्त की है, और ईश्वरत्व को पाया है, उसी क्रिया का आचरण करके हम और आप भी ईश्वर पद प्राप्त कर सकते हैं। उस समय ईश्वर में और हम में कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा।

भगवान् ने आत्मिक स्वराज्य प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम मोहरूपी महामल्ल को पछाड़ा है। इस महामल्ल को पछाड़ने से भगवान् के आत्मा में क्षायिक गुणों की अभिव्यक्ति हुई है और साथ ही अनन्त गुण प्रकट हुए हैं। यहाँ गुणों की उत्पत्ति न कहकर अभिव्यक्ति कहा है। उत्पत्ति और अभिव्यक्ति में बड़ा अन्तर है। खेत या खानि से मिट्टी लाकर कुँभार उसे चाक पर चढ़ाता है और तब घट उत्पन्न होता है। उपादान और सहकारी कारणों से द्रव्य की किसी पूर्व पर्याय का विनाश होकर उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है, जो किसी नवीन अर्थक्रिया को करने में समर्थ होती है, उसे उत्पत्ति कहते हैं। उत्पत्ति असत् पर्याय की होती है। बना हुआ घट अंधकार से आवृत होता है, तब वह अनभिव्यक्त कहलाता है। प्रकाश होने पर वह प्रकट हो जाता है। इस प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। अभिव्यक्ति सत् की होती है। यहाँ आत्मा के गुणों की उत्पत्ति न कह कर अभिव्यक्ति कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि प्रकट होने वाले गुण आत्मा में पहले ही विद्यमान थे, किन्तु मोहनीय कर्म के कारण छिपे हुए थे। मेघों के समान मोहनीय कर्म के हट जाने पर आत्मा के स्वाभाविक गुण निर्मल चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो जाते हैं। भगवान् ने मोहनीय कर्म का क्षय करके आत्मिक परतंत्रता हटाई और आध्यात्मिक स्वराज्य प्राप्त किया है।

सर्वप्रथम मोहनीय कर्म को हटा कर उसके अनन्तर भगवान् ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म का नाश किया। इन कर्मों के समूल क्षय से अनन्त-ज्ञान (सर्वज्ञत्व), अनन्त-दर्शन (सर्वदर्शित्व) और अनन्त-शक्ति का आविर्भाव हुआ।

इस प्रकार दसवें गुणस्थान में मोहनीय का और बारहवें गुणस्थान में शेष तीन घातिक कर्मों का क्षय करके तेरहवें गुणस्थान में भगवान् ने अर्हन् अवस्था प्राप्त की और जीवन्मुक्त हुए।

चौदहवें गुणस्थान में सर्वोत्कृष्ट समाधि के द्वारा वेदनीय कर्म का नाश किया और समस्त बाधाओं एवं पीड़ाओं से सदा के लिए मुक्त हो गये। वेदनीय कर्म के साथ ही आयु, नाम और गोत्र कर्मों का भी क्षय करके शाश्वत सिद्धि प्राप्त की।

आयुकर्म के प्रभाव से आत्मा को भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करके रहना पड़ता है। भगवान् आयुकर्म का अन्त करके समस्त योनियों से छूट गये। इस कर्म के नाश से अटल धर्म प्राप्त किया।

आत्मा स्वभावतः अशरीर है। फिर भी नाम-कर्म के कारण कभी वह हाथी का शरीर धारण करता है, कभी मनुष्य का और कभी अन्य जीवधारी का। इस कर्म का नाश होने से आत्मा का स्वाभाविक अमूर्त्तिक गुण प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार गोत्र कर्म के नाश से भगवान् ने अगुरुलघुत्व नामक गुण प्रकट किया।

इस प्रकार आठों कर्मों का नाश करके भगवान् ने ईश्वरीय तत्त्व प्रकट किया है। अब यह स्पष्ट है कि हमारे आत्मा में जिन कर्मों का अस्तित्व बना हुआ है, वे कर्म पहले भगवान् में भी थे। भगवान् ने इन कर्मों पर विजय प्राप्त की है और हम उन पर विजय नहीं पा सके हैं। यही आत्मा और परमात्मा

का अन्तर है। इसी अन्तर के कारण हम लोग भगवान् को नमस्कार करते हैं। यथा—

नमो अरिहंताणं।

नमो सिद्धाणं।

अर्थात् चार घातिक कर्मों का क्षय करने वाले अरिहंत भगवान् को और आठों कर्मों का विनाश करने वाले सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

भगवान् को नमस्कार करने का प्रयोजन यही है कि हमारे कर्म भी नष्ट हो जाएँ और हम भी भगवान् की भाँति विशुद्ध, सिद्ध, बुद्ध बनें।

भगवान् को नमस्कार करने से नमस्कर्त्ता स्वयं नमस्करणीय कैसे बन जाता है? आत्मा में परमात्मा-अवस्था किस प्रकार आविर्भूत हो जाती है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और उसका समाधान करने के लिए बहुत विस्तार की आवश्यकता है। यहाँ मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि जिस के प्रति हमारी आदर-बुद्धि होती है, उसी के गुणों का अनुकरण करने की भावना हममें जागृत होती है और शनैः शनैः वही गुण हमारे भीतर आ जाते हैं। उसी के आचरण का अनुसरण किया जाता है। इस दृष्टि से, जिसकी निष्ठा परमात्मा में प्रगाढ़ होगी, उसके सामने परमात्मा का ही सदा आदर्श बना रहेगा और वह उन्हीं के आचार-व्यवहार का अनुकरण करेगा। इससे परमात्मपद की प्राप्ति उसे हो सकेगी। आधुनिक मनोविज्ञान भी भावना बल को स्वीकार करता है और उससे यह कथन प्रमाणित होता है।

संसार के समस्त प्राणी कभी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, तथापि उनमें से यदि एक भी जीव सिद्ध-गति प्राप्त कर लेता है तो असंभव दोष मिट जाता है ! प्रत्येक प्राणी इतना प्रकृष्ट प्रयत्न नहीं कर सकता कि वह मोक्षलाभ कर सके। कोई महापुरुष ही उसे प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। मगर वह सिद्धि-लाभ करने वाला महापुरुष सब जीवों के लिए आदर्श बन जाता है और उसे निमित्त बना कर अन्य जीव अपना कल्याण साध सकते हैं। एक दृष्टान्त द्वारा यह बात स्पष्ट कर देना अधिक बोधगम्य होगा।

आप लोगों को यह विदित ही है कि आज से पन्द्रह दिन पहले गांधीजी लंदन के लिए रवाना हुए थे। सुना जाता है कि आज वे लंदन पहुँच जायँगे। जब से अंग्रेजों का भारतवर्ष पर अधिकार हुआ है, तब से लेकर अब तक सैकड़ों भारतीय विलायत हो आये हैं, कोई सैर-सपाटे के लिए, कोई स्वास्थ्य-सुधार की मृगमरीचिका के वश होकर, कोई अपनी बौद्धिक योग्यता पर लंदन की मोहर लगाने के लिए, कोई किसी प्रयोजन से, कोई किसी मतलब से। यह सब प्रयोजन वहाँ सिद्ध होते हैं या नहीं, और यदि होते हैं तो कितनी मात्रा में होते हैं और इससे क्या हानि-लाभ होता है, आदि बातों पर हमें विचार नहीं करना है। हम तो यह देखना चाहते हैं कि सैकड़ों-हजारों आदमी लंदन गये लेकिन जैसी दृष्टि सम्पूर्ण भारतवर्ष की गांधीजी की लंदन-यात्रा पर लगी हुई है वैसी दृष्टि क्या कभी किसी अन्य की लंदन-यात्रा की ओर लगी थी ? नहीं। अनुदार दल के स्तंभ श्री चर्चिल, जो गांधीजी के सिद्धान्तों के विरुद्ध माने जाते हैं,

वे भी गांधीजी का स्वागत करने के लिए नियत किये गये हैं और वे उनका स्वागत करने में अपना गौरव समझते हैं।

क्या यह समझने योग्य बात नहीं है कि पूर्व और पश्चिम की प्रजा गांधीजी की विलायत-यात्रा पर उत्सुकतापूर्ण टकटकी क्यों लगाये हुए है? वह गांधीजी का अपूर्व स्वागत करने के लिए लालायित क्यों है? सबको गांधीजी की इस यात्रा से इतनी प्रसन्नता क्यों हो रही है?

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, अब तक भारत के जो लोग विलायत गये उनमें से कोई वैरिस्टरी पास करने गया, कोई व्यापार के लिए गया, कोई आमोद-प्रमोद करने गया और कोई वहाँ के अमर्यादित एवं विलासितापूर्ण नृत्य में शामिल होने का सौभाग्य हासिल करने के उद्देश्य से गया। कोई-कोई वहाँ के साहित्य की विशेषता सीखने के लिए और कोई अपने साहित्य की मौलिकता वहाँ वालों को समझाने के लिए वहाँ गया।

स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द भारतीय साहित्य की सूक्ष्म चिन्ताधारा का अमेरिकनों को परिचय कराने गये थे। उन्होंने भारतीय साहित्य की विशेषताएं अमेरिकावासियों के समक्ष रक्खीं। एक दिन था, जब अमेरिका के निवासी बड़े-बड़े विद्वान् भी बाइबिल के ज्ञान को बहुत उच्चश्रेणी का समझते थे और कहते थे कि भारतीयों के भाग्य में भला यह ज्ञान कहाँ बदा है? इस भ्रमपूर्ण विचार से प्रेरित होकर उन्होंने अपना मिशन भारतवर्ष में इसलिए भेजा था कि वह भारतवासियों को बाइबिल का ज्ञान समझावे। परन्तु जब स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द

अमेरिका पहुँचे और उन्होंने भारतीय तत्त्वज्ञान अमेरिकनों को समझाया तो उन्हें दंग रह जाना पड़ा और वहाँ के विचारशील विद्वानों ने कहा—'भारत को बाइबिल का ज्ञान समझाने के लिए मिशन भेजना भारी मूर्खता है। भारतीय साहित्य की तुलना में बाइबिल कोई चीज ही नहीं है।'

जैन समाज में से भी वीरजी राघवजी और बैरिस्टर चम्पतरायजी यूरोप तथा अमेरिका गये और उन्होंने वहाँ के निवासियों को जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त समझाया है। परन्तु यदि कोई योगी इसका मर्म समझावे, तो वह पूर्णरूप से समझ में आ सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि और जो लोग विलायत गये थे, वे एकदेशीय विचारों को लेकर गये थे। कोई केवल स्वार्थसाधन के लिए गया था और कोई केवल धर्म-प्रचार के लिए ही। यही कारण था कि उनकी विलायत-यात्रा पर सब की नजर नहीं थी। समस्त संसार के हिताहित और धर्म एवं अर्थ की विशालतम दृष्टि लेकर विलायत-यात्रा करने वाला यदि कोई हैं तो वह हैं—अकेले गांधीजी। गांधीजी दुनिया को स्वाधीनता का सिद्धान्त सिखाने गये हैं—धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक विचारों का गठड़ा लेकर गये हैं।

गांधीजी अकेले विलायत गये हैं, लेकिन अगर उन्हे विजय मिली, तो वह विजय किसकी होगी ? अकेले गांधीजी की या समस्त भारतीयों की ? यदि वह विजय अकेले गांधीजी की होती तो सब लोगों को इतनी उत्सुकता न होती। मगर सब लोग जानते

हैं कि गांधीजी जो कुछ भी प्राप्त करेंगे वह हमारा भी होगा— उसमें हमारा भाग भी अवश्य होगा। यही नहीं, गांधीजी की विजय का अर्थ है अहिंसा की विजय, सत्य की विजय। इस प्रकार अहिंसा और सत्य की विजय होने से इन महान् सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होगी और उससे समस्त संसार को लाभ होगा। संसार के समक्ष एक नूतन आदर्श उपस्थित हो जायगा।

यद्यपि हम साधुओं का क्षेत्र राजनैतिक नहीं है। धर्म-नीति का आचरण करना और कराना और उसके द्वारा विश्व में शान्ति का प्रसार करना तथा जीवन को क्षुद्र उद्देश्यों के ऊपर महान् उन्नत आदर्श की ओर ले जाना हमारा उद्देश्य है। लेकिन गांधीजी ने राजनीति का धर्मनीति के साथ समन्वय करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रजा एवं राजा के खून से लिप्त, वारांगना के समान छल-कपट द्वारा अनेक रूपधारिणी और प्रलयंकारिणी राजनीति के स्वभाव में सौम्यता और सरलता लाने का प्रयोग किया है। अगर यह प्रयोग सफल होता है तो वह सफलता धर्म की महान् सफलता होगी। धर्म की इस अद्वितीय सफलता से, धर्मनीति के प्रचार के लिए जीवन-यापन करने वाले हम साधु यदि प्रसन्न न होंगे तो और कौन होगा? गांधीजी की राजनीति यह सिद्ध कर सकेगी कि अहिंसा और सत्य की प्रतिष्ठा में ही विश्वशान्ति की प्रतिष्ठा है। इन्हीं सुनहरे सिद्धान्तों के बल पर राम-राज्य स्थापित किया जा सकता है। यही कारण है कि हम गांधीजी का पक्ष करते हैं और उनकी सफलता में ही जगत्कल्याण देखते हुए उनकी सफलता की कामना करते हैं।

आप लोग पर्युषण पर्व में एक जीव को बचा कर भी

दया मानते हैं—और मानना चाहिए भी-तो जिसने लाखों मनुष्यों के बचने का उपाय निकाल कर शान्तिपूर्ण वातावरण देश में तैयार कर दिया और लोगों के दिल में भरी हुई हिंसावृत्ति को अहिंसा और मैत्री के रूप में पलट दिया, उसका पक्ष लेने में हम साधुओं को भी प्रसन्नता क्यों न होगी ?

आज विश्व में जो राजनीति प्रचलित है उसका मुख्य आधार छल-कपट है। राजनीतिज्ञों को धारणा है कि बिना चाल-बाजी किये राजनीति में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। एक ओर सुलह-संधि की बातें की जाती हैं और दूसरी ओर हिंसात्मक आक्रमण की तैयारियाँ चालू रहती हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को भुलावे में रख कर, मैत्रीपूर्ण संबंध कायम रखने की पुकार मचाता है और दूसरी ओर परिस्थिती अनुकूल होते ही उस पर हमला बोल दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि इस समय की राजनीति, न्याय या प्रामाणिकता की सर्वथा उपेक्षा करती हुई मायाचार के जाल में जकड़ी हुई है। मगर इससे दुनिया में घोर अशान्ति है। कौन मित्र है और कौन शत्रु है, कौन किस समय क्या कर गुजरेगा, इस बात का ठीक-ठीक पता न लगा सकने के कारण प्रत्येक राष्ट्र का और प्रत्येक राजनीतिक दल का, प्रत्येक क्षण नाना प्रकार के कपट-जाल के निर्माण में ही लग रहा है। कपट-जाल की उलझनें बढ़ती जा रही हैं और उनके बढ़ाने में घोर प्रतिस्पर्धा हो रही है। जो छल-कपट करने में जितना अधिक कुशल है वह राजनीति में उतना ही उस्ताद माना जाता है। समग्र विश्व इस छल-नीति का शिकार हो रहा है। पारस्परिक अविश्वास की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि

अगर कोई अन्तःकरण से सच्ची सद्भावना प्रदर्शित करता है तो उस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। उसके विषय में भी यही सोचा जाता है कि न जाने किस गूढ़ अभिप्राय से वह ऐसी बातें कह रहा है ? इस प्रकार सर्वत्र अविश्वास, सर्वत्र असंतोष, और सर्वत्र शंकाशीलता के साम्राज्य में कौन सुख की सांस ले सकता है ?

इसके अतिरिक्त, जो कपट नीति से काम लेता है और उसके द्वारा विजय प्राप्त करता है, उसकी विजय कभी न कभी पराजय के रूप में परिणित हुए बिना नहीं रह सकती। वह अपने कपट का आप ही शिकार बन जाता है। प्रायः देखा गया है कि जो समूह अपने विरोधियों के साथ छल-नीति का प्रयोग करता है, वह अन्त में आपस में एक दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करके अपने समूह की शक्ति को नष्ट कर डालता है।

एक कांग्रेसी सज्जन थे, जिन्होंने कोई काम छल से किया था। उसके विषय में उन्हें भय था कि शायद मैं पकड़ा जाऊँ और सरकार की ओर से मुझ पर मुकदमा चलाया जाय। उन्होंने इस सम्बन्ध में गांधीजी से पूछा कि इस स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए ? सुनते हैं, गांधीजी ने उन्हें बताया कि आप सम्बद्ध अधिकारियों से स्पष्ट कह दें कि मैंने यह अपराध किया है। इसके लिए आप जो सजा समुचित समझें, वह मुझे दे दें। मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूँगा।

जिसे सत्य पर विश्वास न हो, वह तो चालबाजी की ही शिक्षा देगा। सत्य में ही इतना साहस हो सकता है। सत्यनिष्ठ

के सिवाय इस मर्दानगी की आशा और किससे की जा सकती है ? असत्य में कायरता होती है। असत्य साहसशील नहीं होता। वह छिपना जानता है, बचना चाहता है। क्योंकि असत्य में स्वयं बल नहीं है। निर्बल का आश्रय लेकर कोई कितना निर्भय हो सकता है ! सत्य अपने आप में बलशाली है। जो सत्य को अपना अवलम्ब बनाता है—सत्य के चरणों में अपने प्राणों को सौंप देता है, उसमें सत्य का बल आ जाता है और उस बल से वह इतना सबल बन जाता है कि विघ्न और बाधाएँ उसका पथ रोकने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। वह निर्भय सिंह की भाँति निस्संकोच होकर अपने मार्ग पर अग्रसर होता चला जाता है।

इस जमाने में सत्य पर इस प्रकार अटल रहने वाले—इतना विश्वास रखने वाले—के विचारों से साधु-संतों को भी सहानुभूति हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ? वरन् संतों की सहानुभूति तो सदा सत्यसेवियों के साथ ही रहती है; इसलिए सहानुभूति न होना आश्चर्य की बात हो सकती है। जो अपने आचार से, विचार से और वाणी से सत्य एवं अहिंसा का गौरव बढ़ाएगा उसके साथ साधुओं की सहानुभूति अवश्य ही रहेगी। यह बहुत संभव है कि अहिंसा और सत्य सम्बन्धी विगत की बातों में मतभेद पाया जाय, और कई बातें ऐसी हों, जिनमें हमारा विचार कुछ भिन्न ही हो, तथापि मूल दृष्टि के प्रति सहानुभूति तो होगी ही।

मित्रो ! आप लोग मुखवस्त्रिका बाँधकर क्यों बैठे हैं ? हजारों रुपये देने पर भी जिस पगड़ी को आप सिर से न उतारेंगे

वह पगड़ी आपने अभी क्यों उतार रक्खी है ? केवल आत्म-कल्याण की भिक्षा के लिए ! हम और आप परमात्मा से प्रार्थना करके यही भिक्षा माँग रहे हैं । हे प्रभो ! हमें यह भिक्षा दो कि हमारा आत्मिक कल्याण हो । मगर यह स्मरण रखिए कि भगवान् से आपको अभीष्ट भिक्षा तभी मिलेगी जब आप सत्य और सरल भाव से उससे प्रार्थना करेंगे । अगर आप उसके साथ छलपूर्ण व्यवहार करेंगे तो आपके लिए भी छल ही प्रतिदान है ! परमात्मा का दरबार ऐसा नहीं है, जहाँ छल का प्रवेश भी हो सकता हो । छल वहाँ से सीधा लौटता है और जहाँ से उसका उद्‌भव होता है वहीं आकर विश्राम लेता है !

साधु यद्यपि व्यक्तिगत साधना में प्रधान रूप से तल्लीन रहते हैं, पर व्यक्ति का समाज के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि समाज के श्रेय के बिना व्यक्ति का श्रेय ही नहीं हो सकता । इसलिए साधु को भी समाज-श्रेय की ओर आकृष्ट होना पड़ता है । साधु-जीवन का निर्वाह समाज के अस्तित्व पर ही निर्भर है और समाज में जितनी अधिक धार्मिकता होगी, साधु-जीवन भी अधिकांश में उतना ही उज्ज्वल होगा, क्योंकि साधु बनने वाले व्यक्ति समाज में से ही आते हैं । यही कारण है कि मुनि एकान्ततः व्यक्तिगत साधना में ही अपनी साधना की समाप्ति नहीं समझते और उपदेश आदि द्वारा समाज-कल्याण की ओर भी लक्ष्य रखते हैं ।

समाज-कल्याण की ओर लक्ष्य देने का अभिप्राय यह नहीं है कि साधु की साधना में द्वैधीभाव आ जाता है। नहीं, साधु-जीवन

की साधना एक और अखंड है। उसमें विरूपता नहीं आती, क्योंकि साधु के समाजहितकर कार्य भी उनकी आत्मिक साधना से संकलित रहते हैं। संघ का श्रेय भी उनकी व्यक्तिगत साधना का ही एक अंग बन जाता है और जिस सीमा तक वह उस साधना का अंग रहता है वहीं तक साधु को वह आचरणीय होता है। जो कार्य साधुजीवन की साधना से विसंगत होता है या जो कार्य उनकी साधना का अंग नहीं बन सकता, वह साधु के लिए अनाचरणीय हो जाता है। ऐसी स्थिति में जिन बातों से संसार का कल्याण होता हो, संसार के जीवों को शान्ति मिलती हो, उन बातों का आचरण और प्रचार करने वाले के प्रति साधुओं की सहानुभूति होना स्वाभाविक है।

समग्र भारतवर्ष ने अर्थात् समस्त भारत के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली महान् संस्था ने अकेले गांधीजी को भारत का नेता और प्रतिनिधि क्यों चुना है ? केवल अहिंसा और सत्य के प्रताप से। गाधीजी ने स्वयं कहा है कि—'मैं दीन-दरिद्री भारत का प्रतिनिधित्व करने जा रहा हूँ। यदि मैं अपनी प्रशंसा के लिए देश के साथ धोखा करूँ तो मुझे मार डालना ! मुझे मार डालने पर, मैं इस मारने के कार्य को हिंसा न कहूँगा।'

अगर आप गांधीजी की विजय में अपनी विजय मानते हैं, गांधीजी की सफलता यदि आपको अपनी और अपने सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्तों की सफलता मालूम होती है, तो उनके बताये हुए मार्ग पर चलो—उनके कार्य में सहयोग देने के लिए अपना जीवन लगा दो। अगर आप उसमें सहयोग नहीं देते, फिर भी उनके प्रा

किये हुए लाभ में भाग लेना चाहे तो क्या यह हरामखोरी नहीं होगी ? जिस काम को करने के लिए गांधीजी कहते हैं और जिस काम को करने से वे रोकते हैं, उसे मानते समय तो मुँह छिपाना—उससे बचने के लिए प्रयत्न करना और केवल व्यक्तिगत लाभ में लगे रहना और उनके द्वारा प्राप्त किये हुए लाभ में भाग लेने के लिए आगे आ जाना—हरामखोरी नहीं है तो क्या है ?

और गांधीजी कहते क्या हैं ? केवल यही कि—'अहिंसा का पालन करो। मर जाओ, पर मारो मत। जीवन को सत्य से ओत-प्रोत बनाओ। जीवन रूपी महल की आधारशिला अहिंसा और सत्य होनी चाहिये। इन्हीं की सुदृढ़ नींव पर अपने अजेय जीवन-दुर्ग का निर्माण करो। विलासिता को त्यागो और संयम तथा सादगी को अपनाओ। परन्तु लोग इन स्वर्ण-उपदेशों को भी मानते नहीं दिखाई देते।

गांधीजी विशाल भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व करने गये हैं। उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अधिपति सम्राट् से हाथ मिलाना है, राजा महाराजाओं की सभा में बैठना है, फिर भी वे गरीबी के कपड़े पहन कर गये हैं। उनमें ऐसा करने का साहस कहाँ से आया ? और आप लोगों से इतना क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न के समाधान में ही अहिंसा की वृत्ति है। उन्होंने अपने जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा की है। अहिंसा की बदौलत उनमें अनुपम साहस आया है। आप लोग तो पंचेन्द्रिय प्राणियों की चर्बीवाले वस्त्रों का भी परित्याग नहीं कर सके। अहिंसा के अनुयायियो ! जरा गहराई के साथ अपनी स्थिति पर विचार

करो। आपको अपने सिद्धान्तों की सार्थकता सिद्ध करने का जो अपूर्व अवसर मिला है, उसे हाथ से न जाने दो। तुम्हें इस अवसर पर आगे आना था। अगर आगे नहीं आ सके, तो पीछे ही चलो—पर चलो तो सही। उलटी दिशा में तो न जाओ। अगर आप इतना भी न कर सकोगे, तो गांधीजी द्वारा प्राप्त लाभ में हिस्सा लेने के हक़दार कैसे बन सकोगे? गांधीजी जो कुछ प्राप्त करें उसे छोड़ना नहीं, और वे कहें सो करना नहीं, यह कैसा न्याय है? यह कहाँ की प्रामाणिकता है।

अगर गांधीजी गोचरभूमि का कर उठवा दें तो क्या आप अपनी गाय उसमें चरने न भेजेंगे? उन्होंने जहाँ नमक का कर हटवाया है वहाँ के लोग क्या सस्ता नमक नहीं खाते? आप में कौन ऐसा है जो उनके द्वारा प्राप्त हुए अधिकारों से लाभ न उठाने की प्रतिज्ञा करे? यदि नहीं, तो फिर हरामखोरी क्यों की जाय? अगर आप गांधीजी की बात न भी मानें, तो अहिंसा और सत्य तो गांधीजी के अपने नहीं हैं? आप उनका पालन करने के लिए कटिबद्ध क्यों नहीं होते? सचाई को स्वीकार कर उसमें भाग लेने के लिए तैयार हो जाओ और फिर उससे होने वाले लाभों में भाग लो। यह नीतिनिष्ठता है। यही उचित है।

मैं साधु हूँ, अतएव साधु के विधान के अनुसार मैं अरिहंत और सिद्ध को नमस्कार करता हूँ और सब को उन्हीं के राज्य में मानता हूँ। गाँधीजी का जो दृष्टान्त दिया गया है वह इसलिए कि जिस प्रकार गाँधीजी ने जो कुछ भी किया है, वह अपने लिए नहीं, वरन् सर्वसाधारण के लिए किया है, उसी

प्रकार भगवान् सुबुद्धिनाथ ने सिर्फ अपने लिए कर्मों का नाश नहीं किया है, किन्तु सभी के लिए किया है। यदि वे अपने लिए ही कर्मनाश करते, तो मुक्त तो कहलाते; किन्तु तीर्थंकर न कहलाते। तीर्थंकर उसी को कहते हैं जो धर्म-तीर्थ की स्थापना करके विश्व का परमोपकार करते हैं। इस तथ्य को भली भाँति समझने के लिए तीर्थंकर की जननी को आने वाले स्वप्नों के रहस्य पर विचार करना चाहिए।

तीथकर की माता समस्त संसार के कल्याण के सूचक स्वप्न देखती हैं। तीर्थंकर जब गर्भ में आते हैं तब उनकी माता को चौदह स्वप्न दिखाई देते है। यह चौदह स्वप्न क्या हैं? यह चौदह राजू लोक के प्रतिनिधि हैं जो तीर्थंकर की माता की सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं कि चौदह राजू लोक के जीव घोर संकट में पड़े हुए हैं; अतएव हे माता! आप कृपा करके हम लोक-प्रतिनिधियों को अपनी कूंख में धारण कीजिए और अनेक को एक में परिणित करके नूतन जन्म दीजिए, जिससे संसार का संकट टल जाय। विश्व में अधर्म के स्थान पर धर्म की, एवं अन्याय के स्थान पर न्याय की स्थापना हो। सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य हो और अकल्याणों का ध्वंस हो।

इस प्रकार चौदह राजू लोक के चौदह प्रतिनिधियों का सगठन होने पर—उनमें सम्पूर्ण समन्वय समझ कर जिस दिव्य शक्ति का जन्म होता है, उसी दिव्य शक्ति का नाम तीर्थंकर होता है। अब यह स्पष्ट है कि तीर्थंकर ने समस्त संसार के लिए—जिसमें हम सभी सम्मिलित हैं—जन्म लिया है। हमारे मंगल

के लिए ही तीर्थंकर की माता चौदह राजू-लोक के प्रतिनिधियों को गर्भ में धारण करके तीर्थंकर के रूप में, अलौकिक सामर्थ्य और दिव्य संस्कारों से संस्कृत करके जन्म देती हैं।

चूंकि तीर्थंकर का जन्म विश्व-कल्याण के लिए होता है, इसी कारण उनके जन्म के समय इन्द्र उत्सव मनाता है। अगर उनका जन्म सिर्फ उन्हीं के लिए—व्यक्तिगत लाभ के लिए होता और संसार के लाभ का उससे सरोकार न होता तो देवराज इन्द्र उनकी खुशामद न करता और न उनका जन्मोत्सव मनाने बैठता। परन्तु नहीं, इन्द्र जानता है कि तीर्थंकर अखिल भूमण्डल का उद्धार करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं और भूमण्डल के-उद्धार में ही हमारा भी उद्धार सम्मिलित है। इसी कारण इन्द्र और छप्पन कुमारिकाएं जन्मोत्सव मनाती हैं।

जिस प्रकार भारत मे हजारों आदमी विलायत गये हैं, पर उनकी विलायत-यात्रा का कोई विशेष गौरव या महत्व नहीं है और गांधीजी की विलायत-यात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि वे समष्टि का हित लक्ष्य में रखकर विलायत गये हैं; इसी प्रकार भगवान् ने जो तीर्थंकरपद प्राप्त किया है वह हमारे लिए ही है। उन परमपिता, परम कृपालु तीर्थंकर भगवान ने हम जैसे दीनजनों को आत्मकल्याण की भिक्षा दी है। अगर तीर्थंकर न होते तो हमें आत्मिक प्रकाश कहाँ से मिलता ? अनादि काल से अनन्त काल तक यह आत्मा संसार की इस विकट एवं संकटमयी अटवी में ही भटकती रहती। सूर्य के ---व में जैसे घना अन्धकार व्याप्त रहता है और उल्लूक आदि

निशाचर स्वच्छन्द विचरण करते हैं उसी प्रकार तीर्थंकर के अभाव में समस्त संसार मिथ्यात्व एवं अविद्या के अन्धकार से आच्छन्न होता और ज्ञान के प्रकाश की कहीं कोई किरण तक दृष्टिगोचर न होती। उस अवस्था में संसार अशान्ति की धधकती हुई धूनी के समान होता। अन्याय, अत्याचार और अधर्म का वहाँ राज्य होता। सात्विक वृत्तियाँ जन्मी न होतीं और पैशाचिक वासनाएँ सर्वत्र धमाचौकड़ी मचातीं।

तीर्थंकर के बिना कौन आत्मकल्याण का प्रशस्त पथ प्रदर्शित करता? अध्यात्म ज्ञान कहाँ से आता? स्व-पर का भेद-विज्ञान कौन सिखाता? आत्मा की अनन्त शक्तियों का भान कौन कराता? राग, द्वेष, दंभ आदि आत्म विकारोंको दूर करने और चिदानन्दमय चेतन के सहज स्वभाव को प्रकट करने का मार्ग कैसे मिलता? कर्म-शत्रुओं को नष्ट करने का उपाय तीर्थंकर के बिना कौन बता सकता था?

तीर्थंकर भगवान ने जन्म लेकर लोक को पावन किया। उन्होंने अपने निवास से इस भूमि को स्वर्ग से उत्तम बनाया। संसार में आज भी जो धर्म, नीति, तप, संयम और सदाचार की पूजा होती है, वह तीर्थंकर भगवान् की बदौलत ही समझना चाहिए। हम लोग इन दैवी भावनाओं का महत्त्व शायद नहीं आँक सकते, क्योंकि इनका अभाव हमने अनुभव नहीं किया है। जिसने जिस वस्तु के अभाव का अनुभव न किया हो, वह उसके सद्भाव का असली मूल्य प्रायः नहीं समझ पाता। प्रतिदिन भर-पेट भोजन करने वाला भोजन का वह महत्त्व नहीं जान

सकता, जो कई दिनों का भूखा आदमी जान पाता है। पर जिस दुनिया में दया, क्षमा, सहानुभूति, परोपकार आदि भावनाओं का सर्वथा अभाव हो, लोग अज्ञान में डूबे हों, नीति और धर्म का जहाँ नाम तक न हो, उस दुनिया की कल्पना करो ! वह नरक से भला क्या अच्छी हो सकती है ! यह संसार आज ऐसा नहीं है, यह तीर्थंकर का ही परमोपकार है। यह उन्हीं की दिव्य दया का अनुपम दान है।

यदि गांधीजी न होते तो अंग्रेज सरकार गरीबों की बात सुनती ? गांधीजी के होने से ही सरकार जनता के शब्दों की तरफ थोड़ा-बहुत कान देती है। गांधीजी ने अपना जीवन दरिद्र-नारायण की सेवा के लिए निछावर कर दिया है। वे यही कहते हैं कि मैं गरीबों का सेवक हूँ, दलितों का बन्धु हूँ—मैं उन्हीं के साथ हूँ।

जब प्रत्यक्ष में ही गांधीजी गरीबों के हो रहे हैं, तब हमारे तीर्थंकर कौन हैं ? क्या वे गरीबों के नहीं हैं ? वे भी तो दीन-दयालु हैं—

दीन-दयाल दीन-बन्धु के खानाजाद कहास्यां,
तन धन प्राण समर्पी प्रभु ने,
इन पर वेग रिझास्यां राज ॥ आज० ॥

भगवान् दीनदयाल हैं, ढींग-दयाल नहीं हैं। वे दीनबन्धु हैं, राजन-पति राजा नहीं हैं। दीनदयाल और दीनबन्धु कहने में ही भगवान् की स्तुति है। ढींग दयाल या राजनपति कहने में न उसकी स्तुति है, न उन्हें ऐसा कहना शोभा ही देता है। भग-

वान् दीनदयाल और दीनबन्धु हैं, इसीलिए भक्त लोग कहते हैं कि हम अपना तन, धन, प्राण उसी के बैंक में जमा कराएँगे।

इस सब कथन का अभिप्राय यह है कि भगवान् ने कर्मनाश करके जो ईश्वरीय तत्त्व प्रकट किया है वह उन्होंने अपने आपके लिए नहीं वरन् हम सबके लिए किया। अतएव उनके क्रिया-कलाप का अनुकरण करना, उनके आचरण का अनुसरण करना हमारा कर्त्तव्य है। वही हमारे लिए धर्म है। उन्होंने मोह का नाश किया है, हमें भी मोह का नाश करना उचित है। शरीर से, धन से, भोजन से और वस्त्र से मोह हटा कर शान्त निराकुल अवस्था धारण करनी चाहिए। तन और धन से मोह हटा लने से वह कहीं चले नहीं जाते, किन्तु उन पर सच्चा स्वामित्व प्राप्त होता है। जब तक तन-धन आदि के प्रति मोह विद्यमान रहेगा तब तक उनके प्रति दास्यभाव रहेगा। दासता त्याग कर स्वामित्व प्राप्त करने का उपाय उनके प्रति मोहत्याग है। भगवान् ने जिस मोह को हेय जानकर त्यागा, उसे तुम त्यागोगे नहीं किन्तु अपने हृदय में स्थान दोगे और ऊपर से भगवान् का स्मरण करोगे तो अभीष्टसिद्धि कैसे प्राप्त होगी ?

आप लोग आनन्द श्रावक के चरित्र का विचार कीजिए। वह जिस दिन भगवान से धर्मश्रवण करके श्रावक बना, उसी दिन से उसने अपनी बाह्य और आन्तरिक चर्या में मोह का त्याग कर दिया। आनन्द के पास बारह करोड़ सौनैया धन था। उसमें से चार करोड़ सौनैया जमीन में गड़े थे, चार करोड़ घर

आदि में लगे थे और चार करोड़ से वह व्यापार करता था। जो श्रावक इतना बड़ा धनी था, उसके कपड़े किस प्रकार के थे? उपासकदशांग सूत्र को देखो तो मालूम होगा कि उसने भगवान् के समक्ष कपास से बने हुए एक खोमिया (क्षोमवस्त्र) के सिवाय अन्य समस्त प्रकार के वस्त्रों का परित्याग कर दिया था।

कोई यह सोच सकता है कि मैं मील के वस्त्रों के त्याग का उपदेश देता हूँ, सो यह उपदेश कहाँ से चल पड़ा? इसका उत्तर यही है कि यह उपदेश शास्त्र से ही चला है। मील के संचालन में महा-आरंभ होता है और शास्त्र महा-आरंभ का निषेध करता है और महा-आरंभ को नरक गति का कारण कहता है। अतएव मील के वस्त्रों के त्याग का उपदेश धार्मिक दृष्टि से देना उचित है। अगर राजनीतिक दृष्टि भी उससे संगत होती है और उसका समर्थन करती है तो और भी अच्छी बात है।

आज ऐसे वाहियात वस्त्र पहने जाते हैं कि वस्त्र पहनने का उद्देश्य ही नष्ट हो रहा है। लज्जा की रक्षा और संयम के लिए वस्त्रों का उपयोग किया जाता है पर इन वस्त्रों से लज्जा लुट गई है और संयम का भी नाश हो रहा है। मनुष्य की विलासिता क्या-क्या नहीं कर डालती!

आनन्द श्रावक ने एक ही दिन भगवान् का उपदेश सुना था, पर उसने वस्त्रों के प्रति अपनी ममता कम कर ली और एक सूती क्षोम-वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों का त्याग कर दिया; पर आप प्रतिदिन उपदेश सुनते हैं फिर भी आपसे मील के पाप-मय वस्त्र नहीं छूटते!

बारह करोड़ स्वर्ण-मोहरों के स्वामी आनन्द श्रावक के पास कितने आभूषण होंगे ! भला आभूषणों की उसे क्या कमी हो सकती है ? पर नहीं; शास्त्र में उल्लेख मिलता है कि आनन्द ने एक अँगूठी और दो कुंडलों के सिवाय अन्य सब आभूषणों के पहनने का त्याग कर दिया था।

आनन्द के त्याग पर विचार करो तो ज्ञात होगा कि उसने भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर अपना जीवन आदि से अन्त तक सारा ही बदल डाला था। आनन्द के जीवन में विलासिता के स्थान पर संयमशीलता आ गई थी, मोह के स्थान पर त्याग उत्पन्न हो गया था। उसने अपना जीवन संयममय, त्यागमय और वैराग्यमय बना लिया था !

दुनियाँ में खाने की वस्तुओं की क्या कमी है ? जिह्वालोलुप लोग नित्य नये पदार्थों का आविष्कार करते रहते हैं। लेकिन आनन्द ने गिनती की सादी चीजें रखकर शेष समस्त पदार्थों के खाने का त्याग किया और अपनी रसना इन्द्रिय को संयत बनाया। उदाहरणार्थ—फल और मिठाई की बानगियों की गिनती करना कठिन है। संसार में तरह-तरह की मिठाइयाँ और अनेक प्रकार के फल हैं, जिन्हे खाकर लोग आनन्द का अनुभव करते हैं। पर आनन्द श्रावक ने घृतपूर्ण खंड (खाजा) के अतिरिक्त समस्त मिठाइयों का त्याग किया और आम के सिवाय और सब फल खाना छोड़ दिया। इसी प्रकार अन्नों में से कुमोद के चावल और मूंग की दाल आदि कुछ ही चीजों का आगार रखकर शेष सब प्रकार के अन्नो का त्याग किया।

जरा आनन्द के साथ अपनी तुलना करो। वह भगवान् महावीर स्वामी का अनुयायी श्रावक था और आप भी उन्हीं के अनुयायी श्रावक कहलाते हैं। किन्तु आनन्द के और आपके जीवन में कितनी समता है ? आनन्द की संयमशीलता, आनन्द की सादगी और आनन्द के वैराग्य का थोड़ा बहुत अंश भी आप सब में पाया जाता है ? आप भोजन के विषय में ही अपनी स्थिति की तुलना कीजिए। कहाँ तो आनन्द का सीधासादा और सात्विक भोजन और कहाँ आपका चटपटे मसालों, चटनियों और मुरब्बों वाला तामसिक भोजन ! आपके भोजन ने आपके शरीर का जितना पोषण नहीं किया है उतना शोषण किया है। यह मिर्च मसालेदार भोजन शरीर को उखड़ा हुआ, निःसत्व और व्याधियों का घर बना रहा है। वह जीवन को उत्तेजनापूर्ण बनाने में सहायक हो रहा है। जब मिर्चों के कारण आँखों में पानी-सा आने लगता है, नाक बहने लगती है, और मुँह से सी-सी की आवाज आने लगती है, तब भी जीभ की लोलुपता से प्रेरित होकर लोग मिर्चोंदार भोजन करने से बाज नहीं आते, तो मुझे दया आती है ! मनुष्य कितना लाचार बन गया है। वह इन्द्रियों का कितना गुलाम हो रहा है ? भोजन में ही जीवन की सफलता मानी जा रही है। इसी भोजन में से साधुओं को भी आहार मिलता है और इससे आज साधुओं की प्रवृत्ति भी बदल रही है; लेकिन श्रावक आनंद ने आगार में रक्खी हुई कतिपय वस्तुओं के सिवाय सबका त्याग कर दिया था।

जिसका व्यापार चार करोड़ सौनैये का हो उसके चार के पाँच करोड़ सौनिये होने में क्या देरी लगती है ? कदाचित् एक

वर्ष में इतनी वृद्धि न हो तो दो तीन वर्ष में तो सहज ही हो सकती है। किन्तु आनन्द का प्रण था कि मैं व्यापार तो चार करोड़ का करूँगा, परन्तु इन्हें बढ़ाऊँगा नहीं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्यापार करने का ही त्याग आनन्द ने क्यों नहीं कर दिया ? व्यापार का त्याग न करते हुए इस प्रकार का त्याग करने का उद्देश्य क्या हो सकता है ? व्यापार तो करना, पर नफा न लेना और पूंजी न बढ़ाना, यह कैसा व्यापार है ?

मैं पूछता हूँ कि यदि दिल्ली में एक दुकान ऐसी हो जो चार लाख की पूंजी से खोली गई हो और जिसमें सिर्फ उतना ही मुनाफा लिया जाता हो जितना उस दुकान का खर्च हो—उससे अधिक मुनाफा न लिया जाता हो-तो वह दुकान कैसी कहलाएगी ?

'धार्मिक !'

सब लोग यही कहेंगे कि धर्म और प्रामाणिकता इसी के घर है। पर लोगों ने व्यवहार में यह सीख रक्खा है कि यदि पैसा नहीं कमाना है तो फिर व्यापार ही क्यों किया जाय ! ऐसा सोचने वाले व्यक्तिगत स्वार्थ से आगे कुछ नहीं सोचते। उन्हें सामाजिक आदर्श का भान नहीं है। वस्तुतः जब तक संसार नहीं छोड़ा है, दीक्षा लेने का समय नहीं आया है, उसके पूर्व ही व्यापार छोड़ बैठना और अकर्मण्य बन कर निरंकुश जीवन व्यतीत करते हुए खाना क्या बुद्धिमत्ता है ?

महाजनक नामक एक ग्रन्थ में पढ़ा था कि जब राजा महाजनक को संसार से भय हुआ और उन्होंने संसार त्याग कर

दीक्षा लेने का विचार किया तब खाना-पीना छोड़ दिया। जब उनके प्रधान को यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो वे राजा के पास आये और कहने लगे—'अन्नदाता ! आपने भोजन-पानी क्यों त्याग दिया है ? कृपा कर भोजन कीजिए। हम सब बड़े व्याकुल हैं।' तब राजा ने उत्तर दिया—'प्रधानजी, बस कीजिए। अब भोजन के लिए आग्रह न कीजिए। अगर मैं पहले की भाँति राज्य और प्रजा की रक्षा करूँ और राज्य में अमन-चैन क़ायम रक्खूं, तब तो राज्य के पैसे से उदर-निर्वाह करना उचित है, लेकिन जब मैं राज्य की रक्षा नहीं कर रहा हूँ और संसार को त्यागने का विचार कर रहा हूँ, तब राज्य का अन्न खाना मेरे लिए हराम है।'

तात्पर्य यह है कि खाना तो सही, पर व्यापार न करना; यह धर्म को कलंकित करना है। धर्म परिश्रम त्याग कर परिश्रम के फल को अनायास भोगने का उपदेश नहीं देता। धर्म अकर्मण्यता नहीं सिखाता। धर्म हरामखोरी का विरोध करता है, हक़ के खाने का विधान करता है। आनंद ने जिस दिन भगवान् का धर्मोपदेश सुना था उसी दिन पूंजी बढ़ाने का त्याग कर दिया था।

यह भी आशंका की जा सकती है कि आनन्द व्यापार में मुनाफ़ा लेकर दान कर देता तो क्या बुराई थी ? उसने ऐसा क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि आनन्द ढोंग करना न जानता था। पैर में कीचड़ लगा कर फिर उसे धोने की अपेक्षा कीचड़ न लगने देना ही अधिक श्रेयस्कर है। पहले दूसरे से

लेना और फिर उसे देने से लाभ क्या है ? हाँ, इस में हानि अलवत्ता है। इस प्रकार का दान कीर्ति लूटने के लिए किया जाता है और वह दाता के अहंकार का पोषण करता है। अतएव उससे लोभ और अभिमान कषाय जागृत होते हैं। ऐसा दान देकर दाता, दानीय व्यक्ति से अपने आपको विशेष गौरवशाली, ऊंचा और बड़ा अनुभव करता है और लेने वाले को दीन, दयापात्र, और नीच समझता है। इस दुर्भावना के अतिरिक्त इस दान में और क्या विशेषता है ? अतएव पहले से ही प्राप्त की हुई वस्तुओं से ममत्व घटाने के लिए दान देना प्रशस्त है; परन्तु कीर्त्ति कामना से प्रेरित होकर, अहंकार का पोषण करने के लिए धन आदि का उपार्जन कर-करके दान देने की अपेक्षा उसका उपार्जन न करना ही बेहतर है।

आनन्द न तो कीर्त्तिकामुक था, न अहंकारी था। इसी कारण उसने गरीबों से लेकर फिर देने की अपेक्षा नफा न लेने का प्रण करना ही उचित समझा, जिससे किसी को अपनी हीनता न खटके, किसी के गौरव को क्षति न पहुँचे और कोई अपने आपको उपकृत समझ कर ग्लानि का अनुभव न करे। श्रावक का यह कितना उच्च आदर्श है !

आनन्द के पास चालीस हजार गायें थीं। इन गायों की संख्या बढ़ाने का भी उसने त्याग कर दिया था। कोई यह कह सकता है कि गायों की सन्तति होने पर उनकी संख्या बिना बढ़े कैसे रह सकती है ? और सन्तति न बढ़े, यह तो संभव ही नहीं है। इसका उत्तर यह है कि आनन्द ने अपने पास तो

चालीस हजार गायें रक्खी ही थीं। उन्हें वह बेचता तो था नहीं, क्योंकि जैसी रीति से श्रावक के घर सुख-सुविधा पूर्वक गायें रक्खी जाती हैं, इस तरह बेच देने पर दूसरे के घर कहाँ रह सकती हैं? अतएव जब कभी किसी को बढ़ाना होता था, किसी को सुखी बनाने की आवश्यकता होती थी और उसके कल्याण में सहायता पहुँचानी होती थी, उस समय आनन्द अपने यहाँ से उसे गायें भेज दिया करता था।

इस प्रकार गायें भेजने के अनेक अभिप्राय थे। प्रथम तो जिसके यहाँ भेजी जाती थी, उसे गायों के साथ एक प्रकार की सेवा सौंपी जाती थी। क्योंकि जब तक गाय की सेवा नहीं की जाती तब तक वह दूध नहीं देती और उस समय आजकल की अपेक्षा गायों के सुख का विशेष रूप से ध्यान रक्खा जाता था। आजकल की भाँति उपेक्षा और क्रूरता का व्यवहार गायों के प्रति उस समय नहीं किया जाता था। अतएव जिसके यहाँ गाय भेजी जाती थी वह एक प्रकार से सेवा का सबक सीख लेता था।

गाय भेज देने का दूसरा अभिप्राय यह था कि ऐसा करने से नियत संख्या में वृद्धि नहीं होती थी और आनन्द का व्रत स्थिर रहता था।

तीसरी बात यह कि जिसके घर गाय हो जाती थी, वह दूध दही पा जाता था और सटर-पटर खाने से बच जाता था। उससे कुटुम्ब-भर को आराम मिलता था।

इस उपाय से आनन्द अपनी की हुई मर्यादा से अधिक गायें नहीं रखता था और न उसे बेचने के लिए ही बाध्य होना पड़ता था।

आनन्द श्रावक का उल्लेख करने का आशय यह है कि उसने भगवान् का उपदेश सुनकर अपना मोह घटा लिया था। आनन्द के इस 'आदर्श' में आप अपने व्यवहार पर दृष्टि डालिये। आप लोग अपना मोह हटाते नहीं हैं, पाप बढ़ाने वाले वस्त्राभूषण आपसे छूटते नहीं हैं, फिर भी यह कहते हैं कि अर्हन्त भगवान् ने जो राज्य लिया है उससे हम भी लाभ उठावेंगे ! यह तो वही बात हुई कि गांधीजी के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलेंगे नहीं, पर उनके लाये हुए लाभ में अवश्य हिस्सा लेंगे। बबूल बोकर आम कोई नहीं पा सकता। धर्म के प्रतिकूल काम करो और जब हानि हो तो धर्म को बदनाम करो, यह कहाँ तक ठीक है ? अतः भोग-विलास त्यागो—उसे कम करो और अर्हन्त के राज्य का प्रसार करो।

गहनों और कपड़ों का युग बदल गया। आज बड़े-बड़े गहने और बहुमूल्य फैन्सी वस्त्र पहनने वाले न सेठ गिने जाते हैं, न सभ्य एवं सुसंस्कारी ही माने जाते हैं। गहनों और कपड़ों से सजने वालों को आज की अधिकांश प्रजा खिलौना समझती है। उनका उपहास करती है। उन्हें हीन दृष्टि से देखती है। आज बड़े-बड़े गहने और रंग-बिरंगे लज्जानाशक वस्त्र सभ्यता और संस्कार के अभाव के सूचक बन गये हैं। आज तो उसी का महत्व है, उसी में बड़प्पन है, जो गरीबों की सेवा करता है। ऐसा न करके बड़ा बनना घोड़े की पूंछ के समान है। घोड़े की पूंछ जितनी बड़ी होगी, घोड़ा उससे उतनी ही अधिक मक्खियाँ मारेगा। अतएव आडम्बर का अन्त करो। सादगी सीखो और कहो—हम गरीबों के पीछे हैं। तीर्थंकर भगवान् भी गरीबों के

पालने वाले हैं और आप गरीबों के पालने वाले न होकर उनके राज्य में भाग लेना चाहें तो क्या यह उचित होगा ? गरीबों पर दया करना ही वास्तव में दया धर्म है।

हम दयाधर्म के अनुयायी हैं। दया धर्म की स्थापना भगवान् अर्हन्त ने की है। सोचो—दया किस पर आयगी ? धनिक और सुखी पर या गरीब और दुःखी पर ?

'गरीब और दुःखी पर

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आपने कभी दया के दर्शन किये हैं ? मित्रो ! दया का एक मंदिर है। उस मंदिर में दया की मूर्ति विराजमान है। आप चाहें तो दया देवी के दर्शन करके अपने नयनों को कृतार्थ कर सकते हैं।

आप सोचते होंगे कि कौन ऐसा अभागा है जो दया देवी के दर्शन न करना चाहे ? आपका सोचना ठीक है और मेरा भी कर्त्तव्य है कि मैं आपको उस देवी का मंदिर बतादूं, उसका आपको दर्शन कराऊं और साथ ही मैं स्वयं दर्शन करके अपना सौभाग्य सफल करूँ।

म्हारी दया माता, थांने मनावां देवी सासता।
थां सम देवी नहीं कोई जग में हाथां हाथ हजूर।
तूठा तत्क्षण मिले कामना, दुःख कर दे सब दूर रे ॥म्हारी०॥

इस पद में बताया गया है कि दया माता के समान संसार में दूसरी कोई देवी नहीं है। आजकल जिसे देवी, माता या शक्ति कहते हैं, उसे लोगों ने भयानक रूप दे डाला है। वह देवी आज घोर हत्याकारिणी बनी हुई है। इस पर पशुओं का

और कहीं-कहीं तो मनुष्यों तक का बलिदान दिया जाता है और उस बलिदान में देवी का संतोष हुआ समझा जाता है। यह कितनी बड़ी भ्रमणा है। जो देवी है—जगत् की माता है, उसके लिए मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि समस्त छोटे-बड़े जीवधारी अपने पुत्र की भाँति प्रिय हैं। ऐसी अवस्था में क्या वह अपने पुत्रों की बलि से प्रसन्न हो सकती है? कदापि नहीं। अगर वह प्रसन्न होती है तो उसे भगवती या देवी शब्द से पुकारना उन शब्दों को लजाना है। मगर दया देवी का स्वरूप अतिशय सौम्य है, अत्यन्त आह्लादकारी है, कल्याणमय है। वह देवी घात नहीं करती, किन्तु जगत् की रक्षा करती है।

विचार कर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि संसार की स्थिति दया देवी के अनुग्रह पर ही निर्भर है। संसार में दया देवी का राज्य न होता तो संसार श्मशान के समान भयानक होता और जीवधारियों का जीवन दुर्लभ बन जाता। किसी ने ठीक कहा है—

माता दया हो तुमको प्रणाम,
तेरे बिना है जग मृत्यु-धाम।
तू ही बचाती अरु पालती है,
दुःखी जनों के दुख टालती है।

यही कारण है कि अलंकार की भाषा में दया को देवी, माता या भगवती कहा जाता है।

देवीपुराण में द्विभुजी, चतुर्भुजी, अष्टभुजी या सहस्रभुजी देवी किसे कहा गया है और उनके विषय में क्या-क्या बतलाया

गया है, यह बताने का समय नहीं है। यहाँ सिर्फ एक ही बात देवी पुराण की कहता हूँ। पुराण में बतलाया है कि शुंभ और निशुंभ नामक दो राक्षसों का देवी के साथ युद्ध हुआ। देवी इन राक्षसों का जब सिर काटती थी तब उनके सिर से जो रक्त के बूंद गिरते थे उन बूंदों से सहस्रों शुंभ-निशुंभ उत्पन्न हो जाते थे। देवी इन राक्षसों का वध करते-करते हैरान-परेशान हो गई; तब उसने एक उपाय किया। उसने उनका रक्त भूमि पर नहीं गिरने दिया। अपने खप्पर में वह खून लिया और वह पी गई। इससे देवी का नाम रक्त-पायिनी पड़ गया।

इस घटना के कारण आज उस देवी को हत्यारी और रक्त-प्रिय समझा जाता है। उसके नाम पर हजारों-लाखों निर्दोष और मूक प्राणियों की बलि चढ़ाई जाती है। मैंने उस देवी का जो स्वरूप समझा है, उसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में वह देवी 'दया देवी' ही है। उसके राग-द्वेष रूपी शुम्भ और निशुम्भ नामक दो शत्रु हैं। इन दोनों दुश्मनों को अगर राग-द्वेष से ही नष्ट करने का प्रयास किया जाय तो एक की जगह सहस्रों राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव दया देवी इन्हे पी गई। उन्हें पी जाने से शुम्भ-निशुंभ रूप राग-द्वेष की उत्पत्ति बन्द हो गई।

देवी पुराण की पूरी घटना में जो अलंकार है, उसका विश्लेषण करके, उस रूपक को सांगोपांग समझाने का समय नहीं है। अतएव यहाँ सिर्फ यही कहूँगा कि दया के समान दूसरी देवी नहीं है। जिस दिन दुनिया से दया उठ जायगी, उस दिन दुनिया

मृत्यु-धाम बन जायगी। माता अपने पुत्र का, सन्तान अपने माता-पिता का और एक आदमी दूसरे आदमी का रक्षण नहीं करेगा। परोपकार, पारस्परिक सहकार, क्षमा, सेवा आदि दिव्य भावनाएँ भूतल से उठ जाएँगी। इस प्रकार दया के अभाव में संसार की क्या स्थिति होगी, इस बात की कल्पना ही दिल दहला देती है। पर ऐसा हो नहीं सकता। अगर संसार सदा-शाश्वत बना रहता है तो दया का अस्तित्त्व सर्वथा मिट नहीं सकता। प्राणी मात्र के अन्तःकरण में न्यूनाधिक मात्रा में उस देवी का निवास रहता है। सिंह अत्यन्त निर्दय और हिंसक माना जाता है; फिर भी वह अपने कुटुम्ब के प्रति दयालु ही होता है। उसके अन्तःकरण के एक कोने में दया देवी की सौम्य मूर्त्ति विद्यमान है। वह घट-घट वासिनी है। हृदय के पट खोलो और जरा सावधानी से देखो तो तुम्हे अपना हृदय ही दया देवी का मंदिर दिखाई देगा और तुम उस देवी के दर्शन करके कृतार्थ हो सकोगे।

और दया देवी क्या प्रत्यक्ष नहीं है? उसके विषय में 'इस हाथ दे, उस हाथ ले' की कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। अन्तगड़-सूत्र में यही कहा है और अन्य शास्त्रों में भी यही बात कही है कि दया देवी का शरण ग्रहण करने वाला कभी अपमानित नहीं होता। सुदर्शन सेठ दया का भक्त बन करके ही अर्जुन माली के सामने गया था। भगवान् अरिष्टनेमि ने भी श्रीकृष्ण महाराज से यही कहा था कि—

'हे कृष्णजी, आप उस पुरुष पर क्रोध न करें। उसने गज-

सुकुमार मुनि का कुछ भी अनिष्ट नहीं किया है। उसने उलटा उनका उपकार किया है—उन्हें सहायता पहुँचाई है।"

गीता में भी यही कहा है कि अत्यन्त अल्प दया धारण करने से भी प्राणी महापाप और महाभय से बच जाता है।

मेघकुमार ने हाथी के भव में खरगोश की दया की थी। अगर कोई आदमी बीस पहर तक आपकी सेवा करे तो आप उसे पचीस-पचास रुपये या बहुत उदारता दिखाएँगे तो सौ रुपये दे देंगे। मगर मेघकुमार हाथी ने दया देवी की सेवा की, तो देवी ने प्रसन्न होकर उसे तिर्यञ्च से मनुष्य बना दिया और फिर भगवान् का अन्तःवासी बनाकर विजय नामक स्वर्ग तक पहुँचा दिया। यह है दया देवी की देन !

प्रश्न किया जा सकता है कि आपने दया को देवी का रूप दिया है, देवी का वाहन सिंह है-सिंह पर देवी सवार होती है, तो दया देवी का वाहन क्या ? उत्तर यह है कि हमारी दया देवी भी सिंह पर आरूढ़ है। देखिये—

ज्ञानरूप सिंह की असवारी,
तप-तिरशूल हाथ।
हाक-धाक करती दुश्मन पर,
करे रिपू की घात रे ॥म्हा०॥

दया देवी ज्ञान-रूपी सिंह पर सवार होती है। ज्ञान-सिंह पर सवार होकर वह अज्ञान-तिमिर का विनाश करती है। जैसे

सिंह निर्बल पशुओं को मार कर खा जाता है उसी प्रकार यह ज्ञान रूपी सिंह, अज्ञान से निर्बल हुई इन्द्रियों को अर्थात् इंद्रियजन्य भोगोपभोग की लोलुपता को मार कर खा जाता है—लोलुपता का समूल विनाश कर देता है।

पुस्तकें पढ़ लेना और परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना ही ज्ञान नहीं है। दया देवी की अनुपस्थिति में वह ज्ञान तो अज्ञान कहलाता है। इन्द्रियदमन करना ही सच्चा ज्ञान है। इन्द्रियदमन में ही ज्ञान की सार्थकता है। इसके बिना ज्ञान निरर्थक है—बोझ है, जो उलटी परेशानी पैदा करके मनुष्य का शत्रु बन जाता है।

पढमं नाणं तओ दया।

अर्थात् पहले ज्ञान की आवश्यकता है, उसके पश्चात् ही दया देवी का आविर्भाव होता है।

जैसे कहा गया है कि बिना सिंह के देवी ठहरे किस पर? इसी तरह बिना ज्ञान के दया कैसे हो सकती है? दया के वास्तविक स्वरूप का भान ही न होगा तो उसकी यथावत् आराधना कैसे संभव है? आज दया को-जो रूप दिया जाता है और जिस रूप में दया का पाल लेना माना जाता है, उसका एकमात्र कारण अज्ञान ही है। ज्ञान प्राप्त करोगे तो पता चलेगा कि सच्ची दया का स्वरूप क्या है? अतएव मोह को हटाओ और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करो।

कई लोग आलस्य में ही दया माने बैठे हैं। शरीर से काम

न करना और ऐश-आराम में पड़े रहना, यही उनके लिए दया बन गई है। परन्तु ऐसा करने से आलस्य ने शरीर को घर बना लिया है। इसी आलस्य के कारण स्त्रियाँ घूमने लगती हैं, तब यह समझा जाता है कि इन्हें भूत लग गया है या हिस्टीरिया रोग हो गया है।

मित्रो ! स्वयं आलस्य के वश होकर पड़े रहना और दूसरों से काम करा लेना दया नहीं है। दया करनी हो तो पहले ज्ञान सीखो। ज्ञान से ही दया होती है। दया देवी के दर्शन करना हो तो वह देखो, ज्ञान रूपी सिंह पर सवार है। अज्ञान से उसके दर्शन न होंगे। जब तक अज्ञान विद्यमान है तब तक दया की परछांई पाना भी कठिन है।

देवी के हाथ में त्रिशूल होता है, जिसके द्वारा वह अपने शत्रुओं का हनन करती है। इस दया-देवी के हाथ में क्या है ? इसका उत्तर यह है कि दया-देवी तप रूपी त्रिशूल को ग्रहण किये हुए है। तप-त्रिशूल से दुश्मन सदा भयभीत रहते हैं। इसी त्रिशूल के द्वारा वह अपने शत्रुओं का संहार करती है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जो दया है वह वैरियों का नाश कैसे करती है ? क्या वह हिंसा करती है ? अगर वह हिंसा करती है तो फिर दया कैसी ?

जगत् का निरीक्षण करो तो सर्वत्र विरोध या प्रतिपक्षिता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ एक का दूसरा दुश्मन है। प्रकाश का शत्रु अँधेरा है और अँधेरे का शत्रु प्रकाश है। ज्ञान का शत्रु अज्ञान और अज्ञान का शत्रु ज्ञान है। इस प्रकार एक शक्ति

अपनी विरोधी शक्ति का संहार किया करती है। लोग यह समझ बैठते हैं कि विरोधी शक्ति का नाश करना भी हिंसा है। वास्तव में आत्मा या आत्मिक शक्तियों के विरोधी का नाश करना हिंसा नहीं है। अगर ऐसा होता तो अरिहंत अर्थात् आत्मिक शत्रुओं को नाश करने वाले महापुरुष एवं भगवान् क्यों कहलाते ?

गीता में जो धर्म-क्षेत्र और कुरु-क्षेत्र कहे हैं वे भी दूसरे हा हैं। कु-कुत्सित, की रु-अर्थात् उत्पत्ति जहाँ होती है अर्थात् जिस स्थान पर बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं वह कुरुक्षेत्र है। जहाँ धर्म की उत्पत्ति होती है वह धर्मक्षेत्र कहलाता है। इस प्रकार कुरु-क्षेत्र को धर्म क्षेत्र बनाने के लिए ही गीता का विस्तार है। गीता में, वास्तव में दैवी और आसुरी प्रकृति का युद्ध कराया गया है। परन्तु साधारण लोग हिंसा को ही लड़ाई समझते हैं। यहाँ धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र का जो अर्थ किया गया है, वह मेरी कल्पना का फल नहीं है, स्वयं गांधीजी ने अपने अनुवाद में यही अर्थ किया है।

तात्पर्य यह है कि संसार में एक दूसरे का शत्रु है। झूठ का शत्रु सत्य है, सत्य का शत्रु झूठ है। क्रोध का शत्रु क्षमा और क्षमा का शत्रु क्रोध है। जब दया-देवी ज्ञान-सिंह पर आरूढ़ होकर तप-त्रिशूल हाथ में लेकर प्रकट होगी तब वह अपने विरोधी दल को कैसे बचा रहने देगी ? अब प्रश्न यह है कि दया का विरोधी कौन है ? उत्तर यह है कि दया की विरोधिनी हिंसा, ज्ञान का विरोधी अज्ञान और तप का विरोधी इन्द्रियभोग है। दया देवी इन्हीं की शत्रु है। जब वह ज्ञान-सिंह पर आरूढ़

होकर तप का त्रिशूल हाथ में लेकर युद्ध-क्षेत्र में आती है, तब उसके विरोधियों के छक्के छूट जाते हैं।

दया की यह शक्ति आज प्रत्यक्ष ही देख पड़ती है। जिनके हाथ में एक फूल की छड़ी भी नहीं है, उनसे विराट् भौतिक शक्ति से सम्पन्न सरकार भी क्यों काँपने लगी है? सरकार के पास तोपें, तलवारें, बंदूकें और मशीनगनें हैं, फिर भी अहिंसा के सामने सब बेकार क्यों हो गई हैं? यह दया का ही अद्भुत प्रभाव है। गांधीजी विलायत गये हैं, पर क्या अपने साथ तोप या तलवार बाँध कर गये हैं?

'नहीं।'

और जब वाइसराय कहीं जाते हैं तो रेलवे लाइन पर पुलिस मँडराती रहती है, ट्रेन पर ट्रेन छोड़ी जाती है कि लोगों को यह पता न चल सके कि वाइसराय साहब किस ट्रेन में चल रहे हैं। इस अन्तर का कारण क्या है? यही कि गांधीजी के पास अहिंसा की अमोघ शक्ति है और वाइसराय के पास वह शक्ति नहीं है। जो शस्त्र का प्रयोग करता है उसे शस्त्र का भय बना ही रहता है। इसके विपरीत जो शस्त्र रखता ही नहीं है— जो शस्त्रों द्वारा दूसरों को भयभीत नहीं करता, शस्त्र उसे भयभीत नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, जिसने शस्त्र-भय पर विजय प्राप्त कर ली है उसके सामने शस्त्र भोटे (भोंथरे) हो जाते हैं।

दया-देव की सवारी का जैसा आलंकारिक वर्णन किया गया है वैसा ही उसके मुकुट और उसकी भुजाओं का भी है, पर उसे कहने के लिए अधिक समय अपेक्षित है। उसका

वर्णन छोड़ कर यहाँ यही बताना है कि दया-देवी का निवास-स्थान कहाँ है ?

> लख कर दुःखी जन दीन जिसका हृदय है न पसीजता।
> मुझ को रिझाना चाहता कैसे भला मैं रीझता ?
> जिसके हृदय में है दया करता उसी पर मैं दया।
> कर दूँ सुलभ उसको सभी सुख दूँ उसे मैं नित नया॥

दीन-दुखी-जन को देखकर ही दिल में दया का उद्रेक होता है। दया कहती है कि जहाँ कहीं दुखिया को देखो, वही मेरा मंदिर समझ लो। दुखिया का मन ही मेरा मंदिर है। मैं ईंट और चूने के कारागार में कैद नहीं हूँ। जड़ पदार्थों में मेरा वास नहीं है। मैं जीते-जागते प्राणियों में निवास करती हूँ।

यूनान के सुप्रसिद्ध तत्त्व-वेत्ता ने बूचड़खाने में दया के दर्शन किये थे। अगर तुम भी दया-देवी के दर्शन करना चाहते हो तो बूचड़खाने में जाकर देखो, जहाँ अत्यन्त क्रूरता के साथ, पीड़ा से बिलखते हुए प्राणियों की गर्दन पर छुरियाँ चलाई जाती हैं। उन निस्सहाय और निरपराध प्राणियों का आर्त्तनाद कलेजे में भाले की भाँति चुभता है। यद्यपि जिन्होंने अपना कलेजा फौलाद का बना लिया है उन पर उसका असर नहीं होता, तथापि जिनका हृदय मांस-पिण्ड का है, वे उससे थर्रा उठते हैं। वहाँ दया साकार होकर प्रकट होती है। सर्वत्र विषादमयी करुणा व्याप्त रहती है। वहाँ के करुण दृश्य देख कर किस विवेकी का रोम-रोम न काँप उठेगा ! अतएव जहाँ दया के दर्शन होते हैं वहाँ देखो। जहाँ देखने से दया दृष्टिगोचर नहीं होती, वहाँ नजर दौड़ाने से क्या लाभ है ?

जब आप व्याख्यान सुनने आते हैं तब रास्ते में अगर कोई लूला-लँगड़ा, भूखा-प्यासा, दीन-दुखिया मिल जाय तो क्या होना चाहिए ?

'दया आनी चाहिए।'

मगर यदि कोई उसे देख कर मुँह मोड़ ले और यहाँ आकर उच्च स्वर से दया के भजन गावे तो क्या यह ठीक कहा जायगा ? 'नहीं।'

परमात्मा और दया का कहना है कि दुःखी को देखकर जिसका हृदय न पसीजे, जिसके हृदय में मृदुता या कोमलता न आवे, वह यदि मुझे रिझाना चाहता है तो मैं कैसे रीझ सकता हूँ ?

मित्रो ! दया का दर्शन करना हो तो गरीब और दुःखी प्राणियों को देखो। देखो, न केवल नेत्रों से, वरन् हृदय से देखो। उनकी विपदा को अपनी ही विपदा समझो और जैसे अपनी विपदा का निवारण करने के लिए चेष्टा करते हो वैसे ही उनकी विपदा निवारण करने के लिए यत्नशील बनो।

सुना है कि अमेरिका का एक जज बग्घी में बैठा अदालत जा रहा था। मार्ग में उसने देखा कि एक सूअर कीचड़ में ऐसा फँस गया है कि प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं पाता है। सूअर की बेबशी देख कर जज गाड़ी से उतर पड़ा और सूअर के पास जाकर कीचड़ से उसका उद्धार कर दिया। जब सूअर बाहर निकल आया और भाग गया तब जज प्रसन्न होकर अपनी गाड़ी में बैठ गया। सूअर को निकालने में जज की पोशाक कीचड़ से भिड़ गई थी। कोचवान कहने लगा—'हुजूर आपने

मुझे आज्ञा क्यों नहीं दी ? आपकी सारी पोशाक खराब होगई है। सूअर को तो मैं ही निकाल देता। जज ने जवाब दिया—'इस कार्य से मुझे जो आन्तरिक आनन्द हुआ है, जो नैतिक सन्तोष हुआ है, वह तुम्हारे द्वारा कराने से क्या संभव हो सकता था ? भोजनजन्य आनन्द लाभ करने के लिए मनुष्य स्वयं खाता है, दूसरों को अपने बदले नहीं खिलाता तो फिर उस आनन्दप्रद कर्त्तव्य को मैं स्वयं न कर के दूसरे से क्यों कराता ?

जज साहब बग्घी में बैठे और बग्घी अदालत की ओर अग्रसर हुई। अदालत पहुँचने पर वहाँ के लोगों ने जज साहब की पोशाक देखी तो वे आश्चर्य-चकित हो रहे। सोचने लगे—आज मामला क्या है ? जज साहब और इस भेष में ?

आखिर कोचवान ने सारी घटना सुनाई। उसे सुनकर सब लोगों के विस्मयका पार न रहा। लोग कहने लगे—इतना बड़ा आदमी सूअर को भी क में न देख सका ! जो व्यक्ति न्यायासन पर बैठकर अपने कर्त्तव्य का पालन करने में कठोर से कठोर बन सकता है, वही दूसरे क्षण फूल से भी कोमल होता है ! कवि ने ठीक ही कहा है—

> वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।
> लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ॥

अर्थात् असाधारण पुरुषों का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर और फूल से भी अधिक कोमल होता है। उनके चित्त की थाह पाना बड़ा कठिन है।

सचमुच असाधारण पुरुष वही है जो अपने धर्म एवं कर्त्तव्य

का पालन करने में वज्र से भी अधिक कठोर बन जाता है। उसे संसार की कोई भी शक्ति धर्मपथ से या कर्त्तव्य मार्ग से च्युत नहीं कर सकती। वह लोक-लाज की भी परवाह नहीं करता और अगर वैसा करने से कोई तात्कालिक बाधा आती है तो उससे भी नहीं डरता। किन्तु जब किसी प्राणी को विपदा में पड़ा हुआ पाता है तो उसका हृदय एक दम फूल-सा कोमल बन जाता है। दूसरे प्राणी के आन्तरिक संताप की आँच लगते ही उसका हृदय नवनीत की भाँति पिघल जाता है।

जज साहब की दया से सभी प्रभावित हुए। सभी लोग मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा करने लगे। अपनी प्रशंसा सुन कर जज साहब ने कहा—मैंने सूअर का उद्धार नहीं किया है वरन् अपना उद्धार किया है। उस सूअर को कीचड़ में फँसा देखकर मेरे हृदय ने दुःख अनुभव किया। अगर मैं उसे यों ही फँसा हुआ छोड़ आता तो मेरे दुःख का अंकुर नष्ट न होता, बल्कि वह अधिकाधिक बढ़ता चला जाता। वह सूअर निकल गया तो मेरे दिल से दुःख का कांटा निकल गया। मैं अब निश्शल्य हूँ-निराकुल हूँ।

जज की यह कैफ़ियत सुन कर लोग अधिक दंग हुए। लोग पैसे भर भलाई करते हैं तो सेर भर अहसान लादने की चेष्टा करते हैं और अपना बड़प्पन प्रकट करते नहीं अघाते। एक जज साहब हैं जो सूअर जैसे प्राणी पर उपकार करके भी अपने-आपको उपकृत समझते हैं। न किसी पर अहसान, न किसी किस्म की डींग!

यह दया है। यह धर्म है। यह कर्त्तव्य है। जो दूसरे को दुःखी देखकर उसके दुःख को आत्मीय भावना से ग्रहण करता है और दूसरे के सुख में प्रसन्न होता है वही दयालु है, वही धर्मी है, वही कर्त्तव्यनिष्ठ है।

भाइयो ! अगर आपके अन्तःकरण में दया का वास होगा तो आप ऐसे वस्त्र कदापि न पहनेंगे जिनकी बदौलत संसार में बेकारी और गरीबी बढ़ती है। आप ऐसा भोज कदापि न करेंगे जिससे आपके भाई-बन्दों को भूख के मारे तड़फ-तड़फ कर मरना पड़ता है। आपके प्रत्येक व्यवहार में गरीबों की भलाई का विचार होगा। आपके अन्तःकरण में निर्धनों के दुःखों के प्रति सदा संवेदना जागृत रहेगी। आप उनके प्रति सदैव सहानुभूतिमय होंगे। उनके सुख के लिये प्रयत्नशील होंगे। आप उनकी सहायता करेंगे, और उस सहायता के बदले उन पर अहसान का बोझा नहीं लादेंगे, वरन् उनका उपकार करके अपने आपको उपकृत समझेंगे।

भगवान् सुबुद्धिनाथ का जो राज्य मैंने बताया है वह राज्य अहिंसा की जड़ जमाकर, प्राणी मात्र को सुख पहुँचाने से हुआ है। अगर आप लोग भगवान् के राज्य का सुख अनुभव करना चाहते हैं—अगर आप उसमें हिस्सा लेना चाहते हैं, तो भगवान् द्वारा प्रतिपादित दया की आराधना करो।

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणइ॥

अर्थात् मैं समस्त जीवों से क्षमा-याचना करता हूँ। सब

जीव मेरे अपराध क्षमा करें। प्राणी मात्र पर मेरा मैत्री भाव है। मेरा किसी के प्रति वैर नहीं है।

इस भव्य भावना को जिह्वा से न बोलो, वरन् हृदय से बोलो। इस भावना में जो उत्कृष्ट भाव भरे हैं उन्हे हृदय में स्थान दो। प्राणी मात्र के प्रति मैत्री का भाव अनुभव करो और सच्चे मित्र की तरह व्यवहार करो।

द्वारिका नगरी में बूढ़ा ईंटें ले जा रहा था, तो इससे श्रीकृष्ण का क्या बिगड़ता था ? उन्होंने यह क्यों नहीं समझ लिया कि बूढ़ा अपने कर्मों का फल भोग रहा है और हम अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं ? जो तीन खंड के नाथ थे, समस्त यादव जिनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे जिनकी द्वारिका सोने की बनी थी, उन कृष्ण को देखने के लिए कितने राजा-महाराजा लालायित न रहते होंगे ? पर कृष्ण ने और किसी को न देख कर उस बूढ़े को देखा। द्वारिका में और कोई दुःखी दिखता ही कहाँ, केवल वही दुःखी दिखाई दिया। कृष्ण के दिल में दया नहीं होती तो वे उसकी ओर नजर ही क्यों दौड़ाते ?

कोई-कोई शास्त्र ईश्वर और जीव को मूलतः भिन्न-भिन्न कहते हैं। लेकिन महाभारत में लिखा है कि कृष्णजी ने बदरी-वन में कई जन्म तक तप किया है। कृष्णजी स्वयं कहते हैं कि—'हे अर्जुन ! मैंने और तूने साथ-साथ तप किया है।'

इससे यह सिद्ध है कि आत्मा अपने समस्त विकारों का जब तपस्या की आग में भस्म कर देता है तब वह निर्विकार होकर अपने सहज स्वभाव में स्थित हो जाता है। संवर के द्वारा

नवीन कर्मों के आगमन रुक जाने पर और निर्जरा द्वारा पूर्व-कृत कर्मों का विनाश हो जाने पर आत्मा निष्कर्म बन जाता है। उस निष्कर्म अवस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। यही मोक्ष है। अतएव प्रत्येक आत्मा, परमात्मपद का अधिकारी है। अगर आप तपस्या करके कर्मों का क्षय करेंगे तो अनन्त, अक्षय और अव्याबाध कल्याण के भागी होंगे।

महावीर भवन,
देहली
ता० १२-९-३१
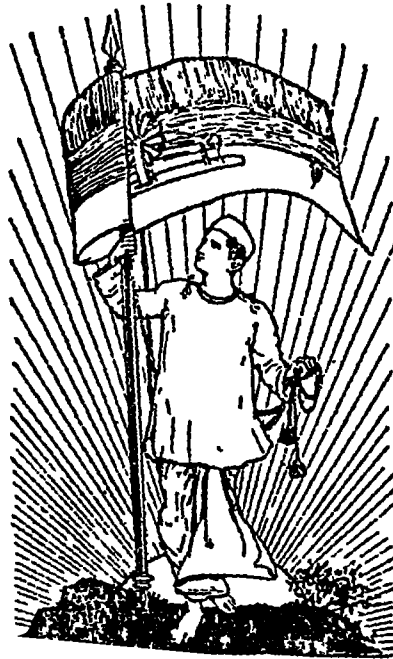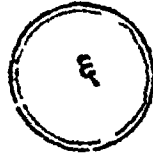
कल्याणी करुणा

प्रार्थना

श्री दृढरथ नृपति पिता, नन्दा थारी माय ।
रोम-रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय ॥ जय० ॥

सभा में मैंने जो प्रार्थना बोली है, वह केवल मेरी नहीं है, किन्तु सभा में जितने व्यक्ति बैठे हैं, उन सभी की है। यह प्रार्थना समष्टि की ओर से की गई है।

ईश्वर की प्रार्थना में कितना बल है, यह बात वही जानता है जो प्रार्थना करता रहता है। अभी आप प्रार्थना के बल को भले ही न समझ सकें, लेकिन निरन्तर प्रार्थना करते रहने से

उसका बल मालूम हो जायगा। बालक जब अक्षराभ्यास आरंभ करता है तब उसे अक्षर का महत्त्व मालूम नहीं होता। धीरे-धीरे अभ्यास करके जब वह निष्णात बन जाता है तब अक्षर का महत्त्व भी समझने लगता है। इसी प्रकार सदा श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करने वाला धीरे-धीरे प्रार्थना की अद्भुत शक्ति का अनुभव करने लगता है। उसे यह भी प्रतीत हो जाता है कि अन्त में प्रार्थी और प्रार्थ्य अर्थात् प्रार्थना करने वाला और जिसकी प्रार्थना की जाती है वह दोनों एक हो जाते हैं। प्रार्थना जब प्रार्थी को प्रार्थ्य बना देती है, तब प्रार्थना की उपयोगिता नहीं रह जाती।

इस प्रार्थना में कहा गया है—

जय जय जिन त्रिभुवन धनी, करुणानिधि करतार,
सेव्यां सुरतरु जेहवो, वांछित सुख दातार ॥

हे जगन्नाथ! हे भूतनाथ! हे प्रभो, तुम करुणा-निधि करतार हो। तुम करुणा के अक्षय कोष हो। हे नाथ! तुम्हारी करुणा अपार है। चर्म-चक्षुओं से तुम्हारी करुणा का पार नहीं मिल सकता। जहाँ चर्म-चक्षु को तुम्हारी करुणा दृष्टिगोचर नहीं होती, वहाँ ज्ञानी-जन अपने दिव्य नेत्रों से तुम्हारी परम करुणा के विस्तार को देखते हैं।

भगवान् करुणानिधान किस प्रकार हैं, इस प्रश्न का समाधान यह है कि जो हमारी रक्षा करे, हमें कल्याण का पथ बतावे और जो स्वयं कल्याण-पथ पर चल कर उस पथ की आचरणीयता सर्व-साधारण जनता के समक्ष सिद्ध कर दिखावे, वही करुणानिधान कहलाता है। भगवान् हमारे ज्ञान, दर्शन आदि

मात्र प्राणों के रक्षक हैं, सिद्धि-पथ के उपदेशक हैं और मुक्ति-मार्ग पर स्वयं अग्रसर होने के कारण उस मार्ग की आचरणीयता के समर्थक हैं। इसलिए भगवान् करुणानिधान हैं।

करुणा-निधान की करुणा निराली ही होती है। अगर कोई मनुष्य घोर कष्ट पहुँचा रहा है, यहाँ तक कि प्राणान्तक दण्ड दे रहा है, उस पर भी करुणानिधान की करुणा का प्रवाह अखण्ड रूप मे प्रवाहित होता रहता है; ऐसा मनुष्य भी उसकी करुणा से वंचित नहीं होता। जिसकी करुणा का स्रोत इतना प्रवाहशील होता है वही करुणानिधान पद का अधिकारी होता है।

करुणानिधान का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए एक कथा कहना अधिक उपयोगी होगा। गजसुकुमार मुनि का उल्लेख मैं पहले व्याख्यान में कर चुका हूँ। उसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है।

वसुदेवजी रा नन्दन, नामे गजसुकुमाल।
ते अति सुन्दर कलावंत वय बाल,
मुनि नेमजीरी वाणी छोड्यो मोह-जंजाल॥
भिक्खुनी पडिया, गया मसाने महाकाल।
देखी सोमल कोप्यो, मस्तक बांधी पाल॥
खेरना खीरा सिर ठोका असराल।
मुनि नजर न खण्डी मेटी मन नी झाल॥
कठिन परीषो सहने मोक्ष गया, तत्काल।
भावे करि वंदूं त्रिविधे त्रिविधे तिहुँकाल॥

थोड़े-से शब्दों में उन परम करुणानिधान की यह प्रार्थना है।

पहले बताया जा चुका है कि महारानी देवकी को पुत्र की इच्छा हुई और कृष्णजी ने देव की आराधना की। देव आया। कृष्णजी ने उससे अपना प्रयोजन कहा। देव ने कहा—'आपके छोटा भाई अवश्य होगा, परन्तु वह युवावस्था में पैर धरते ही मुनि-दीक्षा अंगीकार करके कल्याण-मार्ग का साधन करेगा।'

देव की बात सुन कर कृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। वे मन ही मन सोचने लगे—'मनुष्य-जन्म की सार्थकता स्व-पर कल्याण में है। स्व-पर का कल्याण निरपेक्ष साधु अवस्था धारण करने से ही होता है। विलासमय जीवन व्यतीत करके, विलास की गोद में ही मरना उस कीट के समान है, जो अशुचि में ही उत्पन्न होकर अन्त में अशुचि में ही मरता है। विलासितापूर्ण जीवन आत्मा के लिए अहितकर तो है ही, साथ में संसार के समक्ष अवांछनीय आदर्श उपस्थित कर जाने से संसार के लिए भी अहितकर है। मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मेरा लघु भ्राता संयमी बन कर जगत् में एक स्पृहणीय आदर्श उपस्थित कर जायगा और अपना भी कल्याण करेगा। वह अपने आपको प्रकाशित करेगा और संसार में भी प्रकाश की किरणें बिखेर जायगा।

कृष्णजी घर लौट आये और माता देवकी से कहने लगे—माताजी, आप विषाद न कीजिए। मेरा छोटा भाई जन्म लेगा और वह संसार को मोहित करने वाला होगा।

एक रात को देवकी ने स्वप्न में सिंह देखा। सिंह देखकर उसने गर्भ धारण किया और यथासमय पुत्र का प्रसव किया।

नवजात पुत्र अत्यन्त सुकुमार था—ऐसा सुकुमार जैसे गज का तालु हो या जैसे इन्द्रगोप (वीरबहूटी नामक कीड़ा) सुर्ख, कोमल और सुन्दर होता है, उसी प्रकार वह पुत्र भी अनुपम सुन्दर, सुकुमार और सुर्ख रंग का था। जो यादव वंश उस समय संसार में अद्वितीय था, जिसकी ऋद्धि अपार थी, उस वंश में उत्पन्न होने वाले महाभाग्य-शाली पुत्र का जन्मोत्सव किस धूमधाम से न मनाया गया होगा ? जन्मोत्सव खूब खुले दिल से मनाया गया, मानों पहले के समस्त पुत्रों के जन्मोत्सव की कसर इसी समय पूरी की जा रही है। वास्तव में गजसुकुमार का जन्मोत्सव जिस आनन्द और उल्लास के साथ मनाया गया, वैसा उत्सव यादव वंश में किसी भी कुमार का नहीं मनाया गया। जन्मोत्सव के वर्णन करने के लिए समय नहीं है, अतएव संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि गजसुकुमार का जन्मोत्सव संसार के उत्सवों में एक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी।

नवजात शिशु का जन्मोत्सव मनाये जाने के पश्चात् उसका नामकरण किया गया। शिशु गज के तालु के समान सुकुमार था, अतः उसका नाम 'गजसुकुमार' रक्खा गया। गजसुकुमार कृष्ण, बलदेव आदि के अन्तःपुर का तथा सांब, प्रद्युम्न आदि समस्त यादवों की आँखों का तारा बन गया। बालक अपनी स्वाभाविक हँसी से तथा अन्य बाल-चेष्टाओं से देवकी को अपूर्व आनन्द पहुँचाने लगा और यादवकुल में चहलपहल मचाने लगा। गजसुकुमार मानों प्रसन्नता की मूर्त्ति था, जो औरों को भी प्रसन्नता प्रदान करता रहता था। इस प्रकार आनन्दोल्लास में गजसुकुमार का शैशवकाल समाप्त हुआ। शैशव की

समाप्ति हो जाने पर उसे समस्त कलाओं का शिक्षण दिया गया।

आजकल पुत्र को जन्म देने की लालसा का तो पार नहीं है, पर उसमें उत्तम संस्कार डालने की ओर शायद ही किसी का ध्यान जाता है। लोग पुत्र पाकर ही अपने को धन्य मान बैठते हैं। पुत्र को जन्म देने से कितना महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सिर पर आजाता है, यह कल्पना ही बहुतों को नहीं है। पुत्र को जन्म देकर उसे सुसंस्कृत न बनाना घोर नैतिक अपराध है। अगर कोई माँ-बाप अपने बालक की आँखों पर पट्टी बाँध दें तो आप उन्हें क्या कहेंगे ?

'निर्दयी !'

बालक में देखने की जो शक्ति है उसे रोक देना माता-पिता का धर्म नहीं है। इसके विपरीत, उसके नेत्र में अगर कोई रोग है— विकार है, तो उसे दूर करना उनका कर्त्तव्य है।

यह बाह्य—चर्म-चक्षु की बात है। चर्म-चक्षु तो बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् कुछ समय में आप ही खुल जाते हैं, पर हृदय के चक्षु इस तरह नहीं खुलते। हृदय के चक्षु खोलने के लिए सत्संस्कारों की आवश्यकता पड़ती है। बालकों को अच्छी शिक्षा देने से उनके जीवन का निर्माण होता है। शिक्षा के संबंध में भी बहुत विचार की आवश्यकता है। शिक्षा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बद्ध होनी चाहिए। जो शिक्षा इन चार पुरुषार्थों में से किसी का विरोध करती है वह जीवन को सर्वांगपूर्ण और सफल नहीं बना सकती। तात्पर्य यह कि अर्थ

की शिक्षा ऐसी न हो जो काम और धर्म का विरोध करती हो या उन से निरपेक्ष हो। इसी प्रकार काम की शिक्षा अर्थ या धर्म आदि का विरोध करने वाली नहीं होनी चाहिए। धर्म की शिक्षा अर्थ और काम की विरोधिनी नहीं होनी चाहिए। परस्पर सापेक्ष भाव से धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा प्राप्त होने से मोक्ष सुलभ होता है। कहा भी है—

परस्पराविरोधेन, त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमदः सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात् ॥

अर्थात् परस्पर-विरोध न करके—एक दूसरे से अनुस्यूत करके धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग का सेवन किया जाय तो निर्बाध सुख की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्ष की प्राप्ति भी हो जाती है।

शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए, इस विषय का अच्छा वर्णन महाभारत और किरात काव्य में मिलता है। आज उस शिक्षा को प्रचलित किया जाय तो जमाना ही पलट सकता है और वही जमाना फिर आ सकता है, जिसमें संसार सानन्द, शान्त, संतुष्ट और समृद्ध था तथा नैतिकता और धार्मिकता जीवन में ओतप्रोत थी। लेकिन आज वह शिक्षाविधि संस्कृत के महाकाव्यों में ही पड़ी है।

सारांश यह कि अर्थ, काम और धर्म—इन तीनों को साथ लेकर शिक्षा चलनी चाहिए। दो को भुला कर एक को ही सामने रखने से जीवन सम्पन्न नहीं बन सकता। धर्म-शिक्षा का होना अनिवार्य है पर वह ऐसी न हो जिससे भूखों मरने का

समय आ जाय और धर्म-शिक्षा के प्रति जनता में कुत्सा का भाव उत्पन्न हो जाय। धर्म, अन्याय-आचरण का विरोध करता है, लेकिन गृहस्थों के लिए न्याययुक्त आचरण से धनोपार्जन का निषेध नहीं करता। इसी प्रकार काम भी अर्थ और धर्म का विरोधी न हो, तथा अर्थ-धर्म और काम में बाधक नहीं होना चाहिए।

शिक्षा सम्बन्धी इस संक्षिप्त कथन में शिक्षा-नीति का मूल-भूत आधार समाविष्ट हो जाता है। इस आधार पर अगर शिक्षा की इमारत खड़ी की जाय तो जीवन सफल और सुख-मय बन जायगा।

गीता में एक जगह कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!

अर्थात्—हे अर्जुन! मैं वह काम हूँ जो धर्म से विरोध नहीं करता।

कुमार गजसुकुमार को ऐसी ही विद्या सिखाई गई। तद-नन्तर जब वे कुमारावस्था से युवावस्था में प्रवेश करने लगे तब उनके विवाह की तैयारी होने लगी।

इधर विवाह की तैयारी होने लगी और उधर द्वारिका नगरी के बाहर भगवान् अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ, मानों वे भी गजसुकुमार के लिए एक अलौकिक कन्या लाये हों। कृष्ण, वसु-देव आदि यादव गजसुकुमार का ऐसा विवाह करना चाहते थे जैसा अब तक किसी भी यादव-कुमार का न हुआ हो। किन्तु गजसुकुमार का यह विवाह नहीं होना था। उनका विवाह तो

उस अलौकिक कन्या के साथ होना था जिसे स्वयं भगवान् अरिष्टनेमि लेकर पधारे हैं। जैसे अच्छे वर की बरात सभी अपने-अपने यहाँ बुलाना चाहते हैं, उसी प्रकार गजसुकुमार की बरात बुलाने के लिए भगवान् नेमिनाथ भी एक कन्या लाये हैं-ऐसी ही कुछ उपमा यहाँ बनती दिखाई देती है।

द्वारिका नगरी के बाहर भगवान् का समवसरण है। उसमें भगवान शान्त-दान्त भाव से विराजमान हैं। आसपास के वातावरण में पवित्रता है। सर्वत्र सात्त्विकता का साम्राज्य है। सौम्य वायुमंडल में एक प्रकार का आह्लाद है—उत्साह है, फिर भी गंभीरता है। अनेक भव्य जन आते हैं और भगवान् के मुख-चन्द्र से झरने वाले अमृत का पान करके कृतार्थ होते हैं।

महापुरुष ही महापुरुष की चाहना करते हैं। वही महापुरुष की महत्ता जानते हैं। बहुमूल्य रत्न लाने वाले का महत्व जौहरी ही जान सकता है। जो ग्रामीण मूल्यवान् रत्न की कद्र नहीं जानते वे उस रत्न को लाने वाले की क्या कद्र कर सकेंगे ? एक कवि ने कहा है—

वे न यहाँ नागर, बड़े, जेहि आदर तव आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गवई गाँव गुलाब॥

अर्थात्—नगर में-विवेकी पुरुषों में—गुलाब के पानी का भी आदर होता है परन्तु मूर्खों के गाँव में फूले हुए गुलाब की भी कद्र कौन करता है! वे तो कांटेदार पौधा समझ कर उसे काट फेंकेंगे। इसी बात को दृष्टि में रखकर कवि कहता है—हे गुलाब! यहाँ वे बड़े नागरिक नहीं हैं जो तेरे पानी की भी कद्र

करते हैं। यहाँ तो तेरा फूलना भी न फूलने के ही समान है।

तात्पर्य यह है कि जो जिसके गुणों को जानता है वही उसका आदर करता है। जिसे जिसके गुणों का पता नहीं, वह उसका आदर करने के बदले निरादर ही कर बैठता है।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं,
स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजातान्,
मुक्तान् परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥

अर्थात्—जो जिसके गुण की विशेषता से अनभिज्ञ है, वह सदा उसकी निन्दा करता है तो इसमें क्या आश्चर्य है? भीलनी, गज-मुक्ता को छोड़ कर गुंजाफल (चिरमी) को ही अपना आभूषण बनाती है।

जैसे भीलनी के व्यवहार से गजमुक्ता का मूल्य या महत्त्व घट नहीं जाता, उसी प्रकार महापुरुष का आदर न करने से ही महापुरुष की महत्ता कम नहीं हो जाती। जो महापुरुष के गुणों से अनभिज्ञ है, वह भले ही उनका आदर न करे, पर गुणज्ञ जन तो उन्हें अपनी सिर-आँखों पर लेते हैं।

श्रीकृष्ण भारतीय साहित्य में महापुरुष माने गये हैं। वे सदा मुनियों का सम्मान करते थे। महाभारत में लिखा है कि कृष्णजी युधिष्ठिर के पैरों पड़ते थे और युधिष्ठिर उन के सिर पर हाथ फेर कर उन्हें प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देते थे। इस प्रकार भारत की प्रत्येक साहित्य-शाखा में से यह स्पष्ट है कि कृष्णजी मुनियों का और सज्जन पुरुषों का खूब आदर करते थे।

भगवान् अरिष्टनेमि के पधारने का वृत्तान्त जब श्रीकृष्णजी को मालूम हुआ तो उनकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। भगवान् अरिष्टनेमि का आदर करने तथा उन्हें वन्दना करने के लिए, भक्ति के आवेश में वे भगवान् के सन्मुख जाने को तैयार हुए। कृष्णजी जाने की तैयारी में ही थे कि गजसुकुमार भी अचानक वहाँ आ पहुँचे। गजसुकुमार ने कृष्णजी को तैयार होते देखकर पूछा—'भैया, आज कहाँ जाने की तैयारी है? यह बाजे क्यों बज रहे हैं? सेना किस लिए सजाई जा रही है?'

हिरणगमेषी देव ने कृष्णजी को पहले ही बता दिया था कि गजसुकुमार युवावस्था में पैर धरते ही मुनि हो जाएँगे। फिर भी उन्होंने भगवान् के आगमन का वृत्तान्त गजसुकुमार से गुप्त रखना उचित न समझा। उन्होंने यह नहीं सोचा कि कहीं भगवान् के दर्शन करके यह मुनि न बन जाय, इसलिए इसे भगवान् का आगमन का हाल बताना ठीक नहीं है। श्रीकृष्ण साधुत्व को उत्कृष्ट समझते थे। गीता से भी इसका समर्थन होता है। फिर तो जो जिस दृष्टि से किसी ग्रंथ को देखता है उसे उसमें वही दिखाई देने लगता है।

गजसुकुमार की बात का उत्तर देते हुए कृष्ण ने कहा—'भाई, नगरी के बाहर भगवान् अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ है; उन्हीं की वन्दना और सेवा के लिए जाने की तैयारी है। आज द्वारिका का सौभाग्य जागा है तो उसका स्वागत करना ही चाहिए।'

गजसुकुमार—'मैं समझता था आप ही संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं, आप ही सब से बड़े हैं; लेकिन आप भी उन्हें वन्दना करते

हैं। अगर वे भगवान् इतने महान् हैं तो मैं भी उन्हें वन्दना करने चलूँगा। आप आज्ञा दें तो मैं भी तैयार हो लूं।'

श्रीकृष्ण ने कहा—'अच्छी बात है, तुम भी चलो।'

श्रीकृष्णजी और गजसुकुमारजी एक ही हाथी पर सवार हुए। दोनों पर चमर ढोरे जाने लगे और छत्र तान दिया गया। इस प्रकार राजोचित वैभव के साथ, श्रीकृष्णजी भगवान् के दर्शनार्थ नगरी के बीचों बीच होकर रवाना हुए।

कृष्णजी गजसुकुमार की युवावस्था का विचार करके उनके विवाह सम्बन्धी मंसूबे बाँध रहे थे। नगर के मध्य भाग में उनका हाथी अपनी गंभीर गति से चला जा रहा था। इसी समय सोमल नामक ब्राह्मण की, जिसकी पत्नी का नाम सोमश्री था, कन्या सोमा अपने राजमार्ग पर क्रीडांगण में गेंद खेल रही थी। सोमा क्या रूप में, क्या गुण में और क्या उम्र में—इतनी उपयुक्त और उत्कृष्ट कन्या थी कि कृष्णजी की नजर उस पर ठहर गई।

जिस पर कृष्णजी की नजर ठहर जाय, उसकी सुन्दरता कितनी अधिक होगी? 'बडा' हीरा वह है जिसे जौहरी बड़ा कहे। कोहनूर हीरे के नाम का अर्थ है—प्रकाश का पहाड़। यह नाम कोहनूर ने अपने-आप नहीं रख लिया है, किन्तु परीक्षकों ने उसकी परीक्षा करके, गुण की उत्कृष्टता के कारण उसे यह नाम दिया है। श्रीकृष्णजी इस कन्या के सुयोग्य परीक्षक थे। उन्होंने उसे सुयोग्य समझा और सोचा—यह गजसुकुमार की सहधर्मिणी बनने योग्य है—सभी प्रकार से यह सम्बन्ध उपयुक्त होगा।

कृष्णजी ने अपने एक आदमी को बुलाया और सोमा की ओर संकेत करके कहा—'देखो, यह कन्या किसकी है ? जिसकी कन्या हो उससे गजसुकुमार के लिए मेरी ओर से इसकी याचना करो। यदि इसके माता-पिता मेरी याचना स्वीकार करें और कन्या दें, तो इसे ले जाकर मेरे कुँवारे अन्तःपुर में पहुँचा देना।'

प्राचीन काल में महिलावर्ग किस दृष्टि से देखा जाता था, यह बात कृष्ण के कथन से स्पष्ट हो जाती है। उस समय भी आजकल की तरह स्त्री को 'पाँव की जूती' समझा जाता होता, तो कृष्ण उसके लिए याचक न बनते। जिन के पैरों पर संसार का वैभव लोटता था, वे कृष्ण एक सामान्य घर की लड़की के लिए प्रार्थी बने, यही घटना स्त्री-समाज का गौरव सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

कृष्णजी की इस याचना से एक बात और प्रकट होती है। वह यह कि उस समय आजकल की भाँति जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं था। कृष्णजी को याचना करते समय यह पता नहीं था कि वह कन्या किसकी है—किस जाति की या किस वर्ण की है ? उन्होंने यह जानने की आवश्यकता भी नहीं समझी फिर भी सिर्फ कन्या को देखकर और उसे योग्य जानकर उसकी याचना की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आजकल के समान प्रगाढ़ जातीय बंधन उस समय नहीं था। हाँ, वर्ण व्यवस्था उस समय भी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाग विद्यमान था, किन्तु इस विभाग के कारण अहंकार या अभिमान नहीं था। वर्ण व्यवस्था के आधार पर रत्न का अनादर नहीं किया जाता था। नीच समझे जाने वाले वर्ण में भी यदि कन्या या

वर रत्न होता तो उसे बिना किसी संकोच के, आदर के साथ चक्रवर्त्ती भी अपना लेता था।

आज असली वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी है और उसके स्थान पर अनगिनती जातियाँ-उपजातियाँ दिखाई पड़ती हैं। अब तो ब्राह्मण-ब्राह्मण, क्षत्रिय-क्षत्रिय, वैश्य-वैश्य और शूद्र-शूद्र भी एक नहीं हैं। शूद्रों में भी एक जाति का शूद्र, दूसरी जाति के शूद्र को स्पर्श करना पाप समझता है। न जाने अस्पृश्यता कहाँ से और कैसे चल पड़ी है, जिसने भारतीय जनसमाज की एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया और जो भारतवर्ष के विकास में बड़ी वाधा बनी हुई है। इससे समाज का उत्थान कठिन हो गया है और अब लोग अस्पृश्यता को भी धर्म का अंग मान रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे आजकल जातियों के नाम पर संकीर्ण दल मौजूद हैं और उनके कारण व्यापक भावना उत्पन्न नहीं होने पाती, वैसे दल उस समय नहीं थे। अतएव विवाह आदि कार्यों में जातीय भेदभाव बाधक नहीं बनता था। वर्ण थे, पर सभी वर्णों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध होता था।

यदि यह कहा जाय कि कृष्णजी राजा थे, अतएव उनका इस प्रकार का संबंध करना अनुचित नहीं समझा जा सकता, पर सर्व सामान्य जन ऐसा करते थे, इसका क्या प्रमाण है? इसका उत्तर प्राचीन संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरा पड़ा है। विवर्ण विवाह, अनुलोम विवाह, प्रतिलोम विवाह आदि के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। यही नहीं, इन विवाहों का स्मृतिकारों ने विधान भी किया है।

पालित श्रावक था। वह पिहुण्ड नामक नगर के लिए समुद्र पार गया था और वहाँ से कन्या व्याह कर लाया था। पालित वैश्य था पर उस कन्या का क्या पता कि वह किस जाति की थी? इससे भी यही विदित होता है कि पहले जाति का ऐसा बंधन नहीं था।

हाँ, जाति-बन्धन न मान कर—जाति का उत्कर्ष करने वाले और वास्तविक गौरव बढ़ाने वाले नियमों का उल्लंघन करके उच्छृंखल बन जाना एक बात है और जातीय स्वतंत्रता होना दूसरी बात है।

पालित की विदेशीय पत्नी से उत्पन्न हुआ समुद्रपाल नामक पुत्र भी श्रावक हुआ और दीक्षा लेकर अन्त में मुक्त हुआ।

जैनधर्म संकीर्ण धर्म नहीं है। वह अपनी विशालता के कारण समस्त धर्मों का सम्राट् बनने योग्य धर्म है। मगर उस धर्म के मर्म को समझने और आचरण में लाने वालों की कमी है। धर्म धर्मात्मा के बिना प्रत्यक्ष नहीं होता। अगर जैनधर्म के अनुयायिओं में वह विशालता आ जाय तो जैनधर्म एक कोने में उपेक्षणीय की तरह न पड़ा रहे और संसार को आदर्श बना दे।

कृष्णजी का भेजा हुआ प्रतिनिधि सोमल के पास पहुँचा। उसने कृष्णजी की याचना सोमल के सन्मुख रखदी। सोमल बहुत प्रसन्न हुआ। भला रत्न के कटोरे में कौन भीख न देना चाहेगा? गजसुकुमार जैसा वर और श्रीकृष्ण जैसा याचक मिले तो कौन अभागा ऐसा होगा जो अपनी कन्या देना स्वीकार न करे! सोमल ने प्रसन्नता के साथ अपनी कन्या दे दी। वह

कृष्ण के आदेशानुसार कृष्ण के कुँवारे अन्तःपुर में भेज दी गई।

कुँवारे अन्तःपुर में भेज देने से पता चलता है कि अभी गजसुकुमार के विवाह में देर है। विवाह होने से पहले, कन्या राजघराने के योग्य हो जाय, ऐसी शिक्षा देने के लिए प्राचीन काल में कन्या को अक्सर कुँवारे अन्तःपुर में रखा जाता था। जैसे हीरे को शाण पर चढ़ाकर उसकी कान्ति बढ़ाई जाती है, उसी प्रकार कन्या की योग्यता बढ़ाने के उद्देश्य से उसे कुँवारे अन्तःपुर में रख कर उपयोगी शिक्षा दी जाती थी।

इस ओर महाराज श्रीकृष्ण गजसुकुमार के साथ भगवान् अरिष्टनेमि के पास आये। जब भगवान् का समवसरण सन्निकट आया तो वे हाथी से नीचे उतर पड़े और गजसुकुमार को आगे करके भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। यथाविधि वन्दना करके श्रीकृष्णजी नीचे आसन पर बैठे। भगवान् के मुख-कमल से दिव्य वाणी प्रकट हुई। उसे श्रवण करके श्रीकृष्ण अपना जीवन धन्य और कृतार्थ मानने लगे। उनके आनन्द का ठिकाना न रहा।

पानी सब जगह एकसा होता है, परन्तु उससे रस वैसा ही उत्पन्न होता है जैसा बीज हो। भगवान् की प्रशान्त दिव्यध्वनि सुन कर न जाने किसने क्या सोचा होगा, पर गजसुकुमार सोचने लगे—'यह मानव-जीवन सचमुच ही ऐसा है जैसा भगवान् ने कहा है। यह बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् प्राप्त हुआ है। नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में, नाना योनियों में चिरकाल पर्यन्त भटकने के बाद अत्यन्त पुण्य के योग से इसकी उपलब्धि हुई

है। फिर यह चिरस्थायी नहीं है। जल के बुलबुले के समान क्षण-भंगुर है। एक बार इसका अन्त होजाने पर फिर कौन जाने कब इसकी प्राप्ति होगी ? इसे प्राप्त किये बिना संसार के दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता। इस स्थिति में क्या यह उचित है कि इस अनमोल रत्न को यों ही फैंक दिया जाय ? विषयभोगों में इसे व्यय करना क्या विवेकशीलता होगी ?

बहु पुण्य केरा पुंजथी, शुभ देह मानवनो मल्यो,
तो ये अरे भवचक्रनो आँटो नहीं एके टल्यो ॥
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शु वध्युं ते तो कहो।
शुं कुटुम्ब के परिवार थी वधवापणुं ए न वि ग्रहो ॥
वधवा पणुं संसारनुं नरदेह ने हारी जवो।
एनो विचार नहीं अहो हो ! एक पल तमने अहो ॥

भगवान् की अमोघ दिव्य ध्वनि से क्या निकला था, यह तो नहीं मालूम, लेकिन उसके परिणाम से कुछ पता चलता है। जो शरीर तीर्थंकर का है वही शरीर हमारा भी है। किस पुण्ययोग से, किस शुभ दशा से मनुष्य-जन्म की यह सामग्री हमें प्राप्त हुई है ? विचार करो तो मालूम होगा कि मनुष्य-जन्म की इस सामग्री का बदला रत्नों से भी नहीं हो सकता। हीरा यदि बहुत मूल्यवान् होगा तो पाँच या दस हजार रुपये रत्ती का होगा; लेकिन आँखों का प्रकाश यदि कोई खरीदना चाहे तो किस भाव मिलेगा ? क्या आप लोगों ने एक क्षण भर भी इस पर विचार किया है ? तुम कंकर-पत्थर की कीमत करते हो, तो तुम्हारी कीमत कौन करे, इस बात का विचार करो।

जीभ मांस का पिण्ड ही तो है, पर उसे अगर कोई खरीदना चाहे सो आप बेच सकेंगे ? और किस भाव पर बेच सकेंगे ? वास्तव में मनुष्य-शरीर का एक-एक अवयव ही इतना अधिक कीमती है कि संसार के समस्त वैभव के बदले भी उसे नहीं दिया जा सकता। लेकिन खेद है कि ऐसा अमूल्य मनुष्य शरीर पा लेने पर भी मनुष्य भव-बंधन को काटने का पूर्ण प्रयास नहीं करते—संसार-भ्रमण का समूल विनाश नहीं करते। यह शरीर पा लेने पर भी यदि संसार-वृद्धि की, तो इसके नष्ट हो जाने पर क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अनमोल मानव शरीर को विषय-भोग भोगने में व्यतीत करना हीरे को पत्थर के लिए व्यय करने के समान है। लक्ष्मी की वृद्धि हुई या अधिकार बढ़ गया तो क्या बढ़ा ? इनकी वृद्धि से न तो आयु की वृद्धि होती है और न दो के बदले चार आँखें बन जाती हैं। इस प्रकार संसार बढ़ने से कल्याण की किञ्चित् भी वृद्धि नहीं होती।

भगवान् ने उपदेश में कहा—देखो, तुम्हारे शरीर के ही समान मेरा शरीर है। विचार करो, मैं राजीमती को छोड़ कर इस कार्य में क्यों लगा हूँ ? मैं जिस पथ पर चल रहा हूँ, उसी पथ पर चल कर अनन्त आत्माओं ने अपना कल्याण किया है और उसी पथ पर चलने से तुम्हारा कल्याण हो सकता है। अतएव हे भव्य जनो, आओ, अपने कल्याण के मार्ग पर चलो।

भगवान् का दिव्योपदेश जब समाप्त हो गया और सब श्रोता भगवान् को विनयपूर्वक वन्दना करके चल दिये, तब भी गजसुकुमार वहीं बैठे रहे। कृष्णजी भी उठे और अन्यत्र चले गये। उन्होंने भी गजसुकुमार से चलने को न कहा।

महापुरुष के पास किसी को ले जाना तो उचित है पर ले जाने के बाद उसकी इच्छा के विरुद्ध उठा कर उसे ले आना उचित नहीं समझा जाता। इसी नियम का ख़याल करके श्री कृष्णजी ने गजसुकुमार से उठ चलने के लिए नहीं कहा।

उस समय गजसुकुमार किसी दूसरी दुनिया में चक्कर लगा रहे थे। वे सोच रहे थे—'भैया श्रीकृष्णजी मेरा विवाह करना चाहते हैं लेकिन भगवान् नेमिनाथ ने अपना विवाह क्यों नहीं कराया? जिस परम प्रयोजन की सिद्धि के लिये भगवान् ने विवाह करना अस्वीकार कर दिया, उसी के लिए मुझे भी विवाह का त्याग क्यों नहीं कर देना चाहिए? भगवान् समुद्रविजयजी के पुत्र हैं और मैं वसुदेव का पुत्र हूँ। दोनों एक ही कुल में उत्पन्न हुए हैं। विवाह में कोई तथ्य होता, तो भगवान् क्यों न करते? भगवान् का उपदेश उचित ही है कि यह शरीर विवाह करके भोगोपभोग भोगने के लिए नहीं है किन्तु ऐसा कल्याण करने के लिए है जिसमें अकल्याण का अंश मात्र भी न हो और जिसके पश्चात् अकल्याण की भावना तक न रहे।'

इस प्रकार मन ही मन सोच कर गजसुकुमार भगवान् के समक्ष खड़े होकर कहने लगे—'भगवन्! मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर आपसे दीक्षा ग्रहण करूँगा—आपके चरण-शरण में आऊँगा।'

भगवान् पूर्ण वीतराग थे। उनके अन्तर में किसी प्रकार की स्पृहा शेष नहीं रही थी। अतएव शिष्य के रूप में राजकुमार को पा लेने की उन्हें लेशमात्र भी उत्सुकता न थी। उन्होंने उसी

गंभीर गिरा से कहा—'देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वही करो।'

संसार में कई लोग ऐसे होते हैं जो दीक्षा लेने वाले को घसीट कर, बलात्कार से या प्रलोभनों से संसार में ही रखते हैं; तब कोई ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो संसार से विमुख करके उत्कृष्ट अवस्था में पहुँचा देते हैं।

गजसुकुमार भगवान् के पास से विदा होकर देवकी के पास आये। महारानी देवकी ने गजसुकुमार को प्रेमपूर्वक पुचकारते हुए कहा—'बेटा ! आज अब तक कहाँ रहे ?'

गजसुकुमार—'माताजी, मैं भगवान् नेमिनाथ के दर्शन करने गया था।'

देवकी—'अच्छा किया जो भगवान् के दर्शन किये। आज तेरे नेत्र सार्थक हो गये।'

गज०—'भगवान् का उपदेश सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मुझ पर उपदेश का खूब प्रभाव हुआ है। भगवान् से मुझे अनुपम प्रेम हो गया है। मैंने भगवान् को प्रणाम क्या किया, मानों अपना सर्वस्व उनके चरणों पर निछावर कर दिया है।'

देवकी—'वत्स ! तू भगवान् का भक्त निकला, अतएव मेरा तुझे जन्म देना, नहलाना-धुलाना और पालन-पोषण करना, सब सार्थक हुआ।'

महारानी देवकी के इस उत्तर से गजसुकुमार समझ गये कि माता ने अब तक मेरा अभिप्राय नहं समझा। तब स्पष्ट कहने के उद्देश्य से गजसुकुमार बोले—'माताजी, मेरी इच्छा है

कि अगर आप आज्ञा दें तो मैं भगवान् से मुनि-दीक्षा ग्रहण कर संसार का त्याग कर आत्मा का शाश्वत श्रेय-साधन करूँ।

देवकी, गजसुकुमार का कथन सुन कर गंभीर विचार में डूब गईं। उन्होंने सोचा—'गजसुकुमार ने भगवान् से दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया है तो इस निश्चय का बदलना सरल नहीं है। अब यह दीक्षा रुक न सकेगी।' इस प्रकार विचार करने और पुत्रवियोग की कल्पना से देवकी को मूर्च्छा आ गई। तदनन्तर जब देवकी होश में आई तो कहने लगी—'वत्स! तू मेरा इकलौता पुत्र है। यों तो मैंने तुझ सहित आठ पुत्रों को जन्म दिया है, परन्तु तुझ अकेले को ही पुत्र रूप से लालन-पालन करने का अवसर मुझे मिल सका है। इस दृष्टि से तू ही मेरा एकमात्र पुत्र है। तू ही मेरा प्राणाधार है। मेरे जीवन का तू ही सहारा है। मैं यह कैसे सहन कर सकती हूँ कि तू चढ़ती जवानी में साधु बन कर संसार के सुखों से सर्वथा विमुख हो जाय? बेटा! जब हम यह पर्याय त्याग कर परलोक की ओर प्रयाण करें तब तू भले ही दीक्षा अंगीकार कर लेना। तब तक तू भुक्तभोगी भी हो जायगा। मैं इस समय दीक्षित होने की आज्ञा नहीं दे सकती।'

गजसुकुमार—'माता! आपका कथन सत्य है। आपके असाधारण एवं लोकोत्तर वात्सल्य का पात्र होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। मगर मेरी एक बात सुन लीजिए। आप वीर-माता हैं। आप कायरों की माता नहीं हैं। मैं पूछता हूँ—हमारे राज्य पर कोई शत्रु आक्रमण कर दे और प्रजा को लूट कर उसकी

सुख-शान्ति का संहार करने लगे तो उस समय आपका कर्त्तव्य क्या होगा ? उस समय मैं आपकी सम्मति लेने आऊँ तो आप क्या सम्मति देंगी ? क्या आप यह कहेंगी कि, ना बेटा, शत्रु के सामने मत जाना। आप यह आदेश दे सकेंगी कि—तू मुझे अत्यन्त इष्ट, प्रिय और कान्त है। तू बाहर मत निकलना। राज्य उजड़ता है तो उजड़े, तू घर ही में छिपा रह ! मैं जानता हूँ आप ऐसा कदापि नहीं कह सकतीं। उस समय आपका आदेश यही होगा कि—जाओ बेटा, शत्रु का संहार करो, वीरता-पूर्वक राज्य की रक्षा करो। तुमने मेरे स्तनों का दूध पिया है, उस दूध को लजाना मत। आप यही कहेंगी या चढ़ती जवानी देख कर मुझे अपने अन्तःपुर में छिपा रक्खेंगी। आपका धर्म उस समय क्या होगा ?'

सत्याग्रह-संग्राम में ऐसा ही हुआ था। जिनके एक पुत्र था वह भी उस संग्राम में कूद पड़ा था। और वह संग्राम कैसा था—जिसमें मरना धर्म और मारना अधर्म समझा जाता था ! मर्दों की बात छोड़िए। अबला कहलाने वाली अनेक बहिनें, जिनके पेट में बालक था, शक्ति की साकार प्रतिमा बन कर उस संग्राम में जूझ पड़ी थीं। उन बहिनों ने संग्राम में भाग लेकर, शान्ति और अद्वेष भाव से मार-पीट सहन की और अनेकों ने कारागार में ही पुत्र का प्रसव किया। सारांश यह है कि जिसमें जान है, जो विजयी जीवन का धनी है, वह अपने कर्त्तव्य के आगे अपनी अवस्था का विचार नहीं करता। उसे अपने एकाकीपन की पर-वाह नहीं होती।

देवकी—'वत्स ! तुमने जो प्रश्न किया है उसके उत्तर में तो

यही कहना होगा कि अगर ऐसा अवसर उपस्थित हो जाय तो मैं तुम्हें कर्त्तव्य के पालन के लिए, देश का संकट टालने के लिए, शूरवीर योद्धा की भाँति शत्रु के सन्मुख जाने की और डट कर युद्ध करने की ही आज्ञा दूंगी। ऐसे अवसर पर वीर-प्रसविनी माता कभी कायरता का उपदेश नहीं दे सकती और न अपने बालक को कायर होने दे सकती है। पर यहाँ कौन-सा शत्रु आ गया है, जिससे युद्ध करने की समस्या उठे ?'

गजसुकुमार—'वीर माता का यही धर्म है। मैं आपसे इसी उत्तर की आशा रखता था। माताजी, मेरे सन्मुख शत्रु उपस्थित है। वह मुझे पकड़ने और परास्त करने के लिए सतत प्रयत्न कर रहा है। वह चर्म-चक्षु से दिखाई नहीं देता, परन्तु भगवान् अरिष्टनेमि के वचनों से उसका प्रत्यक्ष हुआ है। अनन्त जन्म-मरण के चक्कर में डालने वाला वह काल-शत्रु है। वह मुझे पकड़ने के लिए मृत्यु रूपी पाश लेकर घूम रहा है।'

मित्रो ! क्या आपसे बड़े, आपकी सदृश वय वाले और आपसे छोटी उम्र के लोगों का प्रतिदिन मरण नहीं हो रहा है ?

'अवश्य—हमेशा मरण होता रहता है।'

गजसुकुमार कहते हैं—'माताजी, उसके आने का कुछ भरोसा नहीं है। न जाने कब वह आ धमकेगा और जीवन को निश्शेष कर जायगा। अगर मैं इसी भाँति प्रमत्त दशा में रहूँगा तो वह किसी भी क्षण आकर मुझे ले जायगा। अतएव मैं ऐसा उपाय करना चाहता हूँ कि उस शत्रु से खुल कर युद्ध कर सकूं और अन्त में मेरी विजय हो। माता, अब तू ही बता, मुझे क्या

करना चाहिए ? तेरा निर्णय ही मेरा संकल्प होगा। तेरी आज्ञा के बिना मैं एक डग भी इधर-उधर न धरूँगा।'

देवकी वीर-माता थी। क्षणिक मोह के पश्चात् उसका विवेक जागृत हो गया। उसने कहा—'वत्स ! तू धन्य है। तू ने यदि दृढ़ संकल्प कर लिया है तो उसमें बाधा डालना उचित नहीं है। लेकिन मैं यह अवश्य चाहती हूँ कि कम से कम एक दिन के लिए भी तुझे राजा के रूप में देख लेती। बेटा, माता की ममता को माता ही समझ सकती है।'

देवकी की बात सुनकर गजसुकुमार ने हाँ तो नहीं भरी, पर मौन रह गये। उनके मौन को अर्ध-स्वीकृति का लक्षण समझ कर श्रीकृष्णजी ने गजसुकुमार को द्वारिका का राजा बना दिया।

एक दिन के लिए ही सही, पर राजा बना देने के अनेक कारण थे। प्रथम तो यह कि, कोई यह न सोचे कि गजसुकुमार को राजा बनने की हवस थी। वह पूरी न हो सकी, तो साधु बन गये। दूसरा कारण यह कि इससे उनके वैराग्य की परीक्षा हो गई। कच्चा वैराग्य होता तो राज्य पाते ही कपूर की भाँति उड़ जाता। तीसरा कारण यह है कि ऐसा करने से श्रीकृष्ण का बन्धु-वात्सल्य प्रकट होगया। उनके लिए भाई बड़ा है, राज्य नहीं। इस प्रकार अनेक कारणों से गजसुकुमार को द्वारिकाधीश पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया।

जिस राज्य-वैभव के लिए भूतल पर अनेकानेक विकराल युद्ध हो चुके और होते रहते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए लोग रक्त की सरिताएँ बहाते हैं, जिस राज्य-श्री को अपनाने के लिए भाई

अपने भाई का गला काटते नहीं झिझकता उसी विशाल राज्य-श्री का तृण की तरह त्याग देना हँसी-खेल नहीं है। श्रीकृष्ण ने प्रसन्नता पूर्वक राज्य का, त्याग करके गजसुकुमार के वैराग्य की परीक्षा ही नहीं की है, वरन् उन्होंने अपनी उदारता, अपने भ्रातृस्नेह और अपने कौशल की परीक्षा भी दी है और उसमें वे सफलता के साथ उत्तीर्ण हुए हैं।

गजसुकुमार को राजसिंहासन पर आरूढ़ करके श्रीकृष्णजी ने कहा—'भाई! अब और क्या इच्छा है, सो स्पष्ट कहो। तत्काल उसकी पूर्त्ति की जायगी'

गजसुकमार ने कहा—

यह हुक्म हमारा, दीक्षा लेने को तैयारी करो ॥
तीन लाख सोनैया गिणने, श्रीभण्डार से लाओ।
एक लाख नाई को देकर, उसको शीघ्र बुलाओ ॥
दोय लाख का ओघा पातरा, कुत्रयापन से लाओ।

बस, राजा की हैसियत से मेरा यही हुक्म है कि भंडार में से तीन लाख स्वर्ण-मोहरें निकाली जाएँ। उनमें से दो लाख मोहरें देकर, कुत्रिक आपण से ओघा और पात्र मँगवाए जाएँ और एक लाख मोहरें देकर नाई को बुलवा लिया जाय।

सच्चे वैरागी की यह पहचान है। जिसके अन्तःकरण में, रग-रग में विरक्ति रम गई होगी वह अपने लिए हाथी, घोड़ा, पालकी आदि सामग्री कदापि न चाहेगा। उसे तो उन्हीं उपकरणों की दरकार होगी, जो संयम की साधना में सहायक होते हैं।

गजसुकुमार बोले—'मुझे और किसी वस्तु की आवश्य-

कता नहीं है। सिर्फ ओघा, पात्र मंगवा दीजिए और मुंडन के लिए नाई बुलवा दीजिए।

गजसुकुमार की बात सुनकर श्रीकृष्ण और देवकी ने भली भाँति समझ लिया कि अब इनके हृदय में से ममता चली गई और समता आ गई है। राज्य का प्रलोभन कारगर नहीं हो सकता। इस स्थिति में वही करना उपयुक्त है जिससे इनका कल्याण हो, इन्हें शान्तिलाभ हो।

श्रीकृष्णजी ने गजसुकमार की दीक्षा की तैयारी आरंभ की। जिनके लौकिक विवाह की तैयारी थी, उनके लोकोत्तर विवाह की तैयारी होने लगी।

जिसने जैनधर्म के रहस्य को समझने वाले से किसी तुच्छ वस्तु के त्याग के लिए कहना पड़े तो समझना चाहिए कि अभी तक उसने धर्म का सच्चा रहस्य नहीं समझ पाया है। मित्रो! सोचो तो सही, आप किसके शिष्य हैं? आप जिसके शिष्य हैं उन्होंने तो संसार का त्याग कर दिया और आपसे धिक्कार देने योग्य वस्तुएँ भी छोड़ते नहीं बनतीं? अगर घर का धन नहीं त्याग सकते तो दूसरे के धन का अपहरण करना तो त्याग दो! इतना भी नहीं बनता तो, कम से कम मील के इन पापमय वस्त्रों को तो त्याग सकते हो! गजसुकुमार का चरित्र तुम्हें क्या सिखा रहा है? इस परम पवित्र चरित्र पर विचार करके अपना कर्त्तव्य स्थिर करो—गंभीरता से मनन करो।

गजसुकुमार की दीक्षा का उत्सव मनाया जाने लगा। सब चकित होकर घटनाक्रम को देखने लगे।

गजसुकुमारजी का वरघोड़ा द्वारिका नगरी में चला। द्वारिका की प्रजा उनके दर्शन के लिए उलट पड़ी और सब ने एक स्वर से कहा—'धन्य हैं गजसुकुमारजी, जो ऐसी महान् ऋद्धि का त्याग कर मुनिधर्म में दीक्षित हो रहे हैं। इनका जीवन सार्थक है—कृतार्थ है!

आखिर गजसुकुमार सब के साथ भगवान् श्रीअरिष्टनेमि की सेवा में उपस्थित हुए। गजसुकुमार को आगे करके वसुदेव और देवकी भगवान् नेमिनाथ के पास गये। देवकी की आँखें आँसू टपका रहीं थीं उसने भगवान् से विनम्र स्वर में कहा—'प्रभो! मेरा यह पुत्र गजसुकुमार पूरा गज ही है। अभी इस की जवानी भी पूरी नहीं आई है। हमने न मालूम क्या-क्या आशाएँ इससे बाँध रक्खी थीं। न जाने कितने मनोरथ इसके सहारे लटक रहे थे। वे सब आज भंग हो गये हैं। आपकी दिव्यवाणी के प्रभाव से प्रभावित होकर आज यह मुनिधर्म में दीक्षित होना चाहता है। अतएव हम आपको पुत्र की भिक्षा देते हैं। आप कृपापूर्वक इसे स्वीकार कीजिए।

भगवान् से इस प्रकार प्रार्थना करके देवकी ने गजसुकुमार से कहा—वत्स, यत्न और उद्योग करते रहना। जिस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उद्यत हुए हो उसमें आलस्य न करना। यद्यपि तेरे विरह को सहन करना अत्यन्त कठिन है, फिर भी तू जिस परम मंगलमय धर्म की आराधना करने के लिए उद्योगशील होरहा है उसमें विघ्न डालना भी उचित नहीं है। अब हम तुझे दीक्षित होने की आज्ञा देते हैं। मगर साथ ही यह भी

कहती हूँ कि ऐसा पुरुषार्थ करना जिससे हमें छोड़कर दूसरे माता-पिता न बनाने पड़ें। ऐसा मत करना कि कोई दूसरी जननी तुम्हे गर्भ में धारण करे अर्थात् पुनर्जन्म का अवसर न आने देना। इसी भव में अनन्त, अक्षय और अव्याबाध सुख-स्वरूप मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करना।'

देवकी की शिक्षा के उत्तर में गजसुकुमार ने कहा-'आपका आशीर्वाद मुझे फले। मैं वही प्रयत्न करूँगा, जैसा आपका आदेश है।

तत्पश्चात् गजसुकुमारजी ने भगवान् से मुनिधर्म की दीक्षा ली। सब यादव द्वारिका नगरी को लौट गये।

नवदीक्षित गजसुकुमार को एकान्त में बैठे-बैठे विचार आया-'क्या मैं इस शरीर में बना ही रहूँगा ? अगर यह शरीर नष्ट होगा ही तो क्या मुझे पुनर्जन्म लेकर नया शरीर धारण करना पड़ेगा ? मैं वीर यदुवंश में पैदा हुआ हूँ। मुझे ऐसे कर्त्तव्य करना चाहिए कि शीघ्र ही मेरा प्रयोजन पूर्ण हो जाय। मुझे जन्म-मरण के चक्र से छूट कर इसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए।'

इस प्रकार विचार कर गजसुकुमार मुनि ने भगवान् के समीप जाकर प्रार्थना की-

अरज करत जन देखत ऐसे, सुनिये श्री जिनराय।
किल्ला कायम तुरत हुवे मुझ ऐसे राह बताय॥
द्वादशमी पडिमा करने का हुक्म दिया फरमायजी।
धन आप जिनेश्वर परम दयाल कृपाल हो॥

हे प्रभो! मुझे उपाय बतलाइए जिससे जल्दी ही आत्मा का कल्याण हो। अब मुझे एक क्षण भर इस शरीर में रहना नहीं सुहाता।

गजसुकुमार मुनि की प्रार्थना के उत्तर में भगवान् अरिष्टनेमि ने भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा को तत्काल मुक्ति-लाभ का उपाय बतला दिया। यह प्रतिमा एक प्रकार की विशिष्ट तपस्या है। इसकी आराधना के लिए श्मशान में जाकर, ध्यान धारण करके खड़ा रहना पड़ता है। उस समय कोई देव, मनुष्य या तिर्यञ्च आकर कष्ट देता है तब निश्चल, निर्भय भाव से उसे सहन करना होता है। इतना ही नहीं, कष्ट पहुँचाने वाले प्राणी पर लेशमात्र भी क्रोध का भाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए, वरन् उसे तपस्या में सहायक मान कर मित्र समझना चाहिए। इस प्रकार समभाव का जब परम प्रकर्ष हो जाता है तब शीघ्र ही सिद्धि की प्राप्ति होती है।

गजसुकुमार मुनि बोले—'भगवान्! आप अत्यन्त दयालु हैं। मैं भिक्षु की इस प्रतिमा की आराधना करना चाहता हूँ। कृपा कर मुझे आज्ञा दीजिए।'

गजसुकुमार अत्यन्त सुकुमार हैं, राजकुमार हैं और अभी अभी दीक्षित हुए हैं। उनकी उम्र अभी बहुत थोड़ी है। इस परिस्थिति में गजसुकुमार की रक्षा करनी चाहिए। लेकिन भगवान् ने उन्हें बारहवीं प्रतिमा की आराधना का उपदेश दिया! यह भगवान् की दया है या निर्दयता? इस प्रश्न पर थोड़ा-सा विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं है। अगर आज्ञा

दी थी तो अन्य साधुओं को उनके साथ न भेज कर उन्हें एकाकी ही क्यों भेज दिया ? इसका कारण क्या है ?

मित्रो ! भगवान् नेमिनाथ लोकोत्तर ज्ञानी थे। उन्हें मुनि गजसुकुमार की स्थिति का भली भाँति परिज्ञान था। सम्पूर्ण भविष्य उनके ज्ञान में वर्त्तमान की तरह झलकता था। इसलिए उन्होंने गजसुकुमार मुनि की इच्छा पर प्रतिबंध न लगाते हुए उनकी इच्छा के अनुसार बारहवीं प्रतिमा के आराधना की आज्ञा दे दी। इसमें गजसुकुमार का परम कल्याण था। जिस महत्तम प्रयोजन की सिद्धि के लिए दीक्षित हुए थे, उसकी सिद्धि का यही एक मात्र उपाय था। तब भगवान् इस मंगलमय अनुष्ठान में कैसे बाधा डालते ? गजसुकुमार के प्रति भगवान् की यही परम करुणा थी, दिव्य दया थी।

कल्पना कीजिए, आपके किसी पुत्र को कोई रोग हो गया है। आप जानते और मानते हैं कि इसका शीघ्र ही प्रतीकार करना चाहिए, अन्यथा रोग भयंकर अवस्था में आ जायगा। आपको यह भी मालूम है कि अमुक चिकित्सक इस रोग को समूल नष्ट कर सकता है परन्तु पुत्र को नश्तर लगाना पड़ेगा या उसका ऑपरेशन करना होगा मगर ऐसा करने से वह नीरोग अवश्य हो जायगा। तब आप अपने पुत्र को चिकित्सक के पास आरोग्य लाभ के लिए भेजेंगे या नहीं ?

अवश्य, भेजेंगे !

आपका यह कार्य अपने पुत्र पर दया करना होगा या दुःख में फँसाना होगा ?

'दया होगी !'

इसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि को गजसुकुमार मुनि के पूर्वभव, भविष्य आदि सभी कुछ का परिपूर्ण ज्ञान था। उन्हें विदित था कि इस मुनि की कितनी आयु शेष है, इसका भविष्य क्या है और उसका फल क्या होगा ? इसी कारण भगवान् ने गजसुकुमार मुनि को श्मशान में जाकर बारहवीं प्रतिमा की आराधना की आज्ञा दे दी। यह भगवान् की निर्दयता नहीं किन्तु पूर्ण दया ही थी।

भगवान् की आज्ञा मिलते ही मुनिवर गजसुकुमार श्मशान की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपनी नासिका पर दृष्टि स्थिर की और निश्चल होकर खड़े रहे।

सामान्यतया भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा की आराधना वही मुनि कर सकता है जिसने कम से कम बीस वर्ष पर्यन्त संयम का पालन किया हो, नौवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु का ज्ञान हो और जिसकी उम्र कम से कम उनतीस वर्ष की हो। ऐसा मुनि ही इस तिमा की आराधना का अधिकारी माना जाता है। मगर धन्य है गजसुकुमार मुनिराज, जिन्हें दीक्षित हुए दो-चार घड़ी भी व्यतीत नहीं होने पायीं, जा अपनी माता के हाथ का ही आहार किये हुए हैं, जिन्होंने मुनि के पात्र का पानी भी ग्रहण नहीं किया है, फिर भी जिन्होंने वह समुन्नत दशा प्राप्त की, जिसे सैकड़ों वर्षों पर्यन्त संयम पालने वाला प्रत्येक मुनि भी प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसे आदर्श महापुरुष जगत् में विरले ही हो सकते हैं।

यद्यपि विशिष्टज्ञानी भगवान् को यह विदित था कि मुनिराज गजसुकुमार पर सोमल द्वारा उपसर्ग किया जायगा, फिर भी उन्होंने उन्हें अकेले ही भेज दिया। उनके साथ किसी दूसरे मुनि को नहीं भेजा। इसका एक मात्र कारण यही था कि भगवान् जानते थे कि यह मुनि आज ही मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं।

संध्या का समय था। सोमल ब्राह्मण होम के निमित्त लकड़ी लेने जंगल गया था। उसे विदित है कि मेरी कन्या सोमा कृष्णजी के कुंवारे अन्तःपुर में पहुँच गई है और उसका गजसुकुमार शीघ्र ही पाणिग्रहण करेंगे। संयोगवश सोमल उसी श्मशान में जा पहुँचा जहाँ मुनिराज गजसुकुमार ध्यानारूढ़ खड़े थे। गजसुकुमार मुनि को साधु के वेष में ध्यानावस्थित देख सोमल के आश्चर्य का पार न रहा। वह सोचने लगा—'मैं यह क्या देख रहा हूँ! कुमार गजसुकुमार और श्मशान भूमि में, साधु का वेष धारण किये हुए! यह कुमार क्या विशाल राज्य त्याग कर साधु बन गया है? इसकी मूढ़ता का क्या ठिकाना है! धिक्कार है इस अप्रार्थ्य-प्रार्थी को, धिक्कार है इस पुण्य-हीन को! इसने मुझे चौपट कर दिया। मेरी कन्या का घोर अपमान किया! इसे इस अपमान का बदला चखाऊँगा! आज ही इसे परलोक में न पहुँचाया तो मेरा नाम सोमल नहीं!

मित्रों! भवितव्य की गति को सावधान होकर देखो। सोमल के अन्तःकरण में यह प्रेरणा कहाँ से उत्पन्न हुई? सोमल क्यों इस प्रकार के उद्गार निकाल रहा है? उसके इतने उग्र कोप और भीषण संकल्प का वास्तविक कारण क्या है?

वास्तव में सोमल जो कुछ विचार रहा है, उसके मुख से जो उद्‌गार निकल रहे हैं वे सब गजसुकुमार के कल्याण के लिए ही। वह गजसुकुमार की भलाई का निमित्त बन रहा है। ज्ञानी-जन, जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता हैं, ऐसे व्यक्ति पर क्रोध नहीं करते। होनहार की प्रबलता का विचार कर के साम्यभाव के अवलम्बन से अपने अन्तःकरण को स्थिर रखते हैं।

अगर कोई धोबी स्वयं परिश्रम करके, अपनी गांठ का साबुन लगाकर आपसे बदले में कुछ भी न लेकर आपके वस्त्र स्वच्छ कर दे तो आप उस पर प्रसन्न होंगे या क्रोध करेंगे?

'प्रसन्न होंगे!'

सोमल ब्राह्मण, गजसुकुमार मुनिराज का आपकी दृष्टि में भले ही अनिष्ट कर रहा हो परन्तु भगवान् नेमिनाथ की दृष्टि में उनका मैल धो रहा है। ऐसी अवस्था में गजसुकुमार मुनि या भगवान् नेमिनाथ उस पर क्रोध क्यों करेंगे? वह तो इष्टसिद्धि में निमित्त बन रहा है।

सोमल का क्रोध नहीं दबा। वह प्रचण्ड रूप धारण करता गया। उसने पास के सरोवर से गीली मिट्टी निकाली और गज-सुकुमार के माथे पर पाली बांध डाली। इसके बाद श्मशान भूमि से लाल-लाल जलते हुए अंगार लाकर मुनि के मस्तक पर रख दिये।

मित्रो! मुँह से कथा कह देना सरल है, पर विचार कीजिए उस समय गजसुकुमार को कैसा अनुभव हुआ होगा? उनके

कोमल मस्तक की क्या दशा हुई होगी ? किन्तु धन्य हैं मुनिवर गजसुकुमार, जिन्होंने उफ् तक न किया। यही नहीं, वे विचारने लगे—'धन्य हैं भगवान् नेमिनाथ, जिन्होंने अनुपम दया करके मुझे आत्महित की साधना का यह सुअवसर दिया !' इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपने साम्य-भाव रूपी दिव्य जल से जलते हुए अंगारों को भी शीतल बना लिया !

यहाँ यह कहा जा सकता है कि सत्य के प्रभाव से अग्नि शीतल हो जाती है, शस्त्र भौंथरे बन जाते हैं और विष अमृत के रूप में परिणाम हो जाता है। यह सत्य गजसुकुमार मुनि के विषय में चरितार्थ क्यों नहीं हुआ ? इसका समाधान यह है कि सत्य सदा सत्य ही रहता है। वह कभी असत्य नहीं बन सकता। अगर गजसुकुमार चाहते तो अग्नि क्षण भर में शीतल बन जाती। मगर उनकी भावना क्या थी, इसका विचार करो। गजसुकुमार मुनि अगर जीवित रहना चाहते तो अग्नि की क्या मजाल थी कि उन्हें जला सके। तप के प्रभाव से अभिभूत होकर वह पानी-पानी बन जाती। किन्तु मुनिवर गजसुकुमार ऐसा नहीं चाहते थे। उनकी इच्छा शीघ्र से शीघ्र मोक्ष जाने की थी। वे अपावन शरीर में कैद नहीं रहना चाहते थे और इसी उद्देश्य से भगवान् की आज्ञा लेकर वहाँ आये थे।

जिनका मस्तक जल रहा है वे तो यह कहते नहीं कि दुनिया से धर्म उठ गया—मेरी कोई सहायता करने नहीं आया; अन्यथा क्यों मेरा मस्तक जलता। फिर भी दूसरे लोग बीच ही में कूद पड़ते हैं और कहने लगते हैं—धर्म में कुछ भी सामर्थ्य नहीं है !

यह तो वैसी ही बात है कि राम ने सीता को अग्नि में प्रवेश करने की आज्ञा दी, द्रौपदी को पाण्डवों ने जुए में हारा और दमयन्ती को राजा नल ने जंगल में छोड़ दिया फिर भी सीता, द्रौपदी और दमयन्ती ने अपने पति को कार्य को श्रेष्ठ समझा और दूसरे लोगों ने उनके कार्य की भरपेट बुराई की !

गजसुकुमार मुनि की घटना सुनकर हम आश्चर्य करने लगते हैं। हम सोचते हैं—इतनी भीषण वेदना कोई कैसे सहन कर सकता है ! माथे पर अंगार रक्खे हों और मुनि तपस्या में लीन हों, यह कैसी भयंकर कल्पना है ! परन्तु हमारी यह असंभावना, अपनी निर्बलता को प्रकट करती है। हमने शरीर और आत्मा के प्रति अभेद की भावना स्थिर करली है। हमारे अन्तःकरण में देहाध्यास प्रबल रूप से विद्यमान है। हम शरीर को ही आत्मा मान बैठे हैं। अतएव शरीर की वेदना को आत्मा की वेदना मान कर विकल हो जाते हैं ! परन्तु जिन्होंने परमहंस की वृत्ति स्वीकार करके, स्व-पर भेद विज्ञान का आश्रय लेकर, अपनी आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् कर लिया है—जो शरीर को भिन्न और आत्मा को भिन्न अनुभव करने लगते हैं, उन्हें इस प्रकार की शारीरिक वेदना तनिक भी विचलित नहीं कर सकती। वे सोचते हैं—शरीर के भस्म हो जाने पर भी मेरा क्या बिगड़ता है ? मैं चिदानन्दमय हूँ, मुझे अग्नि का स्पर्श भी नहीं हो सकता।

जब आपका ध्यान दूसरी ओर होता है तो मामूली-सी चोट का आपको पता नहीं चलता। बालक को खेल में खासी चोट लग जाती है पर वह खेल में तल्लीन होने से उस समय चोट

का किंचित् भी अनुभव नहीं करता। इसी प्रकार मुनि की आत्मानुभूति इतनी उग्र होती है—आध्यात्मिक ध्यान में ऐसी निश्चलता होती है कि शरीर की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। इस दशा में हम जिसे भीषण उपसर्ग समझते हैं वह उपसर्ग उनके लिए साधारण-सी वस्तु हो जाता है। दुःख एक प्रकार का प्रतिकूल संवेदन है। वह अपने आप में कुछ भी नहीं है। जिस घटना को प्रतिकूल रूप में अनुभव किया जाता है वही घटना दुःख बन जाती है। अगर उस पर ध्यान ही न दिया जाय अथवा उसे प्रतिकूल संवेदन न किया जाय तो दुःख की वेदना नहीं हो सकती। यही कारण है कि एक ही घटना, विभिन्न मानसिक स्थितियों में, विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है। गाली कभी प्रतिकूल संवेदन के कारण दुःख उत्पन्न करती है और वही गाली सुसराल में, प्रिय जनों के मुख से निकलने पर अनुकूल संवेदना के कारण सुख रूप हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि दुःख या सुख पहुँचाने की शक्ति गाली में नहीं है—अगर ऐसा होता तो वह सदा दुःख ही पहुँचाती या सदा सुख ही प्रदान करती। मगर ऐसा होता नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि गाली को सुख रूप या दुःख रूप में ढालने वाला सांचा दूसरा है। वह सांचा आत्मा के अधीन है। वही संवेदना का सांचा है। साधारण जनता को अतिशय भीषण प्रतीत होने वाली घटना को भी मुनिराज अपनी संवेदना के सांचे में ढाल कर सुख रूप परिणत कर लेते हैं। यही कारण है कि गजसुकुमार मुनि मस्तक जलने पर भी दुःख की अनुभूति से बचे रहे।

गजसुकुमार मुनि ने शुक्लध्यान की लेश्या जगाई और उससे

उनमें अनन्त लब्धि प्रकट हो गई। इस प्रकार शुक्लध्यान में अवस्थित होकर, पाँच लघु अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय की आयु भोग कर, सिद्धि को प्राप्त हुए। देवों ने आकर उनका अंतिम संस्कार किया और अपने मस्तक पर उनकी चरणरज लगा कर कृतार्थता का अनुभव किया।

मित्रो ! मैं आपसे पूछता हूँ कि आप किसके पुजारी हैं ?

'संयम के !'

संयम, तप, क्षमा आदि सद्गुण धारण करने वालों के तथा जिन्होंने ऐसे विकटतर प्रसंग उपस्थित होने पर भी अपना ध्यान भंग न होने दिया, ऐसे महापुरुषों के आप पुजारी हैं। इनके पुजारी हो कर के भी यदि आपका यह विचार हो कि—धर्म मांगलिक कहलाता है पर सचमुच ही यदि धर्म मंगलमय होता तो गजसुकुमार मुनि का घात क्यों होता; तो समझना चाहिए कि अभी आपके विश्वास में कमी है। अब तक आपके अन्तःकरण में परिपूर्ण और जागृत श्रद्धा का आविर्भाव नहीं हुआ है। वास्तव में घात वह है जिसके पश्चात् पुनर्जन्म धारण करना पड़े और पुनः पुनः जन्म-मरण का शिकार होना पड़े। गजसुकुमार के माथे की आग ठंडी हो जाती तो आज उनके नाम से ही हम सब का मस्तक न झुक जाता और न इतनी जल्दी उन्हें सिद्धि-लाभ हुआ होता।

इधर गजसुकुमार निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं, अशरीर अवस्था धारण कर लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं; उधर महारानी देवकी गजसुकुमार के विषय में सोच रही हैं—'फूल की डंडी

जिसके शरीर में चुभ जाती थी वह अतिशय सुकुमार गजसुकुमार आज भूमि पर कैसे सोया होगा ? कौन जाने उसे नींद आई होगी या नहीं ?' पर इस चिन्ता में भी सान्त्वना का कारण था। वह यह कि गजसुकुमार भगवान् अरिष्टनेमि के चरण-शरण में गया है। उसे कष्ट किस बात का हो सकता है ? देवकी ने इसी उधेड़बुन में जागते-जागते रात व्यतीत की।

मित्रो! गजसुकुमारजी ने जो कुछ किया उससे उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई। हमारी और आपकी यह शक्ति नहीं है कि हम या आप अँगारे सहन कर सकें। लेकिन एक वस्तु ऐसे आदर्श की है जिसे हम सभी कर सकते हैं—

याद हम करते हैं जो, उन सत्पुरुषों की बात।
श्रीकृष्ण ने ईंट उठाई, द्वारिका दरम्यान,
वृद्ध पुरुष की दया जो कीनी, शास्तर में बयान।
याद हम करते हैं जो० ॥

श्रीकृष्णजी के ईंट उठाने का वृत्तान्त मैं पहले कह चुका हूँ। जैसे एक डाक्टर नाड़ी देखने गया। उसने सब की नाड़ी देखी, परन्तु किसी को रोग नहीं था; इससे उसने कुछ न देखा। एक को उसने रोगी पाया, अतएव उसी को देखा। इसी प्रकार कृष्णजी ने भी एक वृद्ध को ही देखा, क्योंकि दूसरे लोग दुखी नहीं थे। श्रीकृष्ण सिर्फ भगवान् के दर्शन करने नहीं जाते हैं किन्तु सब का दुःख दूर करने जाते हैं। उन्होंने जिसे देखा वह जर्जरितकाय वृद्ध था।

जिसकी ओर देख कर सब लोग घृणा के साथ आँख फेर

लेते थे, और जिससे आढ़े-टेढ़े बोलते थे, ऐसे बूढ़े को कृष्णजी ने देखा। कृष्णजी ने सुखी और समृद्ध जनों को न देख कर उस जीर्ण-तन दुर्बल वृद्ध की ओर दृष्टि डाली। वह जरा की साक्षात् मूर्ति था। अपने काँपते हुए हाथों से बाहर पड़े हुए ईंटों के ढेर में से, बड़ी कठिनाई के साथ, एक-एक ईंट लेकर घर में ले जाता था। परेशानी उसके चहरे पर तर रही थी। विवशता उसकी आँखों में नाच रही थी।

श्रीकृष्ण की नजर उस दिन वृद्ध पर पड़ी। उसे देखते ही उनका हृदय दया से आर्द्र हो उठा। उसके दुःख से वे दुःखी हो गये। सोचा—कितना दुःखी है यह वृद्ध पुरुष! अगर मैंने इसका दुःख दूर न किया तो मेरा राज-पाट किस काम का? मेरे ऊपर होने वाले यह छत्र-चामर कलेश रूप ही होंगे। मैं अपने राजकर्त्तव्य से च्युत हो जाऊँगा।

श्रीकृष्णजी के लिए हुक्म देने की ही देर थी। उनके साथ बहुसंख्यक सेना थी। क्षण भर में वृद्ध की ईंटें उठ जातीं। पर नहीं, उन्होंने हुक्म देकर ईंट उठवाना पसन्द नहीं किया। वे स्वयं हाथी से उतर पड़े और उन्होंने ढेर में से एक ईंट उठा कर वृद्ध के घर में रख दी। दया का प्रशस्त कार्य आज्ञा देकर नहीं वरन् स्वयं करने से होता है। इसी कारण कृष्णजी ने यह कार्य स्वयं अपने हाथ से करना ही उचित समझा।

आज आप लोगों में आलस्य घुस गया है। आपमें से बहुतेरे ऐसे भी हैं जिनसे आसन भी उठा कर नहीं बिछाया जाता। कोई दूसरा आसन बिछा दे तब वे बैठ सकते हैं। आप

धार्मिक कृत्यों में भी आलस्य करते हैं, तो दया की खातिर ईंटें कैसे उठा सकते हैं ? सच्ची सेवा वही कर सकता है जो दूसरे की आत्मा को अपनी आत्मा के तुल्य समझता है। वह बूढ़ा कृष्णजी का कोई रिश्तेदार तो था ही नहीं, फिर भी उन्होंने उसे अपनी आत्मा के समान समझा, अपना दुःख जैसे असह्य लगता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण को बूढ़े का दुःख भी असह्य प्रतीत हुआ। इस स्थान पर शास्त्र का पाठ है—

"तएणं से कण्हे वासुदेवे तस्स पुरिसस्स अणुकम्पणट्ठाए हत्थि-
खंधवरगते चेव एगं इट्टगं गेण्हति, गेण्हित्ता बाहिया
रत्थापहाओ अंतोगिहं अणुप्पवेसेति ॥"

इस पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्णजी ने केवल उस वृद्ध पुरुष की दया के खातिर उसकी ईंट उठाई थी।

क्या कृष्ण ने बूढ़े की ईंट उठाकर अपनी महत्ता को कलंक लगा दिया ? कहाँ उनके छत्र-चामर और कहाँ बूढ़े की ईंट उठाना ? ऐसा सोचने वाला वस्तु-तत्त्व को नहीं समझता। कृष्ण के इस व्यवहार से बूढ़े के घरवालों पर तो पर्याप्त प्रभाव पड़ा ही होगा, साथ ही दूसरों पर और साथ की सेना पर भी कितना प्रभाव न हुआ होगा ? कृष्णजी वासुदेव—भरतक्षेत्र के तीन खंडों के अधिपति थे। यह स्वाभाविक ही है कि बड़े-बड़े राजा भी उनके साथ रहे हों। निस्सन्देह कृष्ण को ईंट उठाते देख कर उन्होंने भी उनका अनुकरण किया होगा। कृष्ण अगर आज्ञा देते तो ईंटें उठ जातीं, पर सम्भव है अनेक लोग न भी उठाते और सेवा का जो पाठ उन्हें मिला वह तो कदापि न मिलता।

कृष्णजी के आचार ने जो पाठ पढ़ाया वह उनके सैकड़ों उपदेश भी नहीं पढ़ा सकते थे।

दया करने के सैकड़ों तरीके हो सकते हैं। कृष्णजी चाहते तो ईंट न उठाकर बूढ़े को जागीर देने की घोषणा कर सकते थे। लेकिन इसमें उनकी कोई विशेषता न होती। उनके उच्च व्यक्तित्व का दूसरों को भान नहीं हो सकता था। मानवीय आदर्श की स्थापना इस व्यवहार से होती है। वह जमीन-जागीर देने से नहीं हो सकती थी।

कृष्णजी के व्यवहार से बूढ़े के घर वाले उसे देवता की भाँति मानने लगे होंगे। आज यदि गांधीजी किसी गरीब के घर जाकर उसकी टोकरी अपने सिर पर उठालें तो और लोग उस गरीब के पैर पड़ने लगेंगे। यही बात उस बूढ़े के विषय में भी हुई होगी।

कृष्णजी के ईंट उठाने के कार्य पर दृष्टि रखते हुए विचार करो कि तुम किसमें कितना काम ले रहे हो? और किस पर कितना बोझ लाद रहे हो? अगर कृष्णजी को अपने अन्तःकरण में स्थान देना चाहते हो तो आप भी किसी से इतना बोझ न उठवाइए जिसका उठाना उसकी शक्ति से परे हो। गरीबों पर इतना बोझ मत लादो, जिससे तुम उनके बोझ बन जाओ—वे तुम्हें अपना भार समझने लगें।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज ने एक बार कहा था—'ऐ धनिको! सावधान रहो। अपने धन में से गरीबों को हिस्सा देकर यदि उन्हें शान्त न करोगे, उनका आदर न करोगे, उनकी

सेवा न करोगे तो साम्यवाद फैले बिना न रहेगा। सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो जायगी कि गरीब लोग धनवानों के गले काटेंगे। उस समय हाय-हाय मच जायगी।'

दिवंगत पूज्यश्री की बात आज ठीक होती दिखाई दे रही है। अतएव दया करो और गरीबों को तथा बूढ़े भारतवर्ष को कष्ट न पहुँचाओ। यह देश भारतवर्ष इतना बूढ़ा है कि शायद ही दूसरा कोई देश इसकी बराबरी का हो। इस बूढ़े से ईंट उठाने का काम मत कराओ। जब उस बूढ़े से ईंटें ढोने का काम लिया गया था तो मोहन का दिल पसीज गया था और इस बूढ़े भारतवर्ष से ईंट उठाने के समान काम कराये जाते थे तब इस पर भी मोहन (गांधीजी) को दया आई है। उस बूढ़े पर दया करके उन मोहन ने उसकी ईंट उठाई थी और इस बूढ़े पर दया करके इन मोहन ने खादी पहन कर अपने ऊपर भारी भार उठाया है !

जब कृष्णजी ने बूढ़े की ईंट उठाई तब ऐसे मसखरे भी शायद रहे हों जो कृष्णजी के कार्य की हँसी उड़ाते हों। इस सभा में कोई ऐसा तो नहीं है जो खादी की हँसी उड़ाता हो ? अगर आप लोगों से कृष्ण के साथियों की तरह ईंट उठाते न बने अर्थात् मोहन ने जिस खादी को पहन कपड़े का बोझ उठाया है वैसा करते न बने, तो कम से कम खादी की, चर्खे की, दया की और अहिंसा की हँसी तो न उड़ाओ ! अगर कुछ करते नहीं बन पड़ता तो अच्छे को बुरा कहने का पाप तो न करो !

कृष्णजी ने बूढ़े की ईंट उठाई, उसमें उनका कुछ स्वार्थ नहीं

था। उन्होंने सिर्फ दया से प्रेरित होकर ही यह कार्य किया था और बूढ़े का बोझ हलका कर दिया था। इसी प्रकार खादी पहनने और पहनने का उपदेश देने में गांधीजी का कोई स्वार्थ नहीं है। आप भारतवर्ष का जितना बोझा हल्का कर सकते हो उतना हल्का करो। अगर हल्का नहीं कर सकते, तो कम से कम उसका बोझ तो मत बढ़ाओ!

कुछ लोग कहते हैं, कृष्णजी ने ईंट उठा कर आरंभ का कार्य किया है, अतएव उनका कार्य पापरूप है। लेकिन मैं पूछता हूँ, उन्होंने ईंट उठा कर अपने अभिमान का नाश किया या नहीं? गांधीजी नमक लूटने गये थे, उसमें आरंभ तो हुआ ही होगा। लेकिन अभिमान का नाश होने से आरंभ घटा या नहीं? गांधीजी जब नमक लूटने गये थे तब मशीनगनें कहाँ चली गई थीं? गांधीजी के कार्य से हिंसा मिटकर अहिंसा का जो लाभ हुआ, वह लाभ जिन्हें दिखाई नहीं देता और जो कृष्णजी के कार्य में दया के दर्शन न करके आरंभरूप पाप ही देखते हैं, उन पापदृष्टि वाले भाइयों को क्या कहा जाय?

मित्रो! कृष्णजी ने जो करुणा की थी उसका प्रभाव आज भी विद्यमान है। मैं यह नहीं कहता कि गांधीजी ने दया के जो कार्य किये हैं वे इस अन्तगड़सूत्र में कृष्ण की इस कथा को पढ़ कर ही आरंभ किये हैं, लेकिन तत्त्व दोनों बातों में वही आगया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कृष्णजी ने बूढ़े की ईंट उठा कर अपना अभिमान त्यागा था, उसी प्रकार गांधीजी ने भी दुखियों के दुःखों का भार अपने माथे लेकर अभिमान का त्याग

किया है। कृष्णजी के ईंट उठाने से जैसे उनके साथियों ने भी ईंटें उठाई होंगी और उस वृद्ध की सेवा की होगी, उसी प्रकार गांधीजी द्वारा गरीबों की सेवा करने से अनेक करोड़पतियों के पुत्रों और स्त्रियों ने भी गरीबों की सेवा की है। कौन कह सकता है कि इन स्वेच्छा-सेवकों के दिल में दया का वास नहीं है ? जिस दिन दुनिया से दया उठ जायगी, उस दिन दुनिया भी नहीं टिकी रहेगी।

महाराज श्रीकृष्ण वृद्ध पर दया करके—उसकी ईंट उठाकर—भगवान् नेमिनाथ के दर्शनार्थ गये हैं। आप भी दया करेंगे-सेवा करेंगे तो कल्याण के भागी बनेंगे।

महावीर-भवन, देहली
ता० १२-९-३१

निरवद्य दया
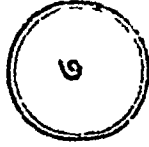
प्रार्थना

श्रेयांस जिनंद सुमर रे ।
चेतन आज कल्याण करन को, आज मिल्यो अवसर रे ।
शास्त्र प्रमा विज्ञान प्रभु गुण, मन चंचल थिर कर रे ॥
श्रेयांस जिनंद सुमर रे ॥

यह परमात्मा की प्रार्थना की गई है। प्रार्थना करने का काम हमेशा का है। जीवन का प्रत्येक क्षण—चौवीसों घंटे प्रार्थना करते-करते ही व्यतीत होने चाहिए। एक श्वास भी विना प्रार्थना का—खाली नहीं जाना चाहिए । प्रार्थना में जिनका

अखंड ध्यान वर्त्तता है उन्हें वारम्वार श्रद्धा-पूर्वक नमन है। हम लोगों में जब तक जीवन है, जब तक जीवन में उत्साह है, जब तक शक्ति है, यही भावना विद्यमान रहनी चाहिए कि हमारा अधिक से अधिक समय प्रार्थना करते-करते ही वीते। आचार्य मानतुंग ने कहा है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिल. किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारु-आम्रकलिकानिकरैकहेतुः ॥

अर्थात् हे प्रभो ! मेरा शास्त्रज्ञान अत्यन्त अल्प है। ज्ञानी, समझदार और शास्त्रज्ञाता पुरुषों के लिए तो मैं हँसी का पात्र हूँ। ऐसा होते हुए भी मैं आपकी स्तुति करने के लिए विवश हूँ। आपकी भक्ति बोलने के लिए मुझे विवश कर रही है।

कोई कहे कि स्तुति करने की शक्ति नहीं है तो फिर मौन क्यो नहीं रहते ? लेकिन यह तो अपनी-अपनी गति की वात है। जिस समय आम के वृक्ष में मंजरियाँ लगती हैं और उनकी सुगंध से आकृष्ट होकर भ्रमर उन पर मँडराते हैं, तब कोयल से कहो कि तू चुप रह—बोल मत। तो क्या कोयल चुप रह सकेगी ? कोयल किसी के कहने से नहीं गाती। आम में मंजरी आने से उस पर जो मतवालापन सवार हो जाता है, उस मतवाले-पन में वह बोले बिना नहीं रह सकती।

एक कवि कहता है—जिसके हृदय में भक्ति हो, वही भक्ति

की शक्ति को जान पाता है। केतकी और केवड़ा के फूलने पर भौंरे को गुंजार करने से कभी रोका जा सकता है ?

भ्रमर हमारे-आपके लिए गुंजार नहीं करता। केतकी और केवड़ा के फूलने से उसमें एक प्रकार की मस्ती आ जाती है। उस मस्ती की अवस्था में गुंजार किये बिना वह अपने चित्त को शान्त कैसे रख सकता है ? इसी प्रकार वसन्त ऋतु आने पर, जब आम फूलों से सुसज्जित हो जाता है, तब कोयल से चुप नहीं रहा जा सकता। मेघ की गंभीर गर्जना होने पर मयूर बिना बोले कैसे रह सकता है। पवन के चलने पर ध्वजा हिले बिना रह सकती है ? इसी प्रकार कवि कहता है—मुझसे अगर कोई कहे कि तुम बोलो मत—चुप रहो, तो मेरे अन्तःकरण में भक्ति का जो उद्रेक हो रहा है, उस उद्रेक के कारण बिना बोले मुझसे कैसे रहा जा सकता है ?

वसन्त ऋतु आने पर भी अगर कोयल नहीं बोलती तो उसमें और कौवी में क्या अन्तर है ? केतकी के फूलने पर भी भ्रमर मतवाला होकर गुंजार नहीं करता तो भ्रमर में और दुर्गन्ध पर जाने वाली मक्खी में अन्तर ही क्या रहेगा ? कोयल वसन्त के आने पर और भ्रमर केतकी के कुसुमित होने पर भी न बोले—अगर उन्होंने वह अवसर गँवा दिया, तो फिर कौन-सा अवसर उन्हें मिलेगा, जब वे अपने कोयल और भ्रमर होने का परिचय देंगे ? अतएव कोयल में और भ्रमर में जब तक चैतन्य है, जब तक जीवन है, तब तक वे अवसर आने पर बोले बिना नहीं रहेंगे। इसी प्रकार अगर मयूर में जीवन है, तो मेघ की

गर्जना सुन कर उससे चुपचाप बैठा न रहा जायगा। अगर वह चुपचाप रहता है तो उसमें और गीध में क्या अन्तर है? मेघ की गर्जना सुनते ही मयूर के उर में जो प्रेम उमड़ता है वह गिद्ध के हृदय में नहीं उमड़ता।

तात्पर्य यह कि वसन्त आदि अवसरों पर कोयल आदि के बोलने में निसर्ग की प्रेरणा है। निसर्ग की यह प्रेरणा इतनी बलवती होती है कि उसके आगे किसी की नहीं चलती। इसी प्रकार भक्त के अन्तःकरण में भक्ति की आन्तरिक प्रेरणा उत्पन्न होती है। उससे प्रेरित होकर भक्त मौन नहीं रह सकता।

पर्युषण पर्व के कारण आप लोगों पर भी भक्ति का रस चढ़ा है, यह प्रकट हो रहा है। आप भी यह सोचते होंगे कि पर्युषण के पवित्र पर्व के अवसर पर भी यदि धर्म-ध्यान न करेंगे तो फिर कब करेंगे? जैसे वसन्त ऋतु के आने पर अगर कोयल न बोले तो उसमें और कौवी में अन्तर नहीं रह जाता, इसी प्रकार चातुर्मास एवं पर्युषण पर्व आने पर भी आत्मा ने धर्म-ध्यान न किया—धर्म के सुखद सौरभ से आत्मा को सुवासित न किया, तो मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रहा?

हे आत्मन्! अनन्त काल व्यतीत हो चुका है। फिर भी तू ने धर्म की विशिष्ट आराधना नहीं की। इस कारण तू सिद्ध रूपी कोयल न बन कर संसारी जीव रूपी कौवी बना हुआ है। अब तुझे अत्यन्त अनुकूल अवसर हाथ लगा है। यह अवसर बार-बार नहीं मिलने का। इस समय तू अपनी शक्ति का प्रयोग कर। अपने पुरुषार्थ को काम में ला। अगर अब भी तू अपना

जोश न दिखाएगा तो अनादि काल से अब तक जिस स्थिति में रहा है, उस स्थिति में चिरकाल पर्यन्त रहना पड़ेगा।

वसन्त ऋतु में मौन रह कर कोयल, कौवी कहलाने का अपमान सहन नहीं कर सकती तो आप मनुष्य होकर पशु कहलाने का अपमान बर्दाश्त कर सकते हैं ?

मित्रो ! आप लोगों के माता-पिता श्रावक थे, अतएव आपको जिस धर्म की अनायास ही प्राप्ति हुई है वह उनके घर जन्म लेने के कारण ही। यदि आप श्रावक कुल में जन्म न पाते, किसी नीच कुल में जन्म ग्रहण करते तो आपकी बुरी आदतें छुड़ाने में भी कठिनाई होती। नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति से गोमांस के भक्षण का त्याग करने के लिए कहा जाय, जिसे कि सभी लोग बुरा समझते हैं. तो वह सरलता से छोड़ देगा ?

'नहीं।'

और आप लोगों में से किसी को लाख रुपया पुरस्कार देने की प्रतिज्ञा पर मांसभक्षण करने के लिए कहा जाय तो कोई भक्षण करेगा ?

'नहीं !'

मित्रो ! यह किसका प्रताप है ?

'कुल का।'

गीता में एक जगह कहा है—योगभ्रष्ट ही उत्तम कुल में जन्म लेता है। अर्थात् योग की साधना करते-करते उससे जो भ्रष्ट हो जाता है, जिसके योग में किसी प्रकार की मलिनता आ-

जाती है वह उत्तम कुल में जन्म ग्रहण करता है। वास्तव में धार्मिक कुल में जन्म मिल जाना साधारण बात नहीं है। संसार में ऐसे-ऐसे अधर्म-कुल हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। किसी-किसी कुल में हिंसा की इतनी तीव्र वासना है कि वे विना ही किसी प्रयोजन के हिंसा करते हैं और वैसा करके अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। कोई उन्हें समझाता है कि भाई, कम से कम विना प्रयोजन तो किसी प्राणी के प्राण मत लूटो; तो वे उत्तर देते हैं—'वाह, खूब उपदेश देते हो! अगर हम पशु-पक्षियों को सदा मारेंगे तो हमारा अभ्यास छूट जायगा। फिर मौके पर शिकार कैसे खेल सकेंगे ? निशाना अचूक कैसे बनेगा ?' इससे सर्वथा विपरीत, श्रावक के हाथ में चिउँटी देकर कोई उसे मारने के लिए कहे और उसके बदले उसे कुछ रुपये देने का प्रलोभन दे तो भी क्या श्रावक चिउँटी मारना पसन्द करेगा ?

'नहीं।'

यह सब जन्म के संस्कार का प्रभाव है। श्रावक के कुल में जन्म लेने से आपके अन्तःकरण में अनेक प्रकार के सुसंस्कार विद्यमान हैं। आपके हृदय में करुणा है, सत्-असत् का विवेक है, धर्म के प्रति प्रेम है और कई अन्य प्रकार की विशेषताएँ हैं। अगर इस कुल में जन्म पाकर और धर्मश्रवण आदि का सुन्दर योग मिलने पर भी आपने धर्म का आचरण न किया, धर्म की आराधना में उत्साह न दिखाया तो, फिर श्रावक के कुल में जन्म पा लेने से ही आपको क्या लाभ हुआ ? आप अनेक दुष्कर्मों से बचे हुए हैं, यह तो श्रावक-कुल में जन्म लेने का प्रताप है, किन्तु मांसभक्षी मनुष्य धर्म के लिए जितना जोर लगाता है

उतना जोर भी अगर आपने न लगाया तो कहना होगा कि आप उस अयोग्य सन्तान के समान हैं जो अपने पूर्वजों की पूंजी पाकर उसे बढ़ाती नहीं, घटाती है। अतएव भाइयो, सदा स्मरण रक्खो कि धर्म ही तुम्हारे बड़प्पन का कारण है। धर्म से ही बड़प्पन स्थिर रहता है। धर्म को कभी मत भूलो। तुम्हें जो सुसंस्कार अपने पूर्वजों से प्राप्त हुए हैं, उनमें सुयोग्य सन्तान की तरह वृद्धि करो और आगामी सन्तान को अधिकतर सुसंस्कार देते जाओ।

अगर दूसरा कोई आदमी आप से कहने लगे—'हम हिंसा करते हैं—घोर घातक हैं, फिर भी परोपकार का अमुक कार्य तो करते हैं। मगर आप हिंसक नहीं तो क्या हुआ, आपसे परोपकार का कार्य तो करते नहीं बनता।' तो आप इसका क्या उत्तर देंगे ? यह दुःख की बात होगी या नहीं ? इससे आपकी अहिंसा लज्जित होगी या नहीं ? क्या आप में हिंसा करने वाले से अधिक गुण नहीं होने चाहिए ? दयावान् में क्षमा, निरभिमानता, परोपकार आदि उत्तम गुण अवश्य होने चाहिए। इन्हीं गुणों के कारण अहिंसा की—धर्म की प्रतिष्ठा होती है। इन्हीं से धर्म की महत्ता बढ़ती है। आप मांस का भक्षण नहीं करते, अतएव रजोगुण और तमोगुण से बचे हुए हैं। आपकी बुद्धि भ्रष्ट होने से बची हुई है। अतएव आप उदारता का परिचय दो। जगत् में सात्विकता का विस्तार करो। अपने जीवन-व्यवहार से आप को यह सिद्ध करना चाहिए कि मांसभक्षण न करने और मदिरा आदि अयोग्य वस्तुओं का सेवन न करने वाले मनुष्य का जीवन कितना उन्नत, कितना स्पृहणीय और कितना धर्म-मय होता है।

मैंने अभी बतलाया है कि कोयल, भ्रमर और मयूर समय पाकर चूकते नहीं हैं। केतकी के फूलने पर भ्रमर गुंजार न करे, वसन्त आने पर कोयल न बोले और मेघध्वनि सुनकर मयूर न बोले तो किसका दर्जा घटेगा ? मेघ की गर्जना करने पर मोर न बोले तो उसी का दर्जा घटेगा और कहा जायगा कि मेघ-गर्जना सुनकर भी मयूर नहीं बोलता तो वह क्या गीध होकर बोलेगा ? इसी प्रकार भगवान् की वाणी रूपी मेघ गरज रहा है। अगर आप लोगों ने इस अवसर पर भी अपना कर्त्तव्य न सोचा, यदि इस मौके पर भी आप मयूर की तरह मस्त होकर न बोल उठे तो कब बोलेंगे ? आपको क्या बोलना चाहिए, यह जानने के लिए शास्त्र की कल वाली कथा को ही लीजिए।

हमारे यहाँ चक्रवर्त्ती और वासुदेव के राज्य की कल्पना बहुत बड़ी है। आठ हजार देव वासुदेव के सेवक होते हैं। वासुदेव के पास सुदर्शन चक्र होता है, सारंग धनुष होता है, नंद खड्ग होता है, कौमुदी गदा होती है और गरुड़ध्वज रथ होता है। संसार में किसी का सामर्थ्य नहीं कि वह वासुदेव को पीछा हटा सके। श्रीकृष्णजी को यह सब दिव्य सामग्री प्राप्त थी। उनका गरुड़ध्वज रथ ही ऐसा था कि उस पर सवार होने पर संसार की समस्त शक्ति मिलकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकती थी। ऐसे देवकी-नन्दन को सभी भारतीय किसी न किसी रूप में मानते हैं। यहाँ तक कि यहूदी और ईसाई आदि भी उन्हें किसी दूसरे नाम से पुकारते हैं, यह सुना जाता है। फ्रांस के एक विद्वान् पादरी ने, जो बहुत समय तक भारतवर्ष में भी रहा है, लिखा है कि, 'क्राइष्ट' शब्द 'कृष्ण' का ही रूपान्तर है। इसमें सत्य का कितना

अंश है या नहीं, इस बहस में हमें पड़ने की इच्छा नहीं है। हमारा आशय तो यह बताना है कि कृष्ण अपने युग के महापुरुष थे। उस समय भी सभी लोग उनकी ख्याति से परिचित थे और उनका लोहा मानते थे। ऐसा महान् प्रसिद्ध पुरुष एक साधारण श्रेणी के बूढ़े आदमी की ईंट उठाये, यह क्या साधारण बात है ? यह कथा कोई कल्पित कहानी नहीं है, वरन् शास्त्र इस का वर्णन करता है।

विचार आता है कि जब कृष्ण उस बूढ़े की ईंट उठाने के लिए तत्पर हुए तब उन्होंने अपना बड़प्पन, अपना महत्त्व, कहाँ रख दिया था ? उन्हें अपने बड़प्पन में बट्टा लगता नहीं मालूम हुआ होगा ? उन्होंने यह नहीं सोचा होगा कि मेरे मित्र मुझे क्या समझेंगे ? इन सब बातों की परवाह किये बिना ही वे जर्जरित देह वाले बूढ़े की ईंट उठाने को तैयार होगये ?

'घटी-आँख की जोत, छोत सब घर की करता।
डोकरा क्यों नहिं मरता ?'

आँख की ज्योति घट गई है। शरीर की कान्ति चली गई है। पोपले मुँह में लार टपक पड़ती है। घर के सब लोग घृणा करते हैं। सोचते हैं—यह बूढ़ा अब मर क्यों नहीं जाता ?

श्री मोतीलालजी महाराज बुढ़ापे के वर्णन का एक गान बोला करते थे। उसका कुछ भाग इस प्रकार है—

बूढ़ा ने बालपना की हर आवे, लड्डू पेड़ा जलेबी मँगावे।
घर से करड़ी रोटी आवे, दाँता से चाबी नहिं जावे॥

बहुआँ बड़ा घरां की जाई, दे न खाट गोदड़ा बिछाई ।
सबुरा थारे रे छाँडे चाढूं, रैंटया में पूंणी कर घाढूं ॥
म्हारो बालक विलबिल रोवे, झोरी में सुवायो नहिं सोवे ।
सुसरो खूं खूं करतो थूंके, बहुअर ऊठ सबेरे आँगण लीपे ॥
सुसराजी बड पीपल पण झड़िया, सुसरोजी हजू नहि मरिया ।

बुढ़ापे में ऐसी दशा होजाती है कि घर वाले भी उसके शीघ्र मर जाने की भावना करते हैं । कोई बात पूछने वाला नहीं मिलता । ऐसे बूढ़े की ईंट उठाने के लिए, हाथी के हौदे पर बैठे हुए कृष्णजी को क्यों प्रेरणा हुई ? उन्हें ऐसा करने की क्या गरज पड़ी थी ? लेकिन इस चरित में न जाने क्या भाव भर दिया गया है ! कृष्णजी की बूढ़े की ईंट उठाने की दया पर और गजसुकुमार की अलौकिक क्षमा पर जब विचार करते हैं तो संसार का साहित्य तुच्छ दिखाई देने लगता है !

दया में घृणा को कतई स्थान नहीं है । अन्तःकरण में जब दया का निर्मल स्रोत बहने लगता है तब घृणा आदि के दुर्भाव न जाने किस ओर बह जाते हैं । श्रीकृष्ण ने सिर्फ दया के खातिर बूढ़े की ईंट उठाई थी । इस प्रसंग में शास्त्र का पाठ यह है—

तए ण से कण्हे वासुदेवे तस्स पुरिसस्स अणुकंपणट्ठाए—इत्यादि

इस पाठ से प्रकट है कि कृष्णजी के हृदय में उस बूढ़े के प्रति दया का प्रादुर्भाव हुआ । इसी कारण उन्होंने उसकी ईंट उठाई ।

बूढ़े की दया के अतिरेक में कृष्णजी सारंग धनुष, सुदर्शन

चक्र, कौमुदी गदा आदि सब की शक्ति भूल गये। उन्होंने इस बात का विचार नहीं किया कि दूसरे लोग मुझे क्या कहेंगे! बूढ़े की करुण मूर्त्ति उनके दिल में बैठ गई। उसने उनका दिल हिला दिया। कृष्णजी करुणा से भींज गये।

कम्प् धातु का संस्कृत भाषा में 'काँपना' अर्थ होता है। उसके पहले 'अनु' उपसर्ग लगने से अनुकम्पा शब्द सिद्ध होता है। अनुकम्पा का अर्थ है—

अनुकम्पनं—अनुकम्पा।

जैसे सामने वाला है वैसा ही मैं हूँ—वरन् वही मैं हूँ, वह दुःख उसका नहीं, मेरा है, इस प्रकार का कम्पन होना। दूसरे समस्त विचारों को भूल कर उस दुःख के प्रतीकार का विचार हो उठना। यह अनुकम्पा शब्द का अर्थ है।

ऐसे भी कुछ लोग हैं जो इस प्रकार की अनुकम्पा को पाप बतलाते और मानते हैं। अनुकम्पा को पाप बताने वाले भाइयों पर भी मुझे अनुकम्पा है, बल्कि वे अनुकम्पा के अधिक पात्र हैं। अगर उन पर अनुकम्पा का भाव मेरे हृदय में विद्यमान न होता तो मैं उनकी चर्चा ही यहाँ न करता। जसे आज सच्चे कांग्रेसी पुरुषों को अंग्रेजों के प्रति शत्रुता का भाव न होने पर भी, अंग्रेजों की नीति और उनकी शासन-प्रणाली से विरोध है—वे उस प्रणाली का समूल विनाश करना अपना अभीष्ट समझते हैं, क्योंकि इससे दूसरों को हानि पहुँचती है और स्वयं अंग्रेज भी नैतिकता के आदर्श से भ्रष्ट होते हैं; उसी प्रकार कृष्णजी की अनुकम्पा को पाप बताने वाले भाइयों के प्रति मेरे

हृदय में किञ्चित् मात्र रोष या द्वेष न होने पर भी अनुकम्पा जैसे प्रशस्त कार्य को उनका पाप बताना मुझे सह्य नहीं है। इससे मै बेचैन हो जाता हूँ; क्योंकि इस प्रकार के उपदेश से धर्म का प्रधान आधार ही डगमगा जाता है। मैं सोचने लगता हूँ—वे लोग अनुकम्पा को पाप कैसे बताते हैं? आखिर उनकी विचार-सरणि का आधार क्या है? इस अनुकम्पा में मोह क्या है? और मोह हुआ किस पर? कृष्णजी ने जिस पर अनुकम्पा की वह जीर्ण-शीर्ण शरीर वाला बूढ़ा है। उसके घर वाले भी उसका अनादर करते हैं। जो अनादर करते हैं वे घरवाले भले ही मोह मे पड़े हों, पर कृष्णजी की अनुकम्पा को मोह बता कर उसे पाप कहने वालों से क्या कहा जाय? उन भोले भाइयों में यह मिथ्या धारणा न जाने क्यों घुस पड़ी है? कृष्णजी को मोह होता तो वे हाथी पर से क्यों उतरते? उन्होंने हाथी से उतर कर एक साधारण मजदूर की तरह बूढे की ईंट उठाई और जगत् में दीन-दुखियों की सेवा-सहायता करने का अनुपम आदर्श उपस्थित किया, अभिमान का त्याग किया, सो वह भी पाप हो गया! यह कैसी विडम्बना है!

आज यदि चरितानुयोग न होता तो हमें अनुकम्पा के लिए उदाहरण देना भी कठिन हो जाता। कृष्णजी ने बूढ़े का बोझ अपना बोझ माना। ऐसे अनुकम्पा के कार्य को मोहानुकम्पा कह कर पाप कैसे बताया जाता है, सो कुछ समझ में ही नहीं आता।

दया धर्म पावे तो कोई पुण्यवत पावे,
जाने दया की बात सुहावे जी।

भारी-कर्मा ने अनन्त संसारी,
जाँ रे दया दाय किम आवे जी ॥

पुण्यवान बनने की इच्छा तो सभी को होती है, पर वास्तव में पुण्यवान् होता कौन है ? हाथी पर बैठकर छत्र-चँवर कराने तथा राजसिंहासन पर बैठकर प्रजा पर हुक्म चलाने से ही कोई पुण्यात्मा नहीं कहलाता। यह सब सामग्री पुण्य से भले ही मिली हो, लेकिन इनका उपभोग करना पुण्यवानी नहीं है—इस सामग्री के उपभोग से पुण्य का क्षय ही होता है, पुण्य का उपार्जन नहीं होता। इस बात को समझाने के लिए एक उदाहरण देना अधिक उपयुक्त होगा।

एक धनाढ्य सेठ मोटर में बैठ कर जा रहा है। उसके गले में कंठा है, हाथों में कड़े पड़े हैं। उसके पास ही उसके बड़े-बड़े मुनीम गुमाश्ते बैठे हैं। बढ़िया मोटर है, जो वायु-वेग से दौड़ती चली जाती है। मार्ग में आपका बालक खेल रहा है और वह धक्का लगने से गिर पड़ता है। बालक को गिरते देखकर सेठ की आँखें लाल हो जाती हैं। वह क्रोध से काँपता हुआ कहता है—'कैसे मूर्ख हैं ये लोग, जो अपने बालक को भी नहीं सम्हालते हैं। अगर बालक को सँभाल नहीं सकते तो उसे उत्पन्न ही क्यों करते हैं ? उन्हें गृहस्थी बसाने का अधिकार क्या है ? अगर बालक इतना चंचल और नटखट है कि रोकने से भी नहीं रुकता, तो उसे कोठरी में क्यों नहीं बंद कर रखते ? उन्हें इतनी भी समझ नहीं कि यह आम रास्ता है और हम लोगों की मोटरें इस रास्ते पर दौड़ती रहती हैं। दूसरे को हत्या लगाने के लिए अपने बालक को छोड़ देने वाले पिता पर मुकद्दमा चलाना

चाहिए, जिससे उसकी अक्ल ठिकाने आ जाय ! बाप बनने का मजा चखाये बिना अब काम चलेगा नहीं।'

इस प्रकार बड़बड़ा कर सेठ मुकद्मा चलाने को तैयार होता है। उसका अभियोग है कि लोग अपने बालक को न सँभाल कर आम रास्ते को खराब और खतरनाक बनाते हैं। हॉर्न बजाने पर भी लड़का रास्ते से नहीं हटा, अतएव मुकद्मा चलाना ही चाहिए।

लड़का पड़ा-पड़ा कराहता रहा और सेठ मोटर लेकर चलता बना। इसके पश्चात् एक गरीब, जिसके शरीर पर पूरे वस्त्र भी नहीं हैं, सवारी करने को जिसके पास टट्टू भी नहीं है, जिसके पैर में जूते तक नहीं है, वहाँ आया और उस बालक को पड़ा देखा। उसने उसे उठाया और छाती से लगा कर पुचकारा। किसी प्रकार मौखिक सान्त्वना देकर वह उसे अस्पताल ले गया और वहाँ उसका उपचार कराया। दोनों आपको संयोगवश मिल जाते हैं, तो आप किसे पुण्यात्मा कहेंगे ? धनाढ्य सेठ को या उस चिथड़े वाले गरीब को ? आपका हृदय क्या कहता है ? वास्तव में पुण्यात्मा कौन है ?

'गरीब !'

तो क्या प्रथम श्रेणी की मोटर और वह कड़े-कंठे पुन्याई की निशानी नहीं है ?

'नहीं !'

सेठ के कड़े और कंठे को आप धूल के समान समझेंगे। जब आप गृहस्थ ही ऐसा समझने लगेंगे तो हम तो साधु ठहरे।

हमारा कहना ही क्या है ? हम यही तो कह रहे हैं कि सच्चा पुण्यवान् वह है, जिसके घट में दया का वास होता है।

हमें सेठ की मोटर से द्वेष नहीं है। उसके कड़े और कंठे से हमारे हृदय में डाह नहीं पैदा होती। हम उसे पुण्यवान् तब कहते जब वह तत्काल मोटर से उतर कर काँप उठता। आपके उस लड़के पर करुणा करता और आपसे तथा लड़के से अपने कृत्य के लिए क्षमायाचना करता। लेकिन वह तो उलटा मुकदमा चलाने को कहता है, उसे पुण्यवान् कैसे समझा जाय ? हम तो उसी को पुण्यवान समझते हैं जिसका दिल दीन-दुःखी जीवों को देखते ही पिघल कर पानी-पानी हो जाता है, जिसके दिल में दया की विद्युत् दौड़ने लगती है।

महाराज श्रीकृष्ण भावी तीर्थंकर माने जाते हैं। अगले उत्सर्पिणी काल में वे हमारे वन्दनीय और पूजनीय होंगे। मगर स्मरण रखो, वे चक्र, धनुष, और गदा आदि के प्रयोग करने से या विशालकाय हाथी पर आरूढ़ होने से तीर्थंकर नहीं होंगे वरन् दया देवी की आराधना करने से ही उन्हें तीर्थंकर पद की प्राप्ति होगी। उन्होंने दया का जो उदाहरण उपस्थित किया उसकी समानता मिलना भी सहज नहीं है। इतने विख्यात, सम्माननीय और अर्द्ध चक्रवर्ती होकर भी निस्संकोच भाव से अपने आपको तीन कौड़ी के गरीब दुखिया की कोटि में सम्मिलित कर लेना, उसके कार्य में हाथ बँटाना साधारण त्याग नहीं है। ऐसा करने के लिए प्रबल नैतिक साहस की आवश्यकता है, उससे दयाभाव अपेक्षित है! उन्होंने अपने जीवन में न जाने और कितने दया के कार्य

किए होंगे ! न मालूम कितने दुखियों के दुःख दूर किये होंगे। कौन जानता है उन्होंने कितने अबल और असहाय जनों के साथ इस प्रकार की आत्मीयता का नाता जोड़ा होगा ? उनके हृदय-सरोवर में रात दिन दया की कितनी प्रबल ऊर्मियाँ उठती रहती होंगी ? अन्यथा वे जगत्-वन्द्य तीर्थंकर पद के अधिकारी कैसे बनते ?

मित्रो ! भगवान् नेमिनाथ के सच्चे दर्शनार्थी यात्री वही हैं जिनके दिल में दया का वास हो। कृष्णजी ने न तो आप लोगों की तरह संवत्सरी मनाई, न सामायिक ही की; यद्यपि वे ऐसा करना चाहते थे पर उन्हें निदानवश ऐसा करने का अवसर ही न मिला। मगर उनकी वृत्ति इतनी कोमल और दया इतनी अमोघ थी कि इसीसे वे तीर्थंकर पद प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

आप पोषध करते हैं, सामायिक करते हैं; यह सब धर्मक्रिया उचित ही है—कर्त्तव्य है, किन्तु होनी चाहिए दया के साथ। दिल में दया नहीं है, परिणामों में कठोरता है, तो कहना पड़ेगा कि आपकी भक्ति में वास्तविकता नहीं है—वह बगुला भक्ति है।

एक बगुला बैठा तीर, ध्यान वाको नीर में,
एक लोग कहे याको चित बस्या रघुवीर में।
याको चित्त माछला मांय जीव की घात है,
पण हां वाजिंद दगाबाज़ को नाहि मिलें रघुनाथ हैं।

प्रकार की बक-वृत्ति से कल्याण न होगा। जगत् को

ठगना आसान हो सकता है पर परमात्मा को ठगने का प्रयास करना वृथा है ।

कृष्णजी के अन्तःकरण में करुणा का प्रादुर्भाव हुआ था, इसी कारण आज उनकी महिमा गाई जा रही है । अब आप अपने विषय में विचार कीजिए । आपको क्या करना चाहिए और कैसा बनना चाहिए ? आप सोचते होंगे—चलो, हम भी किसी की ईंट उठा देंगे तो तीर्थंकर बन जाएँगे और हमारी महिमा भी कृष्ण के समान गाई जाने लगेगी ! पर इस बात का विचार करो कि कृष्णजी किस श्रेष्ठतर मानसिक स्थिति पर पहुँचे थे और किस उत्कृष्ट स्थिति में उन्होंने ईंट उठाई थी ! उनके परिणामों में करुणा का कैसा प्रकृष्ट रसायन आ गया था ! ईंट उठाना, अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली दया-भावना का कार्य था । उसी दया-भावना से कृष्णजी तीर्थंकर पद के अधिकारी हुए हैं, केवल ईंट उठा देने से नहीं । आप इतना न कर सकें तो कम से कम इतना तो अवश्य देखें कि आपकी ओर से किसी पर भार तो नहीं पड़ रहा है ! दूसरे का भार अपने ऊपर ओढ़ने से पहले इतना कर लो कि अपना बोझ दूसरों पर न लदे ।

कृष्णजी ने जिस बूढ़े की ईंट उठाई थी, उसके घर वालों ने उसे कोई चुभने वाली बात कही होगी । इसी कारण वह शक्तिहीन होते हुए भी ईंटें उठाने में जुट पड़ा होगा । उस बूढ़े के घर वालों की भाँति आप से कोई व्यवहार नहीं हो रहा है ? आप तो अपने असमर्थ वृद्ध माता-पिता आदि से ऐसी कोई बात नहीं कहते, जो उन्हें चुभती हो, जिससे उनके दिल में चोट पहुँचती हो ? एक दृष्टान्त सुनिये—

एक आदमी घोड़ी पर सवार होकर चला जा रहा था। घोड़ी के पेट में बच्चा था। आदमी मूर्ख था। उसने सोचा–'घोड़ी के पेट में बच्चा है। इस पर अधिक बोझ लादना ठीक नहीं है।' यह सोच कर उसने, अपने पास जो बोझ था, वह घोड़ी पर बैठे-बैठे ही अपने सिर पर रख लिया। अब वह मूर्ख घोड़ी पर था और उसका बोझ उसके सिर पर था। रास्ते में उसे कुछ लोग मिले। उन्होंने उस सवार से पूछा—भाई, तू घोड़ी पर बैठा है, फिर यह बोझ अपने ऊपर क्यों लाद रक्खा है ? मूर्ख सवार ने कहा—घोड़ी के पेट में बच्चा है, अगर उस पर इतना बोझ लाद देंगे तो वह मर न जायगी ? उन्होंने उससे कहा—भले आदमी, तू बैठा किस पर है ? यह सारा बोझ पड़ किस पर रहा है ?

आप लोग विचार कीजिए कि वह मूर्ख घोड़ी पर दया कर रहा है या दया की हँसी करा रहा है ? आप लोग ऐसी मूर्खता-पूर्ण दया तो नहीं करते ? कृष्णजी के समान ईंट उठाने की बात बाद में सोचना, पहले यह सोचलो कि आप अपना बोझ गरीबों पर तो नहीं डाल रहे हैं ? आप कुछ कार्य तो ऐसे करते हैं जिससे मालूम हो कि आप गरीबों पर दया करते हैं; लेकिन आपने अब तक ऐसे कार्यों को कहाँ त्यागा है जिनके कारण गरीबों को भूखों मरना पड़ता है, उन्हें एक बेर भरपेट रोटी भी खाने को नसीब नहीं होती ? कल्पना कीजिए एक आदमी चुरुट पीता हुआ चला जा रहा है। रास्ते में एक गरीब भूख का मारा बिलबिला रहा है। उस चुरुट पीने वाले ने गरीब को एक पैसा दिया। इस घटना पर ज्ञानी कहते हैं, गरीब को एक पैसा

देकर अपनी दया का प्रदर्शन करते हो तो चुरुट पीना ही क्यों नहीं त्याग देते ? इस चुरुट के कारण तुम स्वयं भार बन रहे हो और तुम्हारा भार गरीबों पर पड़ रहा है। अगर तुम इसका त्याग कर दो तो गरीबों पर कितनी दया होगी ? दया के प्रदर्शन की अपेक्षा वास्तविक दया से ही वास्तविक और विशेष लाभ होगा।

आज बीड़ी-सिगरेट में जो विपुल धनराशि व्यय की जाती है, उसे परोपकार के काम में लगा दिया जाय तो कितना लाभ हो ? जगत् का इससे बहुत मंगल-साधन किया जा सकता है।

मत पीना नशीली तमाखू कभी,
देती सुख ना जरा ये तमाखू कभी।
ज़हर होता है भयंकर इस तमाखू में सुनो,
नाम जिसका है निकोटाइन हकीकत सब सुनो
ज्यादा पीने से रोगी को मारे कभी,
मत पीना नशीली तमाखू कभी॥
खून हो जाता है पतला दाग पड़ते सीने में,
फेफड़े कमजोर हो जाते हैं संशय जीने में।
करती सूना दिमाग तमाखू कभी,
मत पीना नशीली तमाखू कभी॥
रोग होते हैं अनेकों, जिनकी कोई हद नहीं,
आँख-पीड़ा पेट पीड़ा मन्दता होती सही।
पूरे डाक्टर हैं जो वे बताते सभी।
मत पीना नशीली तमाखू कभी॥

डाक्टरों ने प्रयोग करके यह परिणाम निकाला है कि तमाखू में विष की मात्रा काफ़ी परिमाण में होती है। एक जगह मैंने पढ़ा है कि एक बीड़ी की तमाखू का सत्व निकालकर सात मेंढकों को दे दिया जाय तो उन सातों की मृत्यु हो जायगी। तमाखू में जो विष होता है, डाक्टरों ने उसे 'निकोटाइन' संज्ञा दी है।

वास्तव में तमाखू अत्यन्त हेय वस्तु है। उसमें मादक शक्ति है, विष है और इसीलिए वह बुद्धि तथा स्मरण शक्ति का विनाश करती है। उससे रक्तविकार आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, जो जीवन को खतरे में डाल देते हैं। मैं जब विचार करता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि तमाखू में आखिर क्या आकर्षण है, जिसमे आज दुनिया भर में उसका दौरदौरा हो रहा है! तमाखू में मिठास नहीं है, कटुकता है। इन्द्रियाँ उसे पहले-पहल स्वीकार नहीं करना चाहतीं। मनुष्य जब तमाखू को भीतर ठूंसना चाहता है तब इन्द्रियाँ प्रबल विरोध करती हैं। छींक के द्वारा, खांसी के द्वारा या वमन के द्वारा अन्दर ठूसी हुई तमाखू को इन्द्रियाँ बाहर फैंक देती हैं। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तमाखू शरीर के लिए अस्वाभाविक वस्तु है। फिर भी मनुष्य मानता नहीं और अपने ऊपर बलात्कार करके तमाखू का सेवन किये जाता है। कुछ दिनों तक इन्द्रियाँ विरोध करके थक जाती हैं और मनुष्य तब स्वच्छन्द होकर शरीर में तमाखू का जहर घुसेड़ने लगता है। अन्त में शरीर तमाखू के विष से विषैला बन जाता है और तब लोग 'शरीरं व्याधि-मन्दिरम्' अर्थात् शरीर रोगों का घर है, यह कहकर अपना रोना रोया करते हैं। कहते हैं आध सेर तमाखू में इतना विष होता

है कि उससे मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। मगर मनुष्य थोड़ी-थोड़ी करके सेवन करता है इसी से तत्काल इतना उग्र प्रभाव नहीं होता, फिर भी उससे भयंकर हानियाँ होती हैं। तमाखू ज्ञान-तन्तुओं पर विनाशक प्रभाव डालती है, हृदय को दुर्बल बनाती है और मन को भ्रांत करके स्मरणशक्ति की जड़ उखाड़ फैंकती है। यह एक नशीली वस्तु है। इसके नशे में अनेक बार घोर अनर्थ हो जाते हैं।

एक अंग्रेज को चुरुट पीने का बड़ा शौक था। एक दिन चुरुट पीने से उसे खूब नशा चढ़ गया। नशे की हालत में मनुष्य को कई प्रकार के कुत्सित विचार आते रहते हैं और अनेक प्रकार की ऊलजलूल बातें सूझती हैं। उस अंग्रेज़ को भी एक भयंकर विचार आया। उसकी पत्नी सोई पड़ी थी। उसने उसे मार डालने का विचार किया। थोड़ी ही देर में उसका नशा कम हो गया, तब उसे अपने मूर्खतापूर्ण विचार पर धिक्कार आया। वह अपने आपको बार-बार धिक्कारने लगा। थोड़ी देर बाद उसने फिर चुरुट पिया और अब की बार उसका वह भीषण कुविचार काम कर गया—उसने अपनी पत्नी की हत्या कर डाली। तमाखू के सेवन से मनुष्य का इतना पतन हो जाता है!

इस विषमयी तमाखू को खरीदने में भारतीयों का लाखों-करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष विदेशों में चला जाता है। ज़रा अपनी विवेकशीलता का विचार तो करो! एक ओर करोड़ों आदमी भूख के कारण तड़फते हैं और दूसरी ओर करोड़ों रुपया तमाखू खरीदने के लिए विदेशों में भेज दिया जाता है। और

उस रुपये के बदले मिलता क्या है—भयंकर क्षति, भीषण विनाश, शरीरशोषण, बुद्धिभ्रंश आदि। इन सब सौगातों के लिए तुम्हारा धन व्यय होता है और वह धन गरीबों के हाथ का कौर छीन कर इकट्ठा किया जाता है! इस व्यवहार की कहाँ तक प्रशंसा की जाय ? वैश्यों की वाणिक् बुद्धि भी आज कहाँ चली गई है!

मित्रो! दूसरों पर दया नहीं कर सकते तो कम से कम अपने ऊपर तो दया करो! अपने पैर पर आप कुल्हाड़ा मत मारो। तमाखू जैसे निन्दनीय पदार्थों के सेवन से बचने का प्रयास करो। अपनी वृत्ति को सात्विक बनाओगे तो जीवन का आदर्श तुम्हें सूझ पड़ेगा। उस समय तुम्हारा हृदय दया से द्रवीभूत होगा। वह दया तुम्हारा परम कल्याण करेगी। वह सच्ची दया जगत् को आनन्द का धाम बना सकती है। दिखावटी दया से काम नहीं चल सकता। अन्तःकरण को करुणामय बनाओ। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा और जगत् का भी कल्याण होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० १४-९-३१
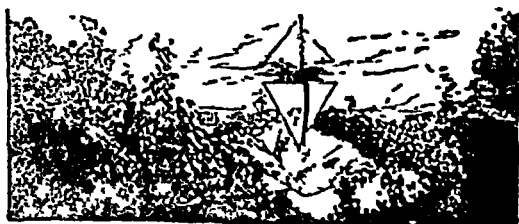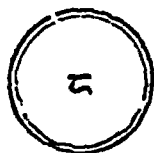
सदा सहायक

प्रार्थना

प्रणमूँ वासुपूज्य जिननायक, सदा सहायक तू मेरो।
विषम वाट घाट भय थानक, परम श्रेय सरनो तेरो॥
प्रणमूँ वासुपूज्य जिननायक०॥
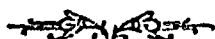
भगवान् वासुपूज्य की यह स्तुति की गई है। प्रार्थना की भाषा सीधी-सादी और सरल है। एक बच्चा भी उसे समझ सकता है। किन्तु सरल भाषा की इस प्रार्थना में जो भाव-गांभीर्य है, भावों की जो महत्ता है, उसकी ओर भी दृष्टि देना

चाहिए। भावों की गंभीरता और महत्ता को समझाना ही प्रार्थना का समझाना है।

प्रार्थना में एक सीधी-सी बात कही गई है कि—हे प्रभो! मैं तुझे प्रणाम करता हूँ, तुझे वन्दन-नमस्कार करता हूँ। प्रणाम करने का कारण क्या है, इसका स्पष्टीकरण करने के लिए बतलाया गया है कि—क्योंकि तू सदा सहायक है! चलते, फिरते, खाते, पीते, सोते, जागते, बेहोशी में और होश में, बस तू ही सहायक है।

इस प्रकार की सहायता करने वाले से किसे प्रेम न होगा? ऐसे भगवान् को कौन नमस्कार न करेगा? मगर हमें यह तो जान लेना चाहिए कि वह भगवान् सदा सहायक किस प्रकार हैं? कैसे वह हमारी सहायता करते रहते हैं? अगर हम इस तथ्य को जान जाएँगे तो हमारा मस्तक उनके चरणों में स्वतः झुक जायगा।

भगवान् सदा सहायक किस प्रकार हैं, इसे जानने के लिए विचार की आवश्यकता है। अगर आप विचार करेंगे तो स्वयं ही आपको विदित हो सकता है, फिर परोपदेश की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी।

आप जब घर पर थे तब सूर्य आपको प्रकाश दे रहा था। आप यहाँ हैं तब भी वह प्रकाश दे रहा है। आप चाहे देश में हों, चाहे विदेश में हों, चाहे बेहोशी में हों, चाहे होश में हो, सूर्य आपको प्रकाश देता ही रहता है। यद्यपि सूर्य के प्रकाश में और भगवान् की सहायता में बड़ा अन्तर है, फिर भी उपमा तो

सूर्य की ही देनी पड़ती है। आचार्य मानतुंग ने भी कहा है:—

सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके।

हे मुनीन्द्र! यद्यपि तुम्हारी महिमा सूर्य से बढ़कर है—अनन्त गुणी अधिक है, लेकिन उपमा तो सूर्य से ही देनी पड़ती है; क्योंकि विश्व के अन्य पदार्थों में उपमा के उपयुक्त कोई और पदार्थ नहीं दिखाई देता।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य सब जगह, बिना भेद-भाव के सभी को, बिना किसी चाह के, प्रकाश देता है; हे प्रभो! इसी प्रकार तू भी सदा, सब का, वीतराग-भाव से सहायक होता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा वीतराग है। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार वह अकर्त्ता है। तब परमात्मा को कर्त्ता माने बिना सहायक कैसे माना जा सकता है? अगर वह सहायक भी नहीं है, क्योंकि कर्त्ता नहीं है, तो उसकी यह स्तुति सच्ची कैसे हो सकती है?

भलीभाँति विचार करने से इस प्रश्न का सहज ही समाधान हो सकता है और प्रश्नकर्त्ता को ईश्वर के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान भी हो सकता है। ईश्वर कर्त्ता न होने पर भी किस प्रकार सहायक होता है, यह बात एक उदाहरण से मालूम हो जायगी।

एक बालक किसी पुस्तक के अक्षर देखकर अपने अक्षर वैसे ही बनाने का प्रयत्न कर रहा है। क्या पुस्तक के अक्षर उस बच्चे की सहायता करते हैं?

'हाँ !'

बच्चा उस पुस्तक के अक्षरों पर ध्यान देकर वैसे ही अक्षर बनाने लगता है। जब वह ऐसा करते-करते कुशल हो जाता है तब स्वयं ही अक्षरों का कर्त्ता बन जाता है। उसे पुस्तक देखकर अक्षर लिखने की आवश्यकता नहीं रहती। यद्यपि पुस्तक के अक्षर जहाँ के तहाँ हैं, उन्होंने पुस्तक से उठ कर बालक की सहायता नहीं की है, तथापि बालक में वह सामर्थ्य था कि वह उन अक्षरों को देखकर—उन पर ध्यान देकर वैसे ही अक्षर बनाने लगा। इस अपेक्षा से वह अक्षर भी उस बालक के सहायक हैं। जब जड़ अक्षर भी बिना कुछ किये, बिना रागभाव धारण किये, सहायक हो सकते हैं, तो चिदानन्दमय वीतराग भगवान् अकर्त्ता होते हुए भी आत्मा के सहायक क्यों नहीं हो सकते ?

हाँ, परमात्मा को दाल-रोटी बनाने वाला या कुँभार के समान मनुष्यों को घड़ने वाला कर्त्ता माना जाय तो कहना होगा कि तुमने परमात्मा को पहचाना ही नहीं है। आशय यह है कि ईश्वर हमारे कल्याण में सहायक है, निमित्त कारण है, फिर भी वह कर्त्ता नहीं है। कर्त्ता ही निमित्त कारण हो या सब निमित्त कारण कर्त्ता ही कहलाएँ, ऐसा नियम नहीं है। सुन्दर अक्षरों का कर्त्ता बालक स्वयमेव है, फिर भी पुस्तक के अक्षर उसके सहायक हैं। इसी प्रकार परमात्मा कर्त्ता नहीं है फिर भी सहायक है।

हे प्रभो ! तुझ में सदा सहायक होने का गुण प्रकट हो गया

है। मुझे जितनी सहायता की अपेक्षा है उससे अनन्तगुणी शक्ति तुझ में प्रकट हो गई है। हे देव ! तू विकार-विहीन है, वीतराग है। तू ने अपने समस्त विकारों का विनाश कर डाला है। मोहनीय कर्म का समूल उन्मूलन करके राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, इसीसे तू मेरा सहायक है। मैंने संसार के सब सहायकों को देख लिया। सारा संसार छान डाला। लेकिन सच्चा सहायक कहीं न मिला। जो स्वयं अपनी ही सहायता नहीं कर सकता, वह मेरी क्या सहायता करेगा ? अतएव दुनिया में दर-दर भटक कर निराश हो आज तेरे द्वार पर आया हूँ।

भो ! टेढ़े-मेढ़े विषम मार्ग वाले संसार की घाटी से तेरे सिवा और कौन निकाल सकता है ? तेरी शक्ति अद्भुत है, तेरा प्रताप अनूठा है, तेरा प्रभाव निराला है। अगर मैं घोर निर्दय, दुष्ट के चक्कर में पड़ गया होऊँ और उस समय अगर तेरा कृपाकटाक्ष हो जाय तो वह घोर निर्दय दुष्ट भी मेरा मित्र एवं दास बन कर मेरी सेवा करने लग जायगा। ऐसा अपूर्व प्रभाव है तेरा !

भगवन् ! आप सदा सहायक हैं। विकट संकट के समय आपकी सहायता प्राप्त होती है; पर आपकी और राजा से प्राप्त होने वाली सहायता में अन्तर क्या है ? दुष्ट जनों द्वारा सताये जाने पर राजा से फरियाद की जाय और यदि राजा का अनुग्रह हो जाय तो वह उन दुष्टों को मेरे सामने झुका सकता है। उन्हें दण्डित करके मेरा दुःख दूर कर सकता है और मेरी

रक्षा कर सकता है। फिर आपकी सहायता में और राजा की सहायता में क्या अन्तर है ? या आपकी सहायता में क्या विशेषता है ? राजा तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है और कहता है—'मेरी शरण आओ। मैं तुम्हें कष्ट न होने दूंगा। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।' इतना सब-कुछ होते हुए भी मुझे राजा नहीं सुहाता—उसकी सहायता लेना मुझे नहीं भाता, और हे प्रभो ! आप, जो इन्द्रियों से अगोचर हैं, जो रक्षा का मौखिक आह्वान भी नहीं करते, मुझे सुहाते हैं। मैं आपके शरण आया हूँ। इसका कारण क्या है ?

प्रभो ! राजा मेरे शत्रुओं को मेरे सामने झुका सकता है, पर वह मेरे शत्रुओं का शत्रु-भाव नहीं छुटा सकता। वह उन्हें दण्डित करके शत्रुता की वृद्धि करता है और अनन्त वैर बढ़ाता है। जो लोग राज-दंड के भय से मेरी आधीनता स्वीकार करते हैं, उनकी आत्मा में मेरे प्रति तीव्र वैर उत्पन्न हो जाता है। वे सोचने लगते हैं—इसने राजा के भय से मुझे झुकाया है सही, पर अवसर मिलने पर मैं इसे नहीं छोड़ने का। मैं इसे और अगर हो सका तो राजा को भी झुकाऊंगा। इस प्रकार वैर का उपशमन न होकर वैर की परम्परा चल पड़ती है। किसी ने ठीक ही कहा है—

न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह पार्थिव !

अर्थात् हे राजन् ! वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते। जैसे रक्त से रक्त नहीं धुल सकता, वरन् उसमें अधिकता ही आती है, उसी प्रकार वैर से वैर बढ़ता है—घटता नहीं है।

जब ऐसी स्थिति है, राजा वैर का उपशमन नहीं कर सकता

बल्कि वह वैर को अनन्त गुणा बढ़ा देता है तो राजा की शरण जाने से क्या लाभ है ? मगर आपकी कृपा से जो वैरी झुकता है उसमें और मुझमें कोई भेद ही नहीं रह जाता। वह ऐसी स्थिति है जहाँ वह, मैं और साथ ही आप भी मिलकर सब एक हो जाते हैं।

मित्रो ! अपने-अपने शत्रु का नाश करना सभी को अभीष्ट है। सब की यही आकांक्षा रहती है कि हम अपने शत्रुओं का विनाश करें, उन पर विजय प्राप्त करें ! लेकिन कोई शस्त्र के बल से शत्रु का संहार करना चाहते हैं, कोई राजा के बल से, कोई बाहुबल से और कोई ईश्वर के बल से शत्रु को नष्ट करना चाहता है। मगर इन सब बलों में बड़ा अन्तर है। अन्यान्य बलों से शत्रु का नाश करने पर अनन्त शत्रुता की वृद्धि होती है और वह शत्रुता भविष्य में महान् दुःख का कारण होती है। मगर ईश्वर के बल से शत्रु का संहार करने पर न वैरी रह जाता है और न वैर ही रह पाता है। अगर आपको ईश्वर के बल का अवलम्बन लेना हो तो उस बल पर विचार करो। अगर आप अपने या राजा आदि के बल पर भरोसा रखते हैं तो फिर ईश्वरीय बल की शरण जाने का आपको अधिकार नहीं है। जब तक आप अपने बल पर विश्वास रखकर अहंकार में डूबे रहेंगे, तब तक ईश्वरीय बल नसीब न होगा। इसी प्रकार अन्य भौतिक बलों पर भरोसा करने से भी वह आध्यात्मिक ईश्वरीय बल आप न पा सकेंगे। अहंकार का सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग करके परमात्मा के चरणों में जाने से उस बल की प्राप्ति होती है।

सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम।

पिछली साख भरूं संतन की, आय सुधारे काम ॥ सुने री० ॥

सेठ सुदर्शन निर्बल होकर, धरा अखंडित ध्यान।

अर्जुनमाली देख थकित हो, पाया पूरण ज्ञान ॥ सुने री० ॥

इस प्रकार आप ईश्वरीय बल के ग्राहक बन कर, उसी पर अखंड श्रद्धा रख कर बल प्राप्त करो। राजा का बल पाकर के भी तुम शत्रु का नाश नहीं कर सकते। राजा के बल से न शत्रु का नाश होता है, न शत्रुता का संहार होता है। पिछले सन् १९१४ वाले महायुद्ध में, एक पक्ष की विजय हुई और दूसरे पक्ष का पराजय हुआ। कहने को तो युद्ध समाप्त हो गया, पर क्या वास्तव में ही वह समाप्त हो गया है? युद्ध की समाप्ति का अर्थ है, विरोधी पक्षों में मित्रता की स्थापना हो जाना—शत्रुता का समाप्त हो जाना। क्या आप सोचते हैं, महायुद्ध की समाप्ति के साथ लड़ने वाले दोनों पक्षों में मैत्री स्थापित हो गई है? उन्होने एक-दूसरे के प्रति शत्रुता का त्याग कर दिया है? मै कहता हूँ, हर्गिज ऐसा नहीं हुआ। बाहर का युद्ध सिर्फ भीतर चला गया है; पहले जो युद्ध-भूमि पर लड़ा जा रहा था वह अब विरोधी पक्षों के अधिकारियों के अन्तःकरण में लड़ा जा रहा है। इस समय सभी देश वाले यही सोच रहे हैं कि कब हमें अवसर मिले और कब पिछले महायुद्ध का बदला भँजाएँ। जो पराजित हुआ था वह विजेताओं को समूल नष्ट करने का उपाय खोज रहा है। सभी के अन्तःकरण आग से धधक रहे हैं। (पूज्यश्री ने सन् १९३१ में यह प्रवचन किया था। इस प्रवचन में उन्होंने अपनी तीव्र कल्पना शक्ति के द्वारा योद्धा राष्ट्रों की मनोवृत्ति का जो

चित्रण किया है, वह आज साक्षात् दिखाई पड़ रहा है। गत महायुद्ध में पराजित हुए जर्मन राष्ट्र ने अवसर देख कर उस समय के विजेता राष्ट्रों को नीचा दिखाने के लिए जो घनघोर और भीषण संग्राम आरंभ किया है, वह इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि राजबल से शत्रुता की वृद्धि ही होती है—विनाश नहीं होता। वर्त्तमान महायुद्ध, गत महायुद्ध की अपेक्षा अत्यन्त विनाशक, अत्यन्त व्यापक और अत्यन्त भीषण है। वह युद्ध सिर्फ पश्चिम में लड़ा गया था, यह समस्त संसारव्यापी है। पहिले युद्ध में आकाश में सुरक्षा थी, आज के युद्ध में जल, स्थल और नभ तीनों एकाकार हो गये हैं। पिछली बार सैनिक-नागरिक का भेद बहुत-कुछ विद्यमान था, आज सब को एक घाट पानी पिलाया जा रहा है। पिछली बार सैनिक साधनों का और स्थानों का ही संहार हुआ था, आज बड़े-बड़े प्राचीन नगर और सभ्यता के केन्द्र विध्वंस किये जा रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व आज एक बारूदखाना बन गया है। पूज्यश्री का विवेचन कितना तथ्य पूर्ण है, इसे पाठक स्वयं देखे। —संपादक)

संसार की सर्व-श्रेष्ठ शक्तियों ने, अपना सम्पूर्ण बल लगा कर युद्ध किया परन्तु फल क्या हुआ ?? क्या वैर का अन्त हुआ ? नहीं, बल्कि वैर की वृद्धि हुई है। भौतिक बल के प्रयोग का परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

केवल ईश्वर की ही ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा शत्रु भी नहीं रहता है और शत्रुता का भी नाश हो जाता है।

खल दल प्रबल दुष्ट अति दारुण,
जो चौतरफ करे घेरो ।
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी,
अरियन होय प्रकटे चेरो ।

यह अद्भुत शक्ति परमात्मा में ही है। आप यह न समझ लें कि शत्रु के आने पर परमात्मा का नाम ले लेने मात्र से शत्रु भाग जायगा, या मर जायगा। नहीं, यहाँ और ही कुछ अभिप्राय है। शत्रु किस प्रकार मर जाता है, यह बताने के लिए शास्त्र में वर्णित एक कथा उपयोगी होगी। उसे ध्यानपूर्वक सुनो और अपने जीवन में चरितार्थ करो तो आपका मनोरथ सफल हो जायगा।

राजगृह नगर में अर्जुनमाली, एक बगीचे में बागवानी का धंधा करता था। बागवानी का काम उसके यहाँ कई पीढ़ियों से चला आता था। जो मनुष्य अपना पीढ़ीजात धंधा करता है, उसका उस धंधे में गहरा और निराला ही अनुभव होता है। जो चलते रास्ते दूसरे के धंधे को उड़ा लेता है और अपना परम्परागत धंधा त्याग देता है, वह उस धंधे को हानि पहुँचाता है। वह परम्परागत व्यवसाय को भी क्षति पहुँचाता है और नवीन व्यवसाय को भी। इससे समाज में बड़ी गड़बड़ी मचती है और अव्यवस्था फैल जाती है। इसी कारण भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की गई थी और यह नियम बनाया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना परम्परागत व्यवसाय ही करना चाहिए। अगर कोई अपना व्यवसाय त्याग कर दूसरे के व्यव-

साय में हाथ डाले तो राजा को हस्तक्षेप करके उसे रोकना चाहिए। अगर ऐसा न किया जाय तो वर्ण-संकरता फैल जायगी।

> स्वां हि वृत्तिमतिक्रम्य, यस्त्वन्यां वृत्तिमुद्वहेत्।
>
> स पार्थिवैर्नियन्तव्यो, वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥

अर्थात् जो अपनी आजीविका छोड़ कर दूसरे की आजीविका—व्यवसाय-करे उसे राजा रोक दे, अन्यथा वर्ण-संकरता हो जाती है।

प्रत्येक व्यवसाय को उन्नत अवस्था में पहुँचाने के लिए प्राचीन काल में आजीविका संबंधी यह उपयोगी नियम बनाया गया था। आज राजाओं को इन बातों के विचार के लिए अवकाश नहीं है। इस संबंध में उनका कोई नियंत्रण भी नहीं है। अतएव आज धंधों की यह वर्णसंकरता बदलने के साथ चल रही है और प्रजा में मारामारी हो रही है।

अर्जुनमाली अकेला ही अपना काम नहीं करता था। उसकी पत्नी भी उसकी सहायता करती थी। आजकल की स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियों को बोझ रूप हो रही हैं। पहले की स्त्रियाँ ऐसी नहीं थीं—उनका ढंग कुछ और ही था। आज पुरुषों पर अपनी स्त्री की जोखिम बनी रहती है, और इसीलिए स्त्री, पुरुष के लिए भाररूप हो पड़ी है। पुरुषों को सदा ही यह चिन्ता लगी रहती है कि हमारी स्त्री की ओर कोई बुरी नजर से न देखे और उसका अपमान न करे। उसे कोई बदमाश उड़ा न ले जाय। इस स्थिति के लिए उत्तरदाता कौन है—पुरुषवर्ग या स्वयं महिला-समाज। मैं इस झंझट में पड़ना नहीं

चाहता। किसी समूह को अवांछनीय स्थिति में डालने वाला दूसरा समूह अगर दोषी हो तो भी अवांछनीय स्थिति में पड़ने वाले समूह को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। मगर इस अभियोग-प्रणाली को दूर रखकर मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि प्राचीन काल में महिला-समाज की ऐसी स्थिति नहीं थी। स्त्रियाँ, पुरुषों की अर्द्धांगिनी की हैसियत से उनकी सहायता किया करती थीं। वे न केवल व्यावहारिक कार्यों में ही, वरन् धार्मिक कार्यों में भी पुरुषों की सहायिका बनती थीं। उपासकदशांग सूत्र में स्त्रियों को 'धम्मसहाया' अर्थात् धर्म में सहायता पहुँचाने वाली कहा है। स्त्रियाँ वीरता में पुरुषों से किसी प्रकार हीन नहीं होतीं।

अर्जुनमाली की स्त्री का नाम बन्धुमती था। नगर में बड़ा उत्सव था। अतएव पती-पत्नी दोनों, कुछ रात रहते ही फूल चुनने के लिए बगीचे में जा चुके थे।

इसी नगर में ललित गोष्ठी के छह जवान लड़के बड़े गुंडे थे। इन्होंने पहले कोई ऐसा काम कर दिखाया था कि राजा इनके प्रति कृतज्ञ-से थे। अब वे भला-बुरा कोई भी काम करें उन्हें कोई रोकने वाला नहीं था। उनकी धाक नगर भर मे जम गई थी, अतएव किसी को बोलने का साहस भी नहीं होता था। यह गुंडे अपनी धाक का अत्यन्त अनुचित उपयोग करने लगे। कहा भी है—

> यौवनं धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता।
> एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्?॥

अर्थात्—यौवन, धन-सम्पदा, अधिकार और अविवेक-मूर्खता,

इनमें से एक भी महा अनर्थ करने वाला है। जहाँ यह चारो एकत्र होजाएँ वहाँ तो कहना ही क्या है ?

जवानी दीवानी होती है। यह युवक जवानी से मतवाले हो रहे थे। उनकी आँखों में मद छाया रहता था। इन्हे पहले अकेली जवानी का ही बल था, पर अब धन का भी बल मिल गया। अतएव उनमें ग्यारह गुणा उन्माद छा गया था।

जवानी कैसी अंधाधुंधी मचाने वाली है ? बैठे हुए भाईयों में जवानी की मदोन्मत्त अवस्था के कारण किसी प्रकार का कुकर्म न करने वालों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक होगी। जवानी के साथ धन मिल जाने से तो उसमें ग्यारह गुना उन्माद आजाता है।

कई भाई कहते हैं—जिनके पास धन नहीं होता वही आजीविका उपार्जन करने के लिए पापाचरण करते हैं। किन्तु मित्रो ! यदि आप धनिकों के पापों को और आजीविका के निमित्त पाप करने वालों के पापों को न्याय की तराजू पर तोलेंगे तो धनिकों के पापों का ही पलड़ा नीचा रहेगा। उन पापों की तुलना में गरीबों के पाप बहुत थोड़े-से मालूम पड़ेंगे। इससे यह आशय न निकालिए कि मैं यह कहना चाहता हूँ कि सभी धनवान् एक सरीखे होते हैं। अनेक धनाढ्य पुरुष चरित्रवान्, देशहितैषी और धर्म-रक्षक भी हुए हैं और अब भी हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। धन के गुलामों ने अपने आमोद-प्रमोद के लिए सम्पूर्ण देश को दरिद्र बनाने में काफी सहायता पहुँचाई है। जिन धनिकों में विवेक था उन्होंने ऐसे महत्वपूर्ण कार्य किये हैं;

जिनका इतिहास में सुवर्णाक्षरों में नाम लिखा है। उन्होंने डूबते देश को बचाया और नष्ट होते हुए धर्म की रक्षा की।

महाराणा प्रताप की सहायता करने वाले देशभक्त भामाशाह को कौन नहीं जानता ? भामाशाह ओसवाल जाति का महाजन था। जिस समय महाराणा प्रताप अपनी प्राणप्रिय मेवाड़ भूमि का परित्याग कर सिंध की ओर जाने की तैयारी में थे, उस समय जंगल में भामाशाह ने पीछे से 'घणी खमा' कह कर महाराणा का ध्यान अचानक ही अपनी ओर आकर्षित किया। महाराणा ने पीछे की ओर मुड़ कर देखा तो चार-पाँच मजदूरों के सिर पर बड़े-बड़े गठड़े लादे हुए भामाशाह दिखाई दिये। महाराणा ने सोचा—शायद भामाशाह प्रधान मुझ से अन्तिम भेंट करने आया है।

भामाशाह—(महाराणा के चरणों में झुक कर) अन्नदाता कहाँ पधार रहे हैं ?

उदासी के साथ राणा बोले—भामा, मेरे पिताजी ने सिर्फ चित्तौड़ छोड़ा था, पर मैं ऐसा कुलकलंक निकला कि सम्पूर्ण मेवाड़ को छोड़े जाता हूँ।

भामाशाह—आप सदृश प्रतापी पुरुषों को यह उदासीनता शोभा नहीं देती। आप सरीखे नरवीर क्षत्रिय ही यदि उदास हो जाएँगे तो दूसरों का क्या हाल होगा ?

राणा—भामा, मेवाड़ का सौभाग्य-सूर्य अब अस्त होने वाला है।

भामा—नरकेशरी, ऐसा न कहिए। मेवाड़ के सूर्य को

मेघों ने अवश्य घेर लिया है पर मेघ हटेंगे और सूर्य अपनी प्रखर किरणों के साथ फिर पहले की भाँति चमक उठेगा। (गठड़ों की ओर इशारा करके) यह आपके चरणों में समर्पित हैं। जिस प्रकार चाहें, उपयोग कीजिए।

राणा—(गठड़ों में आटा दाल आदि भोज्य सामग्री समझ कर) भाई भामा, यह हमारे काम का नहीं। अब वन के फल-फूल ही हमारा भोजन है।

भामाशाह ने गठड़े खोले और हीरों-पन्नों के ढेर महाराणा के चरणों में लगा दिये।

राणा—यह किस लिए ?

भामा—क्षत्रियकुलभूषण, इस तुच्छ भेंट से मेवाड़ का उद्धार कीजिए।

इस प्रकार भामाशाह के धन से डूबती हुई मेवाड़ की नाव बच गई। सचमुच धनवान् लोग देश की रक्षा भी कर सकते हैं, पर विवेक हो तभी। अविवेकी धनी, देश का महान् शत्रु होता है।

यह छहों युवक विवेकहीन थे। धन और यौवन की शक्ति उनके पास थी ही; जब उनके हाथ में अधिकार की शक्ति भी आ गई तो उनका मदोन्माद एक सौ ग्यारह गुना बढ़ गया। पहले तो एक और एक मिल कर ११ हुए और बाद में अधिकार की इकाई मिल जाने से १११ (एक सौ ग्यारह) का अंक बन गया।

यह उन्मत्त युवक नगर में भीषण तहलका मचाए हुए थे।

किसी की वहू-वेटी की मान-मर्यादा मिट्टी में मिला देना उनके बाएँ हाथ का खेल था।

मित्रो ! पर-स्त्री की ओर कुदृष्टि रखने वाला लुच्चा-गुंडा कहलाता है। क्या आप उसे धिक्कार न देंगे ?

'देंगे !'

मगर देखना, यह धिक्कार कहीं तुम्हारे ऊपर ही न आ पड़े।

पर-स्त्री पर इस प्रकार का अत्याचार करने वालों के प्रति राजा और प्रजा का कर्त्तव्य क्या होना चाहिए; जो इस तथ्य को नहीं जानते उन्हें भीषण दुःख का सामना करना पड़ता है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ॥

हे अर्जुन ! तुम नपुंसक मत बनो—यह हीजड़ापन तुम्हें नहीं शोभता। हृदय की तुच्छ दुर्बलता त्यागो और धर्मयुद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

मित्रो ! अर्जुन के अपने अधिकार का त्याग कर देने पर कृष्णजी इतनी फटकार बताते हैं और युद्ध के लिए उत्साहित करते हैं; तो परस्त्रीगामी, शील-धर्म का संहार करने वाले, नीच पुरुषों की नीचता का नाश करने के विषय में उनका क्या आदेश हो सकता है ? इस बात पर विचार कीजिए। वास्तव में परस्त्रीगामी पुरुष नीच से नीच हैं और देश में पाप का खप्पर भरने वालों में अगुवा हैं। ऐसे दुष्ट लोग अपना ही नाश नहीं करते वरन् सरों का भी सत्यानाश करते हैं। इन हत्यारों की

रोमांचकारिणी करतूतों को सुनकर हृदय थर्रा उठता है। दुनिया की अधिकाश बीमारियाँ फैलाने वाले यही रोग-कीटाणु हैं।

शहर में प्लेग के थोड़े-से केस हो जाते हैं तो सारा शहर खलबला उठता है। सब लोग अपने-अपने बचाव का उपाय सोचने लगते हैं। पर मैं कहता हूँ, प्लेग तो थोड़े आदमियों का, प्रकट रूप से नाश करता है; किन्तु ये व्यभिचारी, गुप्त संक्रामक रोग के विषैले कीड़े सारे देश को अपना शिकार बनाये हुए हैं। इनसे बचने का उपाय, सब को और सब से पहले सोचना चाहिए। जो पुरुष इनसे बचेगा उसकी देवता भी सेवा करेंगे।

प्रसंग पाकर मैं अपनी बहिनों से भी कुछ कह देना चाहता हूँ। बहिनों, स्मरण रखना तुम जगत् की जननी हो, संसार की शक्ति हो। तुम माता हो। जगत् तुम्हारे सद्गुणरूप सौरभ से सुरभित है। तुम्हीं समाज की पवित्रता और उज्ज्वलता कायम रख सकती हो। तुम्हारी पूर्ववर्त्तिनी महासतियाँ किससे शोभा पाती थीं? महाशीलव्रत से ही। आप सोना पहनती हैं सो इसे तांबा न बनाना। तुम्हारे शील पर, तुम्हारे कुल-धर्म पर, तुम्हारे जातिधर्म पर किसी प्रकार का धब्बा न लगने पावे। तुम ऐरों-गैरों के चक्कर में न पड़ जाना। मगर यह सब कब होगा? सादगी धारण करने पर। बनाव-सिंगार करना तुम्हारा काम नहीं है। शील के समान दिव्य आभूषण तुम्हारी शोभा बढ़ाने के लिए काफी है। फिर तुम्हें और आभूषणों का लालच रखने की क्या आवश्यकता है? आत्मा की आभा बढ़ाओ। मन को उज्ज्वल करो। हृदय को पवित्र भावनाओं से अलंकृत करो।

इस मांस के पिंड शरीर की सजावट में क्या पड़ा है ? शरीर का सिंगार आत्मा को कलंकित करता है। अगर तुम अपना सारा शरीर भी हीरों और पन्नों से मढ़ लोगी, तो भी तुम्हारी कोई पूजा न करेगा। तुम्हारी सच्ची महत्ता और पूजा शील से होगी।

आपमें कई बहिनें ऐसी निकलेंगी जिन्होंने लगातार अट्ठाईस दिन तक उपवास-तपस्या की होगी। पर सादगी और संयम को धारण करके देश, जाति और धर्म को उन्नत करने वाली कितनी मिलेंगी ? बहिनो ! रात-दिन मखमल के बिछौनों पर विश्राम करने वाली और अप्सराओं-सा शृंगार करने वाली तुम्हारी कई बहिनें, ममता का त्याग करके, फैशन के भूत से अपना पिण्ड छुड़ाकर, आज अपने हाथों से या गरीबों के हाथों से बुनी हुई खादी धारण कर रही हैं। ओ बड़ी-बड़ी तपस्या करने वाली बहिनों ! क्या आप धर्म के नाम पर, संयम के नाम पर और देश के नाम पर अपनी यह लटपट कम न करोगी ?

मैं कह चुका हूँ कि राजगृह नगर में छह युवक सांड की तरह मदोन्मत्त होकर घूमते थे। प्रकृति का नियम है कि किसी-किसी पाप या पुण्य का फल सारी प्रजा को भुगतना पड़ता है।

नगर-निवासियों ने ही अपनी मूर्खता के कारण उन्हें यह अधिकार दे दिया था कि वे चाहें सो करें; उन्हें किसी प्रकार का दंड नहीं मिलेगा। परन्तु इन युवकों के पाप का घड़ा भर गया था और फूटना ही चाहता था। इसलिए यह युवक अर्जुनमाली के बगीचे में पहुँचे। यह लोग अर्जुनमाली के पहुँचने से पहले ही वहाँ जा धमके थे। जब अर्जुन ने अपनी स्त्री के साथ

बगीचे में प्रवेश किया, तब इनमें से एक की दृष्टि उसकी स्त्री पर पड़ी। उसे देखते ही उनके हृदय में दुर्वासना उत्पन्न हुई और वे किवाड़ों के पीछे छिप गये। जब अर्जुनमाली अपनी स्त्री सहित यक्ष को वन्दन करने लगा तभी, उन्होंने उसे पकड़ कर बाँध लिया।

इन पापियों ने अर्जुन माली के सामने ही उसकी स्त्री का सतीत्व भंग किया। स्त्री कुछ न बोली। जो स्त्री अपने सतीत्व को हीरे से बढ़ कर समझती है, उसकी आँखों में तेज का ऐसा प्रकृष्ट पुंज विद्यमान रहता है कि उसका सामना होते ही पापी की निर्बल आत्मा थर-थर काँपने लगती है। पर खेद, इस स्त्री ने अपने सतीत्व का जरा भी मूल्य न समझा।

अपनी आँखों के आगे, अपनी पत्नी का यह व्यवहार देख कर अर्जुन माली क्रोध से तिलमिला उठा। उसका समस्त शरीर गुस्से से जलने लगा। असह्य क्रोध से वह अपना सिर धुनने लगा। पर वह विवश था—बन्धनों में जकड़ा हुआ।

यह घटना यक्ष के मन्दिर पर घटी थी। अर्जुन माली इस यक्ष का बड़ा भक्त था। उसके पूर्वज भी यक्ष की पूजा करते आये थे। आज अर्जुन माली ने यक्ष से प्रार्थना की—'हे यक्ष! हम तुम्हे कई पीढ़ियों से पूजते आते हैं। क्या उसका प्रतिफल मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा? इस महान् संकट-काल में भी तुम मेरी मदद न करोगे? अगर अब काम न आये, तो कब आओगे?

अर्जुन माली के हृदय की पुकार यक्ष ने सुनी। वह प्रकट हुआ और अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसके बंधन

तड़ातड़ तड़क गये। यक्ष की मूर्ति के हाथ में एक बड़ा भारी मुद्गर था। अर्जुन माली ने बन्धनमुक्त होते ही मुद्गर उठाया और उन छहों मदोन्मत्त युवकों को और अपनी स्त्री को यमलोक पहुँचा दिया। पाप का घड़ा फूट पड़ा।

शरीर में यक्ष के प्रवेश से अर्जुन माली में अपार बल आ गया था। वह क्रोध से पागल हो उठा। जिस नगर-निवासी पर उसकी दृष्टि पड़ती थी, उसी को बिना मारे वह नहीं रहता था। उसके मन में यह संस्कार सुदृढ़ हो गया था कि इन युवकों को सांड बनाने वाले यह नगर-निवासी ही हैं। यह लोग उन्हें आसमान पर न चढ़ाते, तो उनकी क्या मजाल थी कि वे इतना अत्याचार अनाचार करते?

अर्जुन माली के इस राक्षसी व्यवहार की खबर बिजली की तरह सारे राजगृह में फैल गई। राजा श्रेणिक के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। श्रेणिक ने, शहर के बाहर न निकलने की आज्ञा घोषित कर दी। यह आज्ञा भंग करने पर अगर अर्जुन माली किसी का वध कर डाले तो हमारा उत्तरदायित्व नहीं है, यह भी सर्वसाधारण को सूचित कर दिया।

राजा की और नगर-निवासियों की कितनी कायरता है! इस कायरता ने ही उनके दुःखों की वृद्धि की। अगर उन्होंने कायरता न दिखाई होती और बहादुरी से योग्य प्रतीकार करते तो उन्हें इतनी मुसीबत न भोगनी पड़ती। पर प्रकृति यहाँ तो कुछ और ही खेल दिखाना चाहती थी। सुदर्शन की भक्ति की शक्ति का परिचय कराना था।

पाँच महीने से कुछ अधिक समय तक अर्जुन माली नागरिकों को कष्ट पहुँचाता रहा। यह उनकी कायरता का प्रायश्चित्त था।

संयोगवश इसी समय भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के बाहर एक उद्यान में पधारे। नगर-निवासियों ने भगवान् के पधारने का वृत्तान्त सुना, पर अर्जुनमाली के भय से कोई बाहर न निकला।

सुदर्शन भगवान् का अनन्य भक्त था। उसने भगवान् के पधारने का संवाद सुना। उसे बिना भगवान् के दर्शन किये चैन नहीं पड़ा। वह प्रभु-दर्शन के लिए माता-पिता की आज्ञा से जाना चाहता था। माता-पिता ने उसे बहुत-कुछ समझाया—'बेटा! तेरे न जाने से कुछ हानि न होगी। तेरा वहाँ काम क्या अटका है? नगर की चिरैया बाहर नहीं जाती, तो तू ही क्यों जाता है?'

लेकिन सुदर्शन डरपोक नहीं था। वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहा और प्रभु के दर्शन के निमित्त घर से निकल पड़ा। नगर की हवेलियों की छतों पर बैठे हुए नर-नारियों के समूह सुदर्शन को देख रहे थे। उनमें से कोई उसे जाने मे रोकता था और कोई कहता था—देखो, इसे मौत लिये जा रही है। शहर का कोई बच्चा तो बाहर नहीं निकलता और यह 'भगतराज' बनने चले हैं!' दूसरा कोई कहता—'अजी, जाने भी दो, हमारा क्या लिया? बच्चू जाते हैं पर लौट कर नहीं आने के। अर्जुनमाली देखेगा तो मुद्गर की मार से चटनी बना डालेगा। तब पता

चलेगा, भक्ति कैसी होती है ! भगवान् तो ज्ञानी हैं। वे घट-घट की बात जानते हैं। घर में बैठा-बैठा वन्दना कर लेता तो क्या वे स्वीकार न करते ?'

सुदर्शन सब बातें सुनी-अनसुनी करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता था। उसने क्रमशः नगर को पार किया और बाहर हो गया। नगर के बाहर अर्जुन मौजूद था। महाविकराल रूप, लाल-लाल आँखें और मुद्गर हाथ में पकड़े हुए वह तैयार था। उसका रूप इतना डरावना था कि नजर पड़ते ही धैर्यवानों की भी छाती थरथरा उठे ! परन्तु वीर सुदर्शन निर्भय होकर आगे बढ़ता चला जाता था।

अर्जुनमाली ने दूर से सुदर्शन को देखा तो उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। वह मन में सोचने लगा—'अब मिला है शिकार ! आने दूं कुछ और निकट, तब अपनी प्यास बुझाऊँगा।'

सुदर्शन अपनी मस्तानी चाल से चलता जा रहा था। उसकी चाल देख कर अर्जुनमाली सोचने लगा—'इसकी चाल में इतना घमंड छिपा है ! जान पड़ता है, बड़ा अकड़बाज़ है ! अरे, इसने मुझे देख लिया है फिर भी इसके पैर ढीले नहीं पड़े। इसके चेहरे पर भय का भाव ही नहीं दिखाई देता ! अ.....अब इतने निकट आ गया है—फिर भी वही चाल, वही अकड़, वही मस्ती !'

अब अर्जुन से न रहा गया। उसने ललकार कर कहा—'ओ जाने वाले !'

उत्तर में सुदर्शन कुछ न बोला। वह मौन था।

अर्जुनमाली मन ही मन विचार करने लगा—'इसकी मुख-मुद्रा पर जरा भी भय का आभास नहीं है ! पहले तो कोई ऐसा नहीं मिला । जो सामने आते थे वही गिड़गिड़ा कर प्राणों की भीख माँगने लगते थे, पर यह तो अद्भुत व्यक्ति है !'

अर्जुन माली ने रास्ता रोक दिया ।

सुदर्शन ने भीषण संकट आया देखा, तो उसी समय भूमि का प्रमार्जन किया, आसन बिछाया और भगवान् को वन्दना करके १८ पापों का परित्याग किया । उसने प्रतिज्ञा की—यदि मैं इस संकट से बच जाऊँगा तो मेरी जैसी पूर्व क्रिया है, वैसी ही रक्खूंगा । इस संकट से पार न हो सका तो अब से महाव्रत धारण करता हूँ ।

सुने री मैंने निर्बल के बल राम

संसार में निर्बलों के सच्चे बल राम ही हैं । इस बल के सामने तलवार का बल नगण्य-नाचीज बन जाता है ।

सुदर्शन ने अहंकार त्याग दिया । वह पाषाण-मूर्त्ति की भाँति अचल होकर ध्यान में बैठ गया । यह देख कर अर्जुन माली और भी क्रुद्ध हो गया । प्रहार करने के लिए उसने अपना मुद्-गर ऊपर उठाया !

अनेक नगरनिवासी अपने मकानों की छतों से यह दृश्य देख रहे थे । उनमें जो प्रभु के भक्त थे, वे सोच रहे थे—'प्रभो ! सत्य की रक्षा करना । सुदर्शन सत्यभक्त है, सत्याग्रही है । इस समय केवल आपका ही सहारा है । कहीं ऐसा न हो कि आपके भक्त की पत जाय !'

इसके विपरीत कई क्षुद्राशय पुरुष ऐसे भी थे जिन्हें अपने आपको भविष्यभाषी सिद्ध करने का प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो गया था ! वे कह रहे थे—'देखो, हमने पहले ही कह दिया था कि नहीं ? उसे समझाया था कि मत जा भाई, अर्जुनमाली देख पाएगा तो मुद्गर की मार से चूर्ण बना डालेगा ! अब देखो, मुद्गर तान कर सामने अर्जुनमाली खड़ा है । सिर पर पड़ने की ही देर है । मेरा कहना कितनी जल्दी सच सिद्ध हो रहा है !'

पर यहाँ तो निर्बल का बल राम था । अगर राम (आत्मा) का बल प्रबल न होता तो जगत् में सत्य की प्रतिष्ठा किस पर होती ? धर्म की स्थिरता किस आधार पर होती ?

अर्जुन माली ने मुद्गर उठाया । वह ऊपर उठ तो गया मगर नीचे न आ सका । अर्जुन ने पूरी ताकत लगाई, पर मुद्गर स्तंभित हो गया था । सुदर्शन पर प्रहार न हो सका । अर्जुन तिलमिला उठा था; पर विवश था ।

इधर सुदर्शन की तरफ़ देखो । उसकी आँखों से अमृत बरस रहा है ।

अर्जुन माली ने तीन बार पूरी शक्ति लगाई । उसके हाथ नीचे की ओर रंच मात्र नहीं झुकते थे । यह अद्भुत अवस्था देखकर अर्जुन माली हैरान था । वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा चुका पर तनिक भी सफलता न मिली । अन्त में वह परास्त हो गया । उसने सुदर्शन की ओर कातर दृष्टि से देखा । सुदर्शन ने भी अपनी सुधामयी दृष्टि से उसे देखा । जैसे ही उस पर सुदर्शन की नजर पड़ी, त्यों ही यक्ष उसके शरीर से

निकल कर भाग गया। अर्जुन माली अशक्त होकर धमाड़ से धरती पर गिर पड़ा।

अर्जुनमाली की यह अवस्था देख सुदर्शन ने अपनी निश्चलता भंग की। वह उठा और अर्जुन के पास जाकर, उसके शरीर पर स्नेहपूर्ण हाथ फेर कर बोला—भाई, तुम्हें कष्ट हो रहा है! जी अच्छा तो है न?

अर्जुन—तुम कौन हो?

सुदर्शन—मैं श्रमणोपासक हूँ।

साधुओ और साध्वियो, आपके उपासक शिष्य भी पहले कैसे होते थे? आपके शिष्यों में ऐसी शक्ति हो तो आपमें कितनी होनी चाहिए? आज हम साधु इतना उपदेश देते हैं पर जितनी सफलता मिलनी चाहिए—श्रोताओं पर जितना गहरा प्रभाव पड़ना चाहिए, उतनी सफलता नहीं मिलती—उतना प्रभाव पड़ता दृष्टिगोचर नहीं होता। यह हमारे आत्मिक बल की न्यूनता है। जिस दिन हममें विशिष्ट आत्मज्योति प्रकट हो जायगी, उस दिन हमारे श्रोताशिष्य हमारे इशारे से काम करने लगेंगे। फिर इतने लंबे भाषण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

मित्रो! सुदर्शन ने अपने राम पर भरोसा रक्खा, इसी कारण उसे लोकोत्तर विजय मिली। आप सुदेव और सुगुरु पर विश्वास करेंगे तो आपकी आत्मा में भी ऐसी ही दिव्य शक्ति फूट पड़ेगी।

कहते लज्जा आती है कि आप भगवान् महावीर के शिष्य होकर कुदेव और कुगुरु को पूजते फिरते हैं! आप भैरों और

भोपों के आगे भटकते और सिर रगड़ते हैं। ऐ रोने वालो! कहीं रोने से भी बेटा मिलता है? तुम महा-वीर के शिष्य हो, तुम में वीरता होनी चाहिए। उस वीरता की जगह तुममें नपुंसकता आ गई है। क्या इसी नपुंसकता के बल पर धर्म को दिपाओगे? तुम अहिंसा के परम सिद्धान्त को मानते हो, फिर भी जहाँ बकरे काटे जाते हैं, अन्य पशुओं का क्रूरतापूर्वक वध किया जाता है, मदिरा की बोतलें उड़ेली जाती हैं, वहाँ जाकर शीश झुकाते हो? शर्म!

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—जो देवताओं को पूजते हैं वे देवों के पास और भूतों को पूजनेवाले भूतों के पास जाते हैं।

सुदर्शन को सच्चा उपदेश लगा था। उसने देव की आराधना की थी और अर्जुनमाली ने यक्ष की। यक्ष की शक्ति तामसी होती है, दुःखजनक होती है! इसके विपरीत देव की शक्ति सात्विक, शान्त और सुखप्रद होती है।

अर्जुन माली की शक्ति सुदर्शन की शक्ति के सामने परास्त होगई। जनता यह अद्भुत चमत्कार देखकर चकित रह गई। भविष्यवक्ताओं के मुख मलीन से हो गये और धर्मनिष्ठ पुरुषों के प्रमोद का पार न रहा।

जब भक्तवर सुदर्शन भगवान् के दर्शन करने जाने लगा तो अर्जुनमाली ने भी दर्शनार्थ चलने की उत्सुकता प्रकट की। सुदर्शन ने प्रसन्नतापूर्वक उसे अपने साथ लिया। इस अनूठी जोड़ी को देख कर लोग दाँतों तले उँगली दबाने लगे। किसी-किसी ने कहा—हम तो समझ रहे थे, सुदर्शन चूर-चूर हो जायगा पर अर्जुनमाली तो उसका शिष्य बन गया है!

मित्रो ! यह वृत्तान्त सिर्फ सुनने के लिए नहीं है। इसे तुम भी अपने जीवन में उतारना। सुदर्शन की भाँति पापी मनुष्य को अपनाना सीखो। पापी के पाप का क्षय करने का यही उपाय है। पापी से घृणा करके, उसे अलग रक्खोगे, तो उसके पाप का अन्त आना कठिन है। अगर उसे आत्मीय भाव से ग्रहण करोगे तो उसका सुधार होना सरल होगा। चाहे कोई ढेढ़ हो, चमार हो, कसाई हो, कैसा भी पापी क्यों न हो, उसे सम्मान-पूर्वक धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। सुदर्शन के चरित से पतितों को दुरदुराने का त्याग करना सीखना चाहिए।

सुदर्शन अर्जुनमाली को साथ लेकर प्रभु महावीर के पास गया। सुदर्शन ने विधिपुरस्सर वन्दना-नमस्कार कर भगवान् के प्रति अपना भक्तिभाव प्रगट किया। अर्जुनमाली ने भी सुदर्शन का अनुकरण किया।

अर्जुन माली को संसार के प्रपंचो मे घृणा होगई थी। भगवान् का प्रभावशाली उपदेश सुन कर उसकी वह घृणा अधिक चढ़ गई। वह विरक्त हो गया। उसने महावीर स्वामी से मुनि-धर्म की दीक्षा अंगीकार की।

दीक्षित होने के पश्चात्, मुनि के रूप में, अर्जुन माली भिक्षा के निमित्त नगर में आया। अज्ञान जन उसे देख कर क्रोधित होने लगे। कोई कहता—'हाय ! इसी दुष्ट ने मेरे पुत्र का घात किया था।' इसी प्रकार विभिन्न लोग अपने-अपने सम्बन्धियों का स्मरण कर उसकी भर्त्सना करने लगे। किसी-किस ने तो उ।

पर प्रहार भी किये। किसी ने थप्पड़ मारा, किसी ने घूंसा जमाया, किसी ने लकड़ी लगाई, किसी ने केवल गालियाँ देकर ही सन्तोष कर लिया।

मगर अर्जुनमाली पर इन सब व्यवहारों का मानो कुछ भी असर नहीं पड़ रहा था। वह पहले की ही भाँति शान्त और गंभीर था। जब कोई उसके शरीर पर प्रहार करता तो वह उस दंड को अत्यल्प समझता और सोचता—मैंने इसके संबंधी का वध किया था। उसका यह बदला तो बहुत थोड़ा ले रहा है! यह लोग मुझे बहुत सस्ते में निवटा रहे हैं!

अर्जुनमाली ने इसी उत्कृष्ट क्षमा-भावना के साथ शरीर का सदा के लिए त्याग किया और सिद्ध अवस्था प्राप्त की।

मित्रो! इस कथानक को सुन कर आप छह युवकों और सातवीं स्त्री के वध को ही पाप समझते होंगे। भला पाप को पाप कौन न समझेगा? पर महाभारत में मैंने देखा है कि जो पुरुष शक्ति होते हुए भी अपने सामने अपराध होने देता है, जो अपराध का प्रतीकार नहीं करता, वह अपराध करने वाले के समान ही पापी है।

मैं यह कह रहा था कि शत्रु को तोप-तलवार से मारने का प्रयत्न करना निरर्थक है। इससे शत्रुता की वृद्धि होती है। शत्रु को मारने का अमोघ उपाय कुछ और ही है। वह उपाय क्या है, यह बात सुदर्शन की कथा से आप समझ गये होंगे। सुदर्शन जब घर से निकला तो उसने समझ लिया था कि शरीर स्वभावतः नाशशील है। इसका नाश होना

ध्रुव है। ऐसी अवस्था में यदि भगवान् की सेवा के लिए, सत्य और धर्म की महिमा प्रकट करने के लिए इसका उत्सर्ग करना पड़े तो इससे उत्तम इस शरीर का और क्या उपयोग हो सकता है ? वस्तु का नष्ट होना जब निश्चित हो तो उसका वहाँ नाश होने देना चाहिए जहाँ उत्तम बदला मिलता हो। किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि—

वर्षा ऋतु में एक बार अकबर बादशाह अपने महल में सो रहा था। वर्षा की अधिकता के कारण यमुना नदी में जोर का पूर आया। यमुना की घर्र-घर्र की ध्वनि से बादशाह की नींद टूट गई। बादशाह ने पहरेदार को बुला कर पूछा—यमुना क्यों रो रही है ?

पहरेदार—जहाँपनाह, इतनी बुद्धि मुझ में होती तो मैं सिपाही क्यों बना रहता ? वजीर न बन जाता ?

बादशाह—हाँ ठीक है। जाकर वजीर को बुला लाओ।

पहरेदार वजीर को बुलाने गया। वजीर सो रहे थे। सिपाही ने आवाज लगाई। वजीर की नींद खुली। उसने पूछा—क्या मामला है ?

सिपाही—जहाँपनाह आपको याद फरमा रहे हैं।

वजीर—क्यों ? इस वक्त किसलिए ?

सिपाही ने सारा वृत्तान्त उसे बता दिया। रात का समय था। वर्षा हो रही थी। घोर अन्धकार छाया हुआ था। पर वजीर विवश थे—बादशाह की हुक्म-उदूली कैसे की जा सकती थी ? अतएव इच्छा न होने पर भी उसे बादशाह के पास जाना पड़ा।

यथोचित शिष्टाचार के पश्चात् वज़ीर ने अपने को बुलवाने का कारण पूछा। बादशाह ने वज़ीर से वही प्रश्न पूछा—यमुना नदी क्यों रो रही है ?

वज़ीर ने उत्तर दिया—जहाँपनाह, यमुना हिन्दुस्तान की नदी है। हिन्दुस्तान की नदी होने के कारण वह भी हिन्दुओं की रीति-भाँति का पालन करती है। हिन्दुओं में रिवाज है कि लड़की जब पीहर से अपने ससुराल जाती है तब रोती जाती है। यमुना भी अपने पीहर से ससुराल जा रही है, इसलिए रोती जा रही है। इसका पीहर वह हिमालय पहाड़ है, जहाँ से इसका उद्गम हुआ है और सुसराल समुद्र है।

वजीर की यह व्याख्या बादशाह को पसन्द आई। उसने वज़ीर को जाने की इजाजत दी।

वज़ीर घर जाने के लिए रवाना हुआ। रास्ते में किसी घर में एक बूढ़ा ज़ोर-ज़ोर से रो रहा था। वज़ीर ने उसका रोना सुनकर सोचा—नदी का चढ़ना और बादशाह का मुझे बुलाना इसी बूढ़े के निमित्त हुआ जान पड़ता है। अगर मैंने इसका रोना सुन करके भी इसका दुःख दूर न किया तो मेरी वजारत को और साथ ही आदमियत को धिक्कार है।

जिस घर में बूढ़ा रो रहा था, उस घर का नंबर नोट करके वज़ीर अपने घर चला गया। बूढ़े का रोना रात भर वज़ीर के दिल में काँटे की तरह चुभता रहा। वह सोचता रहा—कब सुबह हो और बूढ़े का दुःख दूर करूँ।

प्रातःकाल होते ही वजीर ने बूढ़े को बुला लाने के लिए

आदमी भेजा। वजीर का बुलावा सुनते ही बूढ़ा बुरी तरह घबराया। सोचने लगा—यह और नई मुसीबत कहाँ से आ पड़ी। परन्तु वह वजीर के आदमी के साथ हो लिया और वजीर के घर जा पहुँचा।

वजीर ने बूढ़े से पूछा—चाचा, रात को रोते क्यों थे? सच बताओ?

बूढ़े ने जवाब दिया—हुजूर, मैं कारीगर हूँ। जवानी में मैं रफू करने का काम करता था और काफी कमा लेता था। पर जो कमाता था, सब खर्च देता था-बचत नहीं करता था। उस समय बचत की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती थी। जवान लड़का था—सोचा था बुढ़ापे में वह कमाएगा और मैं बैठा-बैठा खाऊँगा। इस प्रकार बेफिक्री में अपना समय गुजार रहा था कि अचानक मेरा जवान बेटा चल बसा। मैं पापी बैठा रहा। अब हाथ-पैर थक चुके हैं। काम होता नहीं और गुजर करने को फूटी कौड़ी पास में नहीं है। जिंदगी में कभी भीख नहीं मांगी-भीख मांगने का इरादा करते ही शर्म से गड़ जाता हूँ। इसी मुसीबद के मारे रात को रोना आ गया था।

मित्रो! किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति पर जब आर्थिक संकट आकर पड़ता है तब उस पर क्या बीतती है, इस घटना से यह जाना जा सकता है।

बूढ़े की कैफियत सुन कर वजीर ने कहा—तुम अब भी रफू करना जानते तो हो न?

बूढ़ा—जी हाँ, जानता क्यों नहीं, पर हाथ काँपता है।

वजीर—कोई हरकत नहीं। मैंने तुम्हें अपना चचा बना लिया है। अब रोने का कोई सबब नहीं।

यह कहकर वजीर ने बूढ़े को कुछ इनाम देकर विदा किया।

कई लोगों में यह प्रथा है कि जिसके घर कोई मर जाता है, उसके यहाँ जीमने बैठते हैं और वह जीमनवार एक ऐसी प्रथा बन गई है कि उसे किये बिना जाति में प्रतिष्ठा कायम नहीं रह सकती। जीमनवार में बैठ कर भोज्य सामग्री की प्रशंसा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक भोजन किया जाता है। क्या यह मृत्यु का अनुमोदन करना नहीं है ? इस विषय में भी एक दृष्टान्त है।

एक बाबाजी थे। वे भीख माँग कर खाया करते थे। एक दिन वे भीख माँगने के लिए निकले। किसी गृहस्थ ने उनसे निवेदन किया—बाबाजी, आज यहीं बैठकर भोजन कर लीजिए।

बाबाजी भोजन करने बैठ गये। गृहस्थ ने बड़े प्रेम से खीर, मालपुवा आदि खिलाये। बाबाजी जीमकर बहुत प्रसन्न हुए। तदनन्तर उन्होंने उस गृहस्थ से पूछा—रोज मैं घर-घर माँगता फिरता था, तब भी पेट नहीं भरता था। आज तुम अकेले ने ही भरपेट जिमा दिया, इसका क्या कारण है ?

गृहस्थ ने कहा—महाराज, गाँव के पटेल को साँप ने डँस लिया था। वह मर गया। उसके उपलक्ष्य में आज जाति का जीमनवार था, इसलिए आपको भी जिमा दिया।

बाबाजी बोले—इसमें तुम्हारा क्या अहसान है ?

बलिहारी उस परड़ की, पटेल को खाया।
नाति भी जीमी और हम को भी जिमाया।

मृतक-भोजन करने वाले, बाबाजी की तरह क्या मृत्यु का अनुमोदन नहीं करते हैं ? मृतक-भोज जीमने वाले अनेक लोग व्यक्त या अव्यक्त रूप से यह मानते ही होंगे कि—कोई मरे और मुझे भोजन मिले !

हाँ, तो वजीर ने उस बूढ़े को रुपये देते हुए कहा—मैंने तुम्हें अपना चचा बना लिया है। अब चिन्ता-फिक्र करना नहीं।

बूढ़े ने कहा—जन्म-भर मैंने कभी माँगा नहीं है; न किसी का मुफ्त का खाया है। अगर मुझे कुछ काम मिल जाय और फिर यह रुपये मिलें तो ठीक होगा।

वजीर ने कहा—अच्छा, तुम्हें काम भी देंगे। लो, यह मिश्री का टुकड़ा ले जाओ। इसे हीरा बनाकर ले आना। दिखने में वह बिलकुल हीरा हो, मगर पानी लगने से गल जाय !

बूढ़े ने 'बहुत ठीक' कहकर विदा ली।

अचानक सहायता मिल जाने से बूढ़े में कुछ उत्साह आ गया था और वह कारीगर तो था ही। थोड़े दिनों बाद मिश्री के टुकड़े को वह हीरा बना कर, एक सुन्दर मखमल की डिब्बी में सजाकर वजीर के पास ले आया। वज़ीर हीरे को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने कारीगर को बढ़िया-बढ़िया कपड़े देकर कहा—तुम यह कपड़े पहन कर, हीरा लेकर बादशाह सलामत के दरबार में हाजिर होना।

वजीर के आदेशानुसार कारीगर जौहरी बन गया। वह नकली हीरा लेकर बादशाह के समक्ष उपस्थित हुआ।

वजीर ने कारीगर को जौहरी बताते हुए उसकी खूब प्रशंसा

की। कहा–यह अमुक देश के प्रसिद्ध जौहरी हैं। इनके पास एक बढ़िया हीरा है। वह जहाँपनाह के लायक है। मैंने हीरा देखा है। वह मुझे बहुत पसन्द आया।

बादशाह ने हीरा देखने की इच्छा प्रदर्शित की तो जौहरी ने डबिया खोल कर हीरा उसके सामने रख दिया। बादशाह को भी वह पसंद आ गया। उसने कहा—जौहरियों को बुलाकर इसकी कीमत जँचवाओ।

वजीर ने नकली जौहरी से कहा—आज आप जाइए। कल आइए, तब तक इसकी कीमत की जाँच कराली जायगी।

वजीर ने कारीगर को रवाना किया और हीरा अपने पास रख लिया। वजीर ने सोचा—अगर जौहरी आये तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। फिर यह चालाकी न चल सकेगी। यह सोच-कर उसने पहले ही उचित व्यवस्था करने का निश्चय कर लिया।

बादशाह जब दरबार से उठकर नहाने गया और नहाने लगा, तब वजीर उसके पास पहुँचा। वजीर ने कहा—हुजूर, जौहरी आवेंगे तब मैं उस जरूरी काम में लगा होऊँगा। बेहतर होगा, आप ही अपने पास इसे रक्खें और जौहरियो को दिखला लें।

बादशाह ने वह हीरा ले लिया और वहीं कहीं रख लिया। वह नहाने लगा। बादशाह को क्या पता था कि हीरा मिश्री का है और वह पानी लगने से गल जायगा। वह नहाता रहा और पानी हीरे पर पड़ता रहा। नतीजा यह हुआ कि हीरा गल गया और बादशाह को पता ही न चला।

बादशाह स्नान करके अन्यत्र चला गया। उसे हीरे का ख़याल न रहा। थोड़ी देर बाद जब उसे हीरा याद आया तो उसने स्नान-गृह में तलाश करवाया, पर हीरा नदारद था !

बादशाह ने नौकरों को डाँटा-डपटा। उनकी चमड़ी उधड़वा लेने की धमकी दी। कोड़े लगवाने का डर दिखाया। पर नतीजा कुछ न निकला। बेचारे नौकर हीरे के विषय में क्या कहते ? जब हीरा न मिला तो बादशाह ने वजीर को बुलवा कर पूछा—वज़ीर, तुम मुझे हीरा दे गये थे न ?

वज़ीर—जी हाँ जहाँपनाह, मैं आपके हाथ में दे गया था और आपने स्नान-घर में अपने पास ही रख लिया था।

बादशाह—मुझे भी यही याद पड़ता है। तुमने मुझे हीरा दिया और मैंने वहीं रख लिया। मैं नहाने लगा। नहाने के बाद मैं उसका ख़याल भूल गया और वहाँ से चला आया। अब तलाश करवाया तो वह गायब है। सिवाय नौकरों-चाकरों के, स्नान-घर में कोई जाता नहीं है। साफ़ है कि इन्हीं में से किसी की बदमाशी है। इनकी मरम्मत करो और हीरा निकलवाओ।

वजीर ने कहा—हीरा खाने की चीज़ तो है नहीं जिसे कोई खा जायगा। अगर कोई खा जायगा तो मर जायगा। इसके लिए मारपीट करने से आपकी बदनामी होगी। वह परदेशी व्यापारी है। सुनेगा तो देश देशान्तर में कहता फिरेगा कि, इतने बड़े बादशाह एक हीरा भी नहीं सँभाल सके, तो इतनी बड़ी सल्तनत को क्या खाक सँभाल सकेंगे ! इससे आपकी नेक-

नामी में धब्बा लगेगा। हीरा तो गया ही, अब इज्जत क्यों जाने दी जाय ? मेरी राय में तो चुप रहना ही बेहतर है।

वज़ीर की बात बादशाह समझ गया। उसने कहा—अच्छा इनकी तलाशी तो ले लो।

वज़ीर जानता था—हीरा पानी बन गया है। उसने इधर-उधर की तलाशी ली और जाकर बादशाह से बोला—अन्नदाता, बहुत तलाश करने पर भी हीरे का पता नहीं चला। ऐसी बड़ी और बढ़िया चीज़ पर फरिश्ते भी आशिक हो जाया करते हैं। मुमकिन है कोई फरिश्ता ही उसे उड़ा ले गया हो। खैर, हीरा गया सो गया। अब नौकरों को सख्त हिदायत कर दी जाय कि उसके गुम होने की खबर बाहर न पहुँच सके। बादशाह की स्वीकृति से वजीर ने नौकरों को बुलाकर कहा—हीरा तुम्हीं लोगों में गायब हुआ है। फिर भी तुम्हें जहाँपनाह माफी बख्शते हैं। मगर याद रखना, हीरा गायब होने की खबर अगर बाहर गई तो सारा कसूर तुम्हारे ही सिर मढ़ा जायगा और तुम्हारी खाल उतरवा ली जायगी।

सभी नौकर मन ही मन वजीर के प्रति कृतज्ञ हुए, कि वजीर साहब ने आज हम लोगों को बचा लिया। इधर बादशाह भी वजीर के प्रति उपकृत थे, कि हीरा तो चला ही गया था, वजीर ने बदनाम होने से बचा लिया। यह अच्छा हुआ।

इसके बाद बादशाह ने कहा—हीरा तो गया, अब वह व्यापारी आएगा तो क्या करना होगा ?

वजीर—व्यापारी आपको हीरा दे गया था। वह तो अपने

हीरे की कीमत चाहेगा ही और उसे मिलनी भी चाहिए।

बादशाह—ठीक है। उसे पूरी कीमत मिलनी चाहिए।

दूसरे दिन जौहरी बना हुआ कारीगर फिर दरबार में आया। वजीर ने उस से कहा—'तुम्हारा हीरा बादशाह सलामत को पसन्द आ गया है। अपने ईमान से उसकी कीमत बताओ।'

कारीगर—मैं उस हीरे को ईरान, अफगानिस्तान, तुर्की आदि कई मुल्कों में ले गया हूँ। उसकी कीमत एक लाख पाँच हजार लगी है। मैं हिन्दुस्तान के बादशाह की बहुत तारीफ सुन कर यहाँ आया हूँ; कुछ अधिक पाने की उम्मीद से। अगर बादशाह सलामत इससे कुछ कम देंगे तो मैं इन्कार नहीं करूंगा और अधिक देंगे तो उनका बड़प्पन समझूंगा।

वजीर साहब की राय से एक लाख आठ हजार देना तय किया गया। कारीगर वह रकम लेकर खुशी-खुशी अपने घर चलता बना।

कारीगर फिर वजीर के घर पहुँचा। उसने वजीर से कहा—इन रुपयों का क्या किया जाय?

वजीर—यह रुपया तुम्हारी कारीगरी से मिला है, सो तुम्हीं रक्खो।

कारीगर—'इसमें मेरा क्या है? यह तो आपकी ही बुद्धिमत्ता और दया से मिला है।' अन्त में वजीर और कारीगर ने आपस में कोई समझौता किया और रुपया रख लिया गया।

यह दृष्टान्त है। पुण्य की कारीगरी से बना हुआ यह मनुष्य-

शरीर मिश्री के हीरे के समान है। यह शरीर मिश्री के समान ही कच्चा है—ज़रा से पानी से गल जाने वाला। चक्रवर्त्ती और वासुदेवों के शरीर भी गल गये तो दूसरों के शरीरों की क्या चलाई है ? इसका गलना तो निश्चित है ही, लेकिन किसी महात्मा रूपी वज़ीर के द्वारा, परमात्मा की सेवा में इसे समर्पित कर दिया जाय और वहीं जाकर गले तो कैसा अच्छा हो ! अगर यह शरीर तप और शील की आराधना में काम आवे तो इससे अच्छा और क्या उपयोग हो सकता है ? अतएव इस बात का विचार करो कि जो वस्तु तुम्हे प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है ?

सुदर्शन सेठ अर्जुनमाली के सामने गये और शरीर को उत्सर्ग करके (बोसरा कर) खड़े हो गये। उनके हृदय में यह भावना नहीं उत्पन्न हुई कि अर्जुनमाली मेरा शत्रु है। उन्होंने उसे मित्र ही समझा।

गजसुकुमार मुनि ने मोक्ष चाहा था—उन्होंने जीवन की आकांक्षा त्याग दी थी, इसलिए उनके मस्तक पर रक्खी हुई आग शान्त नहीं हुई। मगर सुदर्शन ने जीना चाहा था, अतएव मुद्गर स्तंभित हो गया। मैंने कहा था—

खल दल प्रबल दुष्ट अति दारुण,
जो चौतरफ करे घेरो।
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी,
अरिय न होय प्रकटे चेरो॥

सुदर्शन सेठ के लिए अर्जुन से बढ़कर इस समय कौन

शत्रु था ? लेकिन परमात्मा की कृपा से वह शत्रुता त्याग कर मित्र बन गया। परमात्मा का बल सहायता करने के लिए वहाँ कैसे आया ? परमात्म-बल से शत्रु का नाश करने का परिणाम क्या हुआ ? न वो शत्रु ही रहा और न शत्रुता ही रही। लेकिन परमात्मा का बल तभी मिलता है जब मनुष्य अपने बल का अहंकार त्याग देता है। अगर आप अपने बल को छोड़कर परमात्मा के अमित और अद्‌... बल पर विश्वास करेंगे, तो आपका कल्याण होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० १५-९-३१.
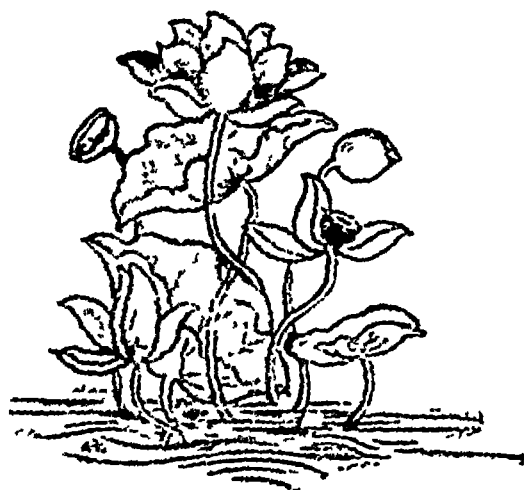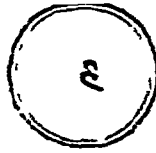
महापर्व संवत्सरी

प्रार्थना

विमल जिणेसर सेविए, थारी बुद्धि निर्मल हो जाय रे।
जीवा! विषय-विकार विसार ने, तू मोहनी कर्म खपाय रे॥
जीवा! विमल जिणेसर सेविए॥ जीवा०॥

आज संवत्सरी का परम पवित्र दिन है। इस उत्कृष्ट और लोकोत्तर पर्व के विषय में शास्त्र में कहा गया है कि यह पर्व आप ही नहीं चल पड़ा है, परन्तु श्रमण भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान से इसे निकाला है। समवायांग सूत्र में कहा गया है—

समणे भगवं महावीरे वासाण सवीसइराइमासे वइक्कंते सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेइ ॥

श्रमण भगवान् महावीर ने चातुर्मास के एक महीना और बीस दिन व्यतीत हो जाने पर और सत्तर दिन शेष रहने पर अर्थात् आषाढ़ी पूर्णिमा के एक मास और बीस दिवस पश्चात् पर्युषण नामक पर्व की आराधना की।

जो श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ अवस्था में चार ज्ञानों और केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अनन्तज्ञान के धनी थे, उन्होंने चातुर्मास के एक मास बीस दिवस पश्चात् जो पर्व निश्चित किया है उस पर्व की कितनी महिमा होगी ? एक साधारण ज्योतिषी भी लौकिक व्यवहार से मुहूर्त्त बताता है और कह देता है कि इस मुहूर्त्त में यह काम करने से सिद्धि होगी; तब भगवान् ने तो अपने अलौकिक ज्ञान से देख कर इस पर्व की स्थापना की है। इसलिए यह पर्व कितना महत्त्वपूर्ण पर्व है ! किसी के बड़े-बूढ़े साधारण दिन को भी किसी कार्य के लिए नियत कर देते हैं—तो उसके वंशज उस दिन को भी मानते हैं। ऐसी अवस्था में स्वयं भगवान् ने जिस पर्व की स्थापना की है उसे कितना उपकारी नहीं समझना चाहिए ?

कल्पसूत्र में लिखा है कि चातुर्मास के ५० दिन बीत जाने पर और ७० दिन शेष रहने पर भगवान् ने संवत्सरी पर्व की आराधना की। जिस तरह और जिस समय भगवान् ने संवत्सरी पर्व की आराधना की थी, उसी तरह और उसी समय गौतम स्वामी ने भी की और गौतम स्वामी की ही तरह सुधर्मा स्वामी,

जम्बू स्वामी आदि महापुरुषों ने भी की। आज भगवान् का संघ भी उसी परम्परागत रीति से संवत्सरी पर्व की आराधना करता है। जहाँ चतुर्विध संघ मिल कर इस पर्व की आराधना करता है, वहाँ वालों को वे लोग, धन्यवाद देते और उनका अहोभाग्य समझते हैं, जहाँ चतुर्विध संघ नहीं होता। वे लोग भी धन्यवाद के पात्र हैं जो संवत्सरी पर्व की, भगवान् महावीर स्वामी के आदेशानुसार आराधना करके सब जीवों को शान्ति पहुँचाते हैं।

सम्पूर्ण संघ संवत्सरी पर्व की आराधना जिस तरह करता आया है, और जिस परम्परा से इसकी आराधना होती आई है, उसी तरह और उसी परम्परा से इसकी आराधना करना उचित है। इस सम्प्रदाय में, जिसके आचार्य पद का भार मेरे सिर पर है, पूज्य श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज, शिवलालजी महाराज, उदयसागरजी महाराज, पूज्यश्री चौथमलजी महाराज और पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज ने जिस रीति से इस पर्व की आराधना की है, उसी रीति से हम भी इसकी आराधना करते हैं।

बाईस सम्प्रदाय में किञ्चित् मतभेद के कारण कुछ काल से संवत्सरी भी आगे-पीछे होती थी। एक सम्प्रदाय कभी करता था तो दूसरा सम्प्रदाय कभी। लेकिन स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के उद्योग से तथा सब महात्माओं की दृष्टि एकता की होने से यह महान् लाभ हुआ है कि सम्पूर्ण स्थानकवासी सम्प्रदाय में एक ही दिन संवत्सरी पर्व की आराधना होने लगी है। एक ही समुदाय के विभिन्न वर्गों में पर्व की एकता न हो और भिन्न-भिन्न समयों में उसकी आराधना की जाय तो सम्प्रदाय में

मेल-जोल और शान्ति न रहना स्वाभाविक है। एक वर्ग कहता है—हमारी संवत्सरी सच्ची है, औरों की झूठी है। और दूसरे वर्ग वाला कहता है—नहीं, सच्ची तो हमारी है। इस अवस्था में बहुत कम ऐसे उदाराशय पुरुष निकलेंगे, जो जीत व्यवहार से सभी की संवत्सरी सच्ची मानें। अपने यहाँ भी इसी प्रकार की बातें होती थीं। प्रायः सभी अपनी-अपनी संवत्सरी को सच्ची और दूसरों की संवत्सरी को झूठी बताते थे। इससे समाज में क्लेश बना रहता था। लेकिन कान्फ्रेंस के सदस्यों के उद्योग से क्लेश का मूल नष्ट हो गया और सभी वर्ग एक ही समय संवत्सरी मनाने लगे। संवत्सरी के लिए क्लेश उत्पन्न होने का कारण मिट गया। अतएव जिन लोगों ने संवत्सरी की एकता के लिए उद्योग किया है, जिन्होंने शिष्ट-मंडल (डेप्यूटेशन) में सम्मिलित होकर, महात्माओं की सेवा में उपस्थित होकर इसके लिए प्रयत्न किया है, वे सब सज्जन संघ की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं। पंजाब में भी दो संवत्सरी होने से क्लेश में वृद्धि हो रही थी। इस वर्ष वहाँ भी शान्ति का संचार हुआ है। जो एकता इस वर्ष हुई है, वह स्थायी रहे-सदा के लिए बनी रहे—यही सब की भावना और प्रार्थना होनी चाहिए।

संघ की एकता के इस पवित्र कार्य में विघ्न डालना घोर पाप के बन्ध का कारण है। भगवान् ने संघ में अनेकता उत्पन्न करना सब से बड़ा पाप बताया है। और-सभी पाप इस पा से छोटे हैं। चतुर्थ व्रत खंडित होने पर नवीन दीक्षा देकर साधु को शुद्ध किया जा सकता है लेकिन संघ की शान्ति और एकता

भंग करके अशान्ति और अनैक्य फैलाने वाला—संघ को छिन्न-भिन्न करने वाला दशवें प्रायश्चित्त का अधिकारी माना गया है। इससे यह स्पष्ट है कि संघ को छिन्न-भिन्न करना घोर पाप का कारण है। जो लोग अपना बड़प्पन कायम करने के लिए, दुराग्रह करके संघ में विग्रह उत्पन्न करते हैं, वे घोर पाप करते हैं। अगर आप संघ की शान्ति और एकता के लिए सच्चे हृदय से प्रार्थना करेंगे तो आपका हृदय तो निष्पाप बनेगा ही, साथ ही संघ में अशान्ति फैलाने वालों के हृदय का पाप भी धुल जायगा। संघ में एकता होने से संघ की सब बुराइयाँ नष्ट हो जाती हैं।

यह कितने संतोष और सुख की बात है कि आज सम्पूर्ण संघ एक ही दिन संवत्सरी पर्व आराधन कर रहा है। यह वर्ष प्रसन्नता का वर्ष है। मैंने अपने जीवन में आज ही ऐसा शुभ दिन देखा है। अतएव भाइयो, संवत्सरी पर्व की आराधना ऊपर-ऊपर से न करो—अन्तरंग में उसकी उपासना करो।

'पर्युषण' का अभिप्राय क्या है, यह देखने की आवश्यकता है। 'पर्युषण' का शाब्दिक अर्थ कभी बदल भी सकता है, लेकिन हम 'पर्युषण' का जो अर्थ करते हैं उसके साथ रूढ़ि-परम्परा का भी बल है।

पर्युषण पर्व में आज के दिन जैन का साधारण समझदार बालक भी खाने की इच्छा नहीं करता। यही नहीं, वरन् अनेक बालकों में तो इतनी उत्कृष्ट भावना देखी जाती है जितनी अनेक बड़े-बूढ़ों में भी शायद ही पाई जाती हो! आज के दिन छोटी-छोटी बालि-

काओं में भी उपवास करने की भावना होती है। यद्यपि उनके माता-पिता उन्हें उपवास करने से रोकते हैं, उन्हें उपवास की कठिनाई समझा कर भोजन कर लेने की प्रेरणा करते हैं, लेकिन वह बालिकाएँ रोती हैं और उपवास करने का हठ करती हैं। खाने के लिए रोने वाले बालक तो सर्वत्र सुलभ हैं, परन्तु न खाने के लिए रोने वाले बालक जैन समाज में ही मिल सकते हैं। अन्त में बालिकाएँ रो-रो कर माता-पिता के आगे सत्याग्रह कर डालती हैं और स्वीकृति देने के लिए माता-पिता को विवश कर देती हैं। इस प्रकार सत्याग्रह के बल पर वे अपने माता-पिता से उपवास की स्वीकृति प्राप्त कर लेतीं और उपवास करती हैं। इस पर्व के उपलक्ष्य में जब बालक और बालिकाओं की यह भावना रहती है तो समझना चाहिए कि इस पर्व में बहुत बड़ी शक्ति है। कदाचित् देश के या धर्म के नेताओं के आदेश से करोड़ों उपवास हुए होंगे, मगर बालकों के हृदय में उपवास करने की ऐसी प्रबल भावना उस समय भी उत्पन्न न हुई होगी।

आज का दिन इतना पवित्र है कि कोई भी जैन अपने हृदय में वैर-भाव न रक्खेगा। अगर किसी से वैर-भाव रहा होगा, तो उससे क्षमा याचना करेगा और स्वयं क्षमा प्रदान करेगा।

'पर्युषण' अर्थ को प्रकट करने वाले प्राकृत भाषा में दो शब्द हैं—'पज्जुसणा' और 'पज्जोसवणा।'। इनमें 'पज्जुसणा' का संस्कृत रूप ही 'पर्युषणा' या 'पर्युषण' है और 'पज्जोसवणा' का 'पर्युषणा' के अतिरिक्त 'पर्युपशमना' संस्कृत-रूप और होता है। 'पर्युषण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—'पूर्ण रूप से निवास

करना।' और पज्जोसवणा या पर्युपमशना का अर्थ है—'पूर्ण-रूप' से शान्त करना या जिसके द्वारा पूर्ण रूप से शान्त किया जाय।'

यह आशंका होना स्वाभाविक है कि पर्युषण शब्द का अर्थ यदि 'पूर्ण रूप से निवास करना है' तो वह निवास कहाँ और किसका होना चाहिए ? इसका समाधान है—पूर्ण रूप से आत्मा का आत्मा में ही निवास करना 'पर्युषणा' है। अर्थात् आत्मानुभव में लीन होना, आत्माभिमुख होकर रहना, आत्मा के शुद्ध सिद्ध-स्वभाव का चिन्तन करना, आत्मोत्कर्ष की तैयारी करना, आत्मोन्नति के साधनों का संग्रह करना, आत्म-निरीक्षण करना, आत्मा की शक्ति को समझना, उसकी वर्त्तमान कालीन दुर्बलता को दूर करना, बाह्य पदार्थों से नाता तोड़ना, आत्मा से भिन्न सांसारिक पदार्थों पर निर्भर न रहना, इत्यादि।

'पर्युषणा' का दूसरा रूप पर्युपशमना है। पर्युपशमना अर्थात् शान्त करना। अनादि काल से आत्मा में विकारों की विद्यमानता होने के कारण आत्मा संतप्त रहता है, क्षुब्ध रहता है, चंचल बना रहता है। इन विकारों ने आत्मा को अशान्ति का केन्द्र बना दिया है। इन विकारों की बदौलत आत्मरमण का अद्भुत आनन्द लुप्त हो रहा है। विकारों के अधीन होने के कारण आत्मा शान्ति और संतोष से शून्य बन गया है। अतएव इन विकारों को शान्त करना, जिनके द्वारा विकार शान्त हो सकते हों उन शुभ भावों का अवलम्बन करना, अशुभ भावनाओं पर विजय प्राप्त करना, पर्युपशमना है।

यहाँ 'पर्युषणा' के जो दो रूप बताये गये हैं उनमें एक साध्य है और दूसरा साधन है। आत्मा में पूर्ण रूप से निवास करने के लिए या आत्मरमण करने के लिए विकारों के उपशमन की आवश्यकता होती है। जब तक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों की उपशान्ति नहीं हो जाती, तब तक आत्मरमण का अपूर्व आस्वादन नहीं किया जा सकता। अतएव 'पर्युपशमना' से विकारों को शान्त करके 'पर्युषणा' अर्थात् आत्मस्थिति-स्वरूप में अवस्थान करना ही पर्युषण पर्व की आराधना करना है।

पर्युषण के उल्लिखित दोनों अर्थों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पवित्र पर्व पर जो अनुष्ठान किया जाय वह आत्मस्पर्शी होना चाहिए—मात्र शरीरस्पर्शी नहीं। जो क्रियाकांड सिर्फ शरीर-शोषण करता है, आत्म-पोषण नहीं करता अर्थात् आत्मिक गुणों के विकास में जरा भी सहायक नहीं होता, वह आध्यात्मिक दृष्टि से निष्प्रयोजन है।

आज के दिन चौरासी लाख योनियों के समस्त प्राणियों से क्षमा-याचना की जाती है। अर्थात् क्रोध और अभिमान आदि विकारों का उपशमन किया जाता है। अतएव हमें पर्युषण का अर्थ भी याद है और उसका कार्य भी हमारी स्मृति में है।

पर्युषण के समय हमें क्या-क्या त्यागना पड़ेगा, इस बात का निश्चय भी इन दिनों में किया जाता है। आने वाली ऋतु में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से हमें क्या-क्या और किस-किस दृष्टि से त्यागना चाहिए, तथा खाने-पीने आदि की मर्यादा किस प्रकार बाँधना चाहिए, आदि बातों का निश्चय करने के लिए भी

यह पर्व है। आज तो पर्युषण की साधना का दिन है, लेकिन पर्युषण पर्व अपना कल्प निश्चित करने के लिए है। शास्त्र में द्रव्य और क्षेत्र से, इस विषय पर बहुत-सा विचार किया गया है।

'पर्युषण' का अर्थ बताते समय कहा गया था कि पूर्ण रूप से—भली भाँति निवास करना, पर्युषण का शब्दार्थ है। यह अर्थ द्रव्य रूप से साधुओं के लिए विशेष संगत बैठता है। संवत्सरी के ४९ दिन पहले साधु दस अपवादों के कारण एक जगह से दूसरी जगह जाकर निवास कर सकते हैं, लेकिन संवत्सरी के पश्चात् ७० दिन तक प्रायः दूसरी जगह नहीं जा सकते।

संवत्सरी के दिन, साधु के शरीर के गले से ऊपरी भाग पर गाय के रोम के बराबर भी केश नहीं रहने चाहिए। अर्थात् जो बाल हाथ में आ सकते हों, ऐसे बाल नहीं रहने चाहिए। इसके साथ ही शेष ७० दिनों में साधु को कौन-सा 'विगय' किस कल्प से लेना, आदि कल्प भी शास्त्रों में वर्णित किया गया है। इन ७० दिनों में यथाशक्ति अन्न-पानी का भी त्याग करना चाहिए अर्थात् उपवास करना चाहिए। उपवास का अर्थ है—

उप-समीप वसनमुपवासः

अर्थात् अन्न-पानी आदि की ओर से ध्यान हटा कर आत्मा को धर्म में बसाना 'उपवास' कहलाता है। यदि आत्मा को धर्म में न बसाया जाय और भोजन-पानी का त्याग मात्र किया जाय तो उसे लंघन भले ही कहा जाय, पर उपवास नहीं कहा जा सकता।

आत्मा को धर्म में स्थापित करना ही सच्चा उपवास है। किसी ग्रन्थकार ने कहा भी है:—

कषाय विषयाहारस्त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः॥

अर्थात् उपवास वह है जिसमें कषायों का, विषयों का और आहार का त्याग किया जाता है। जहाँ इन सब का त्याग न हो—सिर्फ आहार त्यागा जाय और विषय कषाय का त्याग न किया जाय-वह लंघन है—उपवास नहीं है।

'पर्युषण' शब्द के प्रथम अर्थ के अनुसार जघन्य सात दिन और उत्कृष्ट छह मास तक एक जगह रहना भी पर्युषण कहलाता है। इसकी चर्चा लम्बी है और उसका विस्तार करने का अभी समय नहीं है।

पर्युषण के अर्थ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो गया है कि पाप को उपशान्त करके आत्मा में सद्गुणों का बसाना पर्युषण का अर्थ है। प्राणी मात्र के प्रति वैर-भाव भूल कर, अन्तःकरण से प्रेमपूर्वक क्षमायाचना करना और सब प्राणियों के प्रति सात्विक प्रेम का प्रसार करना आज के दिन का विशिष्ट कार्य या उद्देश्य है।

जिनसे किसी प्रकार का लड़ाई-झगड़ा नहीं है, उनसे क्षमा-याचना कर के परम्परा का पालन कर लिया जाय, और जिनसे लड़ाई है, जिनके उचित अधिकारों का अपहरण किया है, अधिकारों के अपहरण के कारण जिन्हें घोर दुःख पहुँचा है, और उन अधिकारों को उन्हें सिपुर्द कर देने से आनन्द होता है, उन लोगों

को उनके उचित अधिकार न लौटा कर, ऊपर से क्षमा माँग लेना उचित नहा है। ऐसा करना सच्ची क्षमा-याचना नहीं है। पर्युषण पर्व के कार्यों की सूचना एक भजन में की गई है। वह भजन इस प्रकार है:—

अरे ओ सज्जनो व्हाला ! पियो ने प्रेमना प्याला।
धरी प्रभु-नामनी माला, करो जीवन सफल आजे॥
पर्युषण पर्व आरूडूं, करो ना काम कँई कूडूं।
बनाई शुद्ध निज हियरूं, करो जीवन सफल आजे॥
करो सब वैर ने दूरे, हरो मन मैल तुम पूरे।
खमावो भाव थी पूरे, करो जीवन सफल आजे॥ अरे०॥

मित्रो ! व्हाला (प्रिय) सज्जन कौन है? क्या साधुओं के लिए भी कोई व्हाला सज्जन होता है?

इस जीव ने अनादि काल से किस-किस प्राणी के साथ प्रीति का नाता नहीं जोड़ा है? न जाने अब तक कितने प्राणियों के साथ इस जीव का प्रेम-सम्बन्ध जुड़ चुका है! साथ ही जिसके साथ प्रीति का नाता जुड़ा उसी के लिए प्राण भी दिए हैं। मगर जीव ने धर्म के साथ प्रीति नहीं जोड़ी। किन्तु आज शुभ दिवस है। आपकी और हमारी क्या पहचान है? आप के साथ हमारा क्या नाता-रिश्ता है? अगर मैं साधु न होता तो आप मुझे क्यों पूछते? यह सब भाई, जो बाहर से आये हैं, इनसे आप क्यों प्रेम करते हैं? अगर धर्म का प्रेम न होता, तो आप इनका इतना आदर-सत्कार और प्रेम क्यों करते? दिल्ली बड़ा शहर है, भारतवर्ष की राजधानी है। यहाँ बहुतेरे आते और

जाते रहते हैं। कौन किसे पूछता है ? फिर भी आप इन आगत भाइयों को देख कर क्यों इतने प्रसन्न होते हैं, मानो आपका बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ भाई मिल गया हो ? यह सब प्रेम धर्म का प्रेम है। आप मेरी जो भक्ति करते हैं, उसे भी मैं अपनी भक्ति नहीं समझता। वह तो भगवान् महावीर के धर्म की स्तुति है। मेरी प्रशंसा, मेरी नहीं, भगवान् के धर्म की प्रशंसा है। धर्मानुराग के वश होकर ही आप मेरे प्रति आदर भाव प्रदर्शित करते हैं।

मैं आपको व्हाला सज्जन कह कर सम्बोधित क्यों करता हूँ ? मुझे न तो आपसे धन-दौलत की चाहना है और न किसी प्रकार की भेंट ही लेनी है। मेरा जो स्वार्थ है उसकी सिद्धि आपके द्वारा नहा हो सकती—वह तो मेरी ही आत्मा से होगी। आप जिस प्रयोजन को साध सकते हैं, उस प्रयोजन से मैं विमुख हो चुका हूँ। फिर भी मैंने 'व्हाला' सज्जन कह कर आपको जो सम्बोधन किया है सो किसी प्रकार की चापलूसी करने के लिए नहीं, वरन् इसलिए कि आप लोग भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित होकर शासन के प्रचार में योग देते हैं। यही आपके साथ हमारा नाता है और इसी से प्रेरित होकर हम आपको व्हाला सज्जन कहते हैं।

व्हाला सज्जन किसे कहते हैं ? आपका कोई व्हाला होगा तो आप जब बाहर जाएँगे तब वह मार्ग में खाने के लिए भाता (पाथेय) बाँध देगा। वह ख़र्च के लिए कुछ पैसे देगा, कार्य-सिद्धि के लिए समुचित परामर्श देगा और मार्ग में सावधान रहने की

प्रेरणा करेगा। लेकिन ऐसा न करके अगर कोई आपके पास की भी वस्तु छीन ले तो उसे आप व्हाला समझेंगे या शत्रु ?

'शत्रु !'

मैं आपसे कहता हूँ—आप मुझे खर्च दीजिए और मैं आपको देता हूँ। मुझसे अगर महाव्रतों की रक्षा न हो सके तो आप मेरे व्हाला सज्जन हैं; अतएव, नम्र या कठोर वचन कह करके भी मुझे ठीक रास्ते पर लाइए। इतिहास बतलाता है कि साधु कभी कोड़ों से पीट कर और कभी मिष्टान्न देकर ठिकाने लाये गये हैं ! किसी भी विधि से साधुओं को पथ पर लाया जाय, मगर यह भावना बनी रहनी चाहिए कि हम सब व्हाला सज्जन हैं !

प्रेम के कारण आप पर जो उत्तरदायित्व आता है उसका दिग्दर्शन मैंने कराया है। पर साधुओं पर आने वाला उत्तर-दायित्व भी है। साधुओं से आपका सम्पर्क होता है। आप उनके प्रति आदर भाव रखते हैं। आप उन्हें अपना मार्गदर्शक मानते हैं। अतएव साधुओं का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे आपको वास्तविक कल्याण का मार्ग बताएँ। आपको धर्म, व्रत और संयम से भेंट कराएँ। त्याग में ही सच्चा सुख है, अतएव उस सुख की प्राप्ति के लिए आपको त्याग का उपदेश दें।

इस प्रकार साधुसंघ और श्रावकसंघ का पारस्परिक स्नेह-संबध स्थिर रहने से ही धर्म की जागृति रह सकती है। दोनों को अपने-अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग और दृढ़ रहना चाहिए। एक दूसरे को, पथ से विचलित होते देखकर तत्काल उचित

प्रतीकार करे तभी भगवान् का शासन सुशोभित रहेगा। श्रावक-संघ अगर साधु का वेष देखकर, उसकी उच्च पद-मर्यादा का विचार करके, साधु को पथभ्रष्ट होते समय भी दृढ़तापूर्वक नहीं रोकता; और साधुसंघ श्रावकों के सांसारिक वैभव से प्रभावित होकर या अन्य किसी कारण, धर्म को लज्जित करने वाले श्रावक के कार्य देखकर भी उसे कर्त्तव्य का बोध नहीं कराता तो दोनों ही अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होते हैं।

राजर्षि नमि की माता मेणरेया (मदनरेखा) का वृत्तान्त आप जानेंगे तो आपको विदित होगा कि आप अपने कुटुम्बियों के प्रति सज्जनता का व्यवहार करते हैं या दुर्जनता का ?

राजर्षि नामि की माता अत्यन्त सुन्दरी थी। जैसा उसका नाम, वैसा ही उसका सौन्दर्य था। मेणरेया या मदनरेखा उसका नाम था। वह युगवाहु की पत्नी थी। युगवाहु के एक बड़े भाई थे जिनका नाम राजा मणिरथ था। एक दिन मणिरथ ने मदनरेखा को देख लिया और देखते ही वह उस पर मुग्ध हो गया। उसके हृदय में पाप-वासना जाग उठी। उसने मदनरेखा को अपनी स्त्री बनाने का निश्चय कर लिया।

यद्यपि मणिरथ ने अपनी कुत्सित कामना की सिद्धि के लिए आकाश-पाताल एक कर दिया, पर मदनरेखा के हृदय में लेश मात्र भी पाप का संचार नहीं हुआ। वह बचपन से ही धर्म-ध्यान और ईश्वरस्मरण में परायण थी। मदनरेखा की इस दृढ़ता से मणिरथ कुछ-कुछ निराश हुआ। अन्त में उसने विचार किया कि मदनरेखा जब तक युगबाहु के पास रहेगी तब तक हाथ न

आयेगी। किसी प्रकार युगबाहु को उससे अलग करना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके मणिरथ ने दौरे पर जाने का ढोंग रचा। युगबाहु ने भाई से दौरे पर जाने का कारण पूछा तो मणिरथ ने कहा—राज्य की सीमा पर कुछ उपद्रवियों ने उत्पात मचा रक्खा है। उनका दमन करने के लिये मेरा जाना आवश्यक है। युगबाहु बोला—उपद्रवियों का दमन करने के लिए मेरे रहते आपका जाना ठीक नहीं है। जब तक मैं जीवित हूँ, आपको नहीं जाने दूंगा। अतएव कृपा कर मुझे जाने की आज्ञा दीजिए। यदि मैं उनका दमन न कर सका तो फिर भविष्य में मुझे कौन गिनेगा ?

बिल्ली के भाग्य से छींका टूटा। मणिरथ जो चाहता था वही हुआ। फिर भी उसने ऊपरी मन से युगबाहु को घर रहने के लिए कहा और अन्त में उसे विदा कर दिया।

युगबाहु के चले जाने पर मणिरथ ने उत्तमोत्तम वस्त्र, आभूषण, सुगंध की वस्तुएँ और खाने-पीने के अनेक स्वादिष्ट पदार्थ, एक दूती के साथ मदनरेखा के पास भेजे। दूती ने मणिरथ की भेजी हुई सब विलास-सामग्री मदनरेखा को भेंट की। उस समय मदनरेखा ने कहा—जिस नारी का पति परदेश गया हो उसे विलास-सामग्री की क्या आवश्यकता है ? उसे तो उदास भाव से, धर्म की आराधना करते हुए समय-यापन करना चाहिए। मुझे इन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है। जाओ, इन्हें वापस ले जाओ।'

मित्रो ! अधिकांश में स्त्रियों को पतित बनाने वाली यही वस्तुएँ हैं। स्त्रियाँ यदि पौद्गलिक शृंगार की लालसा पर विजय

प्राप्त कर सकें, गहनों, कपड़ों और खान-पान की वस्तुओं पर न ललचावें, इनमें ममत्व हटा लें, तो किस की शक्ति है जो पर-स्त्री की ओर बुरी नजर से देख सके ?

मदनरेखा ने कहा है कि जिसका पति परदेश में हो उसे विलास-सामग्री से क्या प्रयोजन है ? सती दमयन्ती तीन वर्ष तक, जब तक उसका पति नल उसे न मिल गया, गेरुए कपड़े पहन कर योगिनी की भाँति रही और अन्त में अपने पति को खोज लाई। बहिनो ! जरा विचार करो। जिसका पति परदेश गया है और जिसके लौट आने में सन्देह नहीं है, वह नारी भी उदासीन भाव से रहती है, उत्तम वस्त्राभूषण नहीं पहनती, सुगंधित पदार्थों का उपयोग नहीं करती, तो जिसका पति परलोक चला गया है, उसे किस प्रकार रहना चाहिए ?

समय के फेर से जो, भारत दशा और की और।
पहले पति परदेश सिधाते, नारी उदासी रोती।
आज पिया परलोक सिधाते, रगड़-रगड़ पग धोती ॥समय० ॥

एक समय वह था जब पति के परदेश जाने पर स्त्रियाँ खाने-पीने की ओर से भी उदासीन रहती थीं; एक समय आज है जब कि पति के परलोक जाने पर भी स्त्रियाँ बनाव-सिंगार करने से बाज नहीं आती।

मदनरेखा ने मणिरथ के भेजे हुए वस्त्राभूषण लाने वाली दूती को फटकार बताई और वापिस ले जाने को कहा। दूती ने धृष्टता के साथ कहा—'राजा आपको चाहते हैं। इन गहनों-कपड़ों की तो बात ही क्या है, वे स्वयं आपके अधीन होने वाले

हैं। यह वस्त्र और आभूषण तो अपनी हार्दिक कामना प्रकट करने के लिए ही उन्होंने भेजे हैं।'

दूती की निर्लज्जतापूर्ण बात सुनते ही मदनरेखा का अंग-अंग क्रोध से जल उठा। उसने अपनी दासी से अपना खड्ग मँगवाया और दूती को उसकी धृष्टता का मजा चखा देने का विचार किया।

मदनरेखा की भयंकर आकृति देखकर दूती सिर से पैर तक काँप उठी। उसकी प्रचण्ड मुखमुद्रा देख दूती के चहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। तब मदनरेखा ने उससे कहा—जा, काला मुँह कर। अपने राजा से कह देना कि वह सिंहनी पर हाथ डालने की खतरनाक और निष्फल चेष्टा न करे; अन्यथा धन-परिवार समेत उसका समूल नाश हो जायगा।

दूती अपनी जान बचाकर भागी। उसने मणिरथ से आद्योपान्त सारा वृत्तान्त कह सुनाया। मणिरथ ने सोचा—ऐसी वीरांगना स्त्री तो मेरे ही योग्य है!

'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।'

एक आधी रात के समय स्वयं मणिरथ, मदनरेखा के महल में जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने द्वार खटखटाया। मदनरेखा सारा रहस्य समझ गई। उसने किवाड़ खोले बिना ही राजा को फटकारा। कहा—'इस समय तेरा यहाँ क्या प्रयोजन है? जा, इसी समय चला जा यहाँ से!'

राजा—मदनरेखा, बिना प्रयोजन कौन किसके यहाँ आता है? मैं अपना मन तुम्हें समर्पित कर चुका हूँ। यह तन और बचा है, इसी को तुम्हारे चरणों में अर्पित करने के लिए आया

हूँ। मदनरेखा, मेरी भेंट स्वीकार करो। इस तन के साथ ही अपना विशाल राज्य भी तुम्हे सौंप दिया जायगा।

मदनरेखा—राजा, काम की अग्नि को अगर सहन नहीं कर सकते तो चिता की अग्नि को अपना शरीर समर्पित कर दो। अपनी कामाग्नि से सतीसाध्वी पतिव्रता नारी के धर्म को आग न लगाओ। उस आग में नीति को भस्म न करो। अपने भविष्य को भस्म होने से बचाओ। पतित पुरुष, अपने छोटे भाई की पत्नी पर भी तू कुत्सित दृष्टि डालता है! मैं नारी होकर तुझे दुत्कारती हूँ और तू मेरे पैरों पड़ता है! कहाँ है तेरा पुरुषत्व? जो काम के अधीन होकर स्त्री के सामने दीनता दिखलाता है, वह पुरुष नहीं हीजड़ा है। तू स्त्री और नपुंसक से भी गया-बीता है। अपना भला चाहता है तो अभी—इसी क्षण यहाँ से चलता बन। वर्ना, तुझे अपनी करतूत का मजा अभी चखाया जायगा।

मदनरेखा ने मणिरथ को जब इस प्रकार फटकार बताई तो वह अपना-सा मुँह लेकर लौट आया। फिर भी उसे सद्बुद्धि न आई। उसने सोचा—जब तक युगबाहु जीवित रहेगा तब तक यह स्त्रीरत्न हाथ न लगेगा। किसी प्रकार इस काँटे को निकाल फैंकना चाहिए। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।'

इस प्रकार मणिरथ का पाप बढ़ता चला गया। लेकिन पापी का पाप बढ़ने से ज्ञानी जन घबराते नहीं हैं। ज्ञानी जन सोचते हैं कि पाप की वृद्धि होने से ही ईश्वरीय शक्ति अर्थात् धर्म का बल, प्रकाश में आता है। अधर्म की वृद्धि से धर्मों मे नया जीवन आता जाता है। पाप के बढ़ने से ज्ञानियो की महिमा बढ़ती है।

ज्यों-ज्यों मणिरथ का पाप बढ़ने लगा त्यों-त्यों मदनरेखा के जीवन की शुद्धि बढ़ने लगी।

अगर भारत दुःखी न होता तो गांधीजी की महिमा न बढ़ती। अतएव पाप की वृद्धि होने पर घबराना नहीं चाहिए। पाप के प्रतीकार का प्रकृति में एक बड़ा नियम है। इसी नियम के अनुसार मणिरथ पाप के मार्ग पर आगे बढ़ता गया और मदनरेखा पवित्रता की ओर अग्रसर होती गई।

युगबाहु विद्रोहियों को दबा कर लौट आया। मणिरथ ने ऊपर से खूब प्रसन्नता प्रकट की। मदनरेखा को भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—पति आ गये, अब किसी प्रकार का भय नहीं रहा। लेकिन मदनरेखा ने मणिरथ के दुर्व्यवहार के विषय में कुछ न कहा।

मदनरेखा की यह गंभीरता प्रशंसनीय है। उसकी वीरता ऐसी है कि राजा को भी बुरी तरह फटकार सकती है और गंभीरता इतनी है कि ऐसी बड़ी घटना के विषय में भी वह अपने पति से एक शब्द नहीं कहती। कुलीन स्त्रियां, जहाँ तक संभव होता है, भाई-भाई में विरोध उत्पन्न नहीं होने देतीं। यही नहीं, वरन् किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुए विरोध को भी शान्त करने का प्रयत्न करती हैं। मदनरेखा प्रथम तो स्वयं वीरांगना थी। उसे अपनी शक्ति पर भरोसा था। दूसरे उसने सोचा–पति के आ जाने से दुष्ट राजा रास्ते पर स्वयं आजाएगा, अतएव अब पारस्परिक कलह जगाने से क्या लाभ है ? यही सोच कर उसने पिछली घटना के विषय में युगबाहु से एक शब्द भी न कहा।

एक वार राजा मणिरथ वसन्तोत्सव मनाने के लिए वन में गया। युगबाहु भी वसन्तोत्सव के अर्थ वन को चला। मदनरेखा ने सोचा—'पति अकेले वसन्तोत्सव मनाने जायँगे तो उन्हें उत्सव फीका लगेगा। उनका साथ छोड़ना उचित नहीं है।' यह सोच कर वह भी युगबाहु के साथ हो ली। वन में पहुँच कर युगवाहु ने वह रात्रि वन में ही व्यतीत करने का निश्चय किया। उसने मदनरेखा से भी अपना निश्चय कह सुनाया। मदनरेखा वोली—'नाथ, मैं आपके आनन्द में विघ्न नहीं डालना चाहती। पर यह कह देना आवश्यक समझती हूँ कि वन में अनेक आपत्तियों की आशंका रहती है, अतएव वन में रात्रि के समय रहना उचित नहीं है।' युगबाहु ने कहा—'अपने साथ रक्षक मौजूद हैं। मैं स्वयं कायर नहीं हूँ। फिर डर किस वात का है?'

वाग में ही युगबाहु के डेरे-तम्बू लग गये। युगबाहु और मदनरेखा रात-भर वहीं रहने के विचार से ठहरे। डेरे के आस-पास पहरा लग गया।

मदनरेखा सहित युगबाहु को वाग में ठहरा देख मणिरथ ने विचारा—'आज अच्छा अवसर है। अगर मैंने आज युगबाहु का काम तमाम कर दिया तो मदनरेखा हाथ लग जायगी।'

इस प्रकार पाप-संकल्प कर के मणिरथ घोड़े पर सवार हो कर अकेला ही युगवाहु के डेरे पर आया। युगवाहु के पहरेदारों ने उसे अन्दर घुसने से रोक दिया।

राजा ने कहा—मैं राजा हूँ। युगवाहु मेरा छोटा भाई है। मुझे अंदर जाने की मनाई कैसे हो सकती है?

पहरेदार—आप महाराज हैं, यह ठीक है। आपकी आज्ञा सिर माथे पर। किन्तु युवराज युगबाहु सपत्नीक ठहरे हुए हैं; अतः आपका अन्दर जाना ठीक नहीं है। आखिर एक पहरेदार ने भीतर जाकर युगबाहु से आज्ञा ली और युगबाहु ने कहा—भाई भीतर आना चाहते हैं, तो आने दो।

मदनरेखा ने कहा—नाथ, सावधान रहिए। भाई की नजर भाई सरीखी न समझिए। वे इस समय आपकी जान के ग्राहक बन कर आ रहे हैं।

यद्यपि मदनरेखा ने युगबाहु को सब बात भली भाँति सुझाई, पर उसने उपेक्षा के साथ कहा—यह तुम्हारा भ्रम है। जिस भाई ने अपने पुत्र को युवराज न बना कर मुझे युवराज बनाया, वह मेरे प्राणों का ग्राहक क्यों होगा ? अगर उनके हृदय में पाप होता तो मुझे युवराज क्यों बनाते ?

मदनरेखा एक ओर हट गई। मणिरथ डेरे में आ गये। युगबाहु ने मणिरथ का यथोचित अभिवादन करके पूछा—इस समय आपने पधारने का कष्ट क्यों किया है ? आज्ञा दीजिए, क्या कर्त्तव्य है ?

मणिरथ—तू शत्रुओं को जीत कर आया है, पर तेरे शत्रु अब भी तेरा पीछा कर रहे हैं। इधर तू किला छोड़कर उद्यान में आकर रहा है। इसी चिन्ता के मारे मुझे नींद नहीं आई और मैं दौड़ा चला आया।

मणिरथ ने अपने आने के विषय में जो सफाई पेश की, वह कुछ संगत नहीं थी। युगबाहु को उसकी बात से कुछ सन्देह

उत्पन्न हो गया। युगबाहु ने तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखते हुए कहा—आप मुझे इतना कायर समझते हैं ? क्या मैं इतना डरपोक हूँ ? यहाँ तो किला और सेना, सब समीप ही हैं। जहाँ मैं युद्ध करने गया था वहाँ से तो यह सब दूर थे। फिर भी न तो मुझे किसी प्रकार का भय ही हुआ, और न आपको ही मेरी चिन्ता सवार हुई। मुझे शत्रुओं से किसी प्रकार की हानि हो सकती है, यह आपकी भ्रमपूर्ण संभावना है। ऐसे अवसर पर आपका आना और विशेषतः उस अवस्था में जब कि मैं सपत्नीक हूँ, नितान्त अनुचित है। राजा स्वयं मर्यादा भंग करेगा तो मर्यादा का पालन कौन कराएगा ?

मणिरथ के चेहरे पर मुर्दनी-सी छा गई। वह बोला—'अच्छा, जाता हूँ। मगर प्यास के मारे मेरा गला सूख रहा है, थोड़ा पानी तो पिला दे।'

सामने ही पानी रखा था। युगबाहु अपने भाई को पानी पिलाने से कैसे इन्कार होता ? एक सामान्य अतिथि को पानी पिलाने के लिए नाहीं नहीं की जाती तो मणिरथ बड़ा भाई और राजा था। उसे पानी पिलाने मे युगबाहु कैसे मुकरता ?

युगबाहु पानी पिलाने के लिए तैयार हुआ। उसने जैसे ही पानी की ओर हाथ बढ़ाया, तैसे ही मणिरथ ने उस पर जहर की बुझी हुई तलवार का वार कर दिया। युगबाहु जमीन पर लोट गया।

मणिरथ तत्काल घोड़े पर चढ़ कर भागने को हुआ, पर हाथ में खून से भरी तलवार देख पहरेदारों ने उसे रोक लिया।

मणिरथ पहरेदारों से युद्ध करने लगा—आपस में संग्राम छिड़ गया।

युगबाहु क्षत्रिय था। क्षत्रिय स्वभाव के अनुसार घायल अवस्था में भी उसे बड़ा क्रोध हुआ। क्रोध के मारे वह इधर-उधर लोटने लगा। इसी समय मदनरेखा आ गई। उसने पति को इस अवस्था में देखा तो क्षण-भर के लिए वह किंकर्त्तव्यमूढ़ हो गई। इस समय मदनरेखा का क्या कर्तव्य है ? उसे क्या करना चाहिए ?

> अरे ओ सज्जनो ! व्हाला ! पियो ने प्रेम ना प्याला।
>
> धरी प्रभु-नामनी माला, करो जीवन सफल आजे ॥

ऐसे प्रसंग पर रुदन करके जो अपना और मरने वाले का भविष्य बिगाड़े, उसके विपय में आप कहेंगे कि उसे मरने वाले से बड़ा प्रेम है। रोना-धोना ही आज प्रेम की कसौटी समझी जाती है। लेकिन यह कसौटी भ्रम है—धोखा है—ठगाई है। सच्चा प्रेम क्या है और 'सज्जनता' किसमें है, यह मदनरेखा के चरित से सीखना चाहिए।

मदनरेखा के जीवन में इससे अधिक अनिष्ट क्षण दूसरा कौन-सा होगा ? दुष्ट मणिरथ ने उसके निरपराध पति का वध कर डाला, इससे अधिक विपदा मदनरेखा पर और क्या आ सकती है ? इतना ही नहीं, भविष्य का भय भी उसकी आँखों के आगे नाच रहा है। वह गर्भवती है। ऐसे विकट समय वह क्या करे ?

कायर के लिए यह बड़ा भयकर समय है। मगर मदनरेखा

वीर क्षत्रियाणी थी। कायरता उससे कोसों दूर थी। उसने उसी समय अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लिया। सोचा पतिदेव का जीवन अधिक से अधिक दो घड़ी का है। इन दो घड़ियों का मूल्य बहुत अधिक है। इतने समय में ही मुझे ऐसा करना है, जिससे इनकी सह-धर्मिणी के नाते मैं अपना पवित्र कर्त्तव्य निभा सकूं।

बाहर मणिरथ और पहरेदारों में होने वाले युद्ध के कारण कोलाहल मच रहा था। मदनरेखा दौड़ कर बाहर आई और द्वाररक्षकों से बोली—तुम किससे युद्ध कर रहे हो ? तुम्हारे स्वामी केवल दो घड़ी के मेहमान हैं। इन दो ही घड़ियों में मैं स्वामी को ऐसी कुछ चीज देना चाहती हूँ जो उनके काम आ सके। इसलिए तुम युद्ध बंद करो जिससे कोलाहल मिटे और शान्ति हो। अगर तुम राजा को मार डालोगे तब भी कोई लाभ न होगा। स्वामी अब जीवित नहीं हो सकते। तुम अपने स्वामी के हितचिन्तक हो, पर मैं तुमसे भी अधिक उनका हित चाहती हूँ। राजा को भाग जाने दो। शान्त हो जाओ।

मदनरेखा की बात सुनते ही द्वाररक्षक शान्तिपूर्वक खड़े हो गये। राजा मणिरथ उस समय सोचने लगा—'अब मदनरेखा मुझे चाहने लगी है। ऐसा न होता तो वह मेरी जान क्यों बचाती ? अपने पति को न रोकर मेरी रक्षा के लिए क्यों दौड़ी आती ?' 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।'

इस प्रकार अपने विचारों से प्रसन्न होता हुआ मणिरथ घोड़े पर सवार होकर वहाँ से भागा। लेकिन पाप का फल भोगे बिना छुटकारा कहाँ ?

राजा मणिरथ के घोड़े का पैर एक साँप की पूंछ पर पड़ गया। पूंछ कुचलते ही साँप उछला और उसने मणिरथ को डँस लिया। मणिरथ चल बसा और चौथे नरक का अतिथि बना!

इधर मदनरेखा ने देखा—स्वामी वेदना से तड़फ रहे हैं। उसने घाव पर पट्टी बाँधी और उनका सिर अपनी गोद में रक्खा। उसने कहा—'नाथ! आपकी इहलोक-लीला दो घड़ी में समाप्त होने जा रही है। कृपा कर मेरी बात पर ध्यान दीजिए।'

युगबाहु ने आँख खोल कर कहा—'मदनरेखा, मुझे तुम्हारी चिन्ता हो रही है। तुम्हारा क्या होगा? भाई तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करेगा?'

मदनरेखा ने सोचा—स्वामी का मोह और क्रोध यों दूर न होगा। उसने एक ऐसा मंत्र पढ़ा जिससे करोड़ों साँपों का भी विष दूर हो सकता था। करोड़ो साँपों का विष दूर होना उतना कठिन नहीं है, जितना क्रोध का शान्त होना कठिन है। उसने पति से कहा:—

> मुझ अने बन्धु ऊपरे हो, प्रीतम! राग-द्वेष परिहार।
> सम परिणाम राखजो हो, प्रीतम! उतरोला भव पार॥
> हिरदै राखजो हो भवियन मँगलिक शरणा चार।

प्राणनाथ! अन्तिम समय में आपका यह क्या हाल है? आप मुझ पर राग और भाई पर द्वेष धारण किये हुए हैं। यह विपरीत बात क्यों? यह खड्ग, जो आपके शरीर में लगा है, आप के भाई मणिरथ ने नहीं, वरन् मैंने ही मारा है। आप उन पर अनावश्यक क्रोध क्यों कर रहे हैं? भाई को तो आप प्रिय ही

हैं। यदि भाई आप से प्रेम न करते तो अपने बेटे की उपेक्षा कर के आप को युवराज क्यों बनाते ? मेरी बात आपकी समझ में न आती हो तो आप स्वयं विचार कीजिए। अगर आप मेरे पति न होते और अगर मैं आपकी पत्नी न होती, तो आपके भाई आप से रुष्ट क्यों होते ? मैं आपकी पत्नी हुई और आप मेरे पति हुए, इसी कारण उन्होंने आपके ऊपर तलवार चलाई है। भाई के साथ आपका वैर कराने वाली मैं ही हूँ। आप मेरे स्वामी रहे, अतः आपको यह अवस्था भोगनी पड़ी है। मेरे स्वामी बनने का फल इसी जन्म में आपको यह भुगतना पड़ा। अगर अब अन्त समय भी आपका मन मुझ में लगा रहा तो परलोक में आपकी क्या अवस्था होगी ? आप अगर नरक के मेहमान बनेंगे तो आपका और मेरा फिर सम्मिलन न हो सकेगा। जब यह स्पष्ट है कि आपकी इस दशा का कारण मैं हूँ तो फिर आप भाई पर रोष और मुझ पर राग क्यों करते हैं ? आप परिणामों में समता लाइए। ऐसा करने से ही आत्मा को शान्ति मिलेगी और अन्त में शुभ गति का लाभ होगा।

अगर आप यह सोचते हों कि मैंने आपको सदा सुख ही पहुँचाया है, कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दिया, तब मृत्यु का कारण मैं कैसे ? तो मेरी बात सुनिये—

> म्हालो सज्जन जो होवे तो हो प्रीतम ! खर्ची बाँधे साथ।
> आप परलोक सिधावता हो तो प्रीतम ! ये मुझ हाथ नो भाथ॥
> हिरदै राखजो हो भवियन मँगलिक शरणा चार।

प्रियजन वही है जो मुसाफिरी के समय साथ में खाना बाँध

देता है। आप परदेश जाते थे तब मैं 'खर्ची' बाँधा करती थी, परन्तु आज आप परलोक को यात्रा कर रहे हैं। इस यात्रा के समय भी अगर आप मेरी दी हुई खर्ची बाँध लेंगे तो मैं और आप दूर नहीं हैं। आप समस्त चिन्ताओं का भार हटा दीजिए और निश्चिन्त होकर साम्यभाव धारण कीजिए।

मित्रो ! आजकल आप लोगों का रहन-सहन और ही प्रकार का हो रहा है। आप ऐसे 'व्हाले' सज्जनों के पाले पड़े हैं जो ऐन मौके पर धोखा देते हैं। मदनरेखा के समान 'व्हाले' सज्जन ही अन्त समय में इस प्रकार की खर्ची दे सकते हैं। दूसरे तो आपके पास की खर्ची भी छीन लेंगे—अपने पास की देना तो दरकिनार रहा।

मदनरेखा कहती है—'इस समय आपके लिए सबसे श्रेष्ठ यही खर्ची है कि आप मुझ पर राग न कीजिए और अपने भाई पर द्वेष न कीजिए।'

जब तलवार मारने वाले भाई पर ही द्वेष न रहेगा तो क्या किसी दूसरे पर वह रह सकेगा ?

'नहीं !'

तो फिर सब मिल कर बोलो:—

> खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
> मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥

मदनरेखा कहती है—नाथ। यह शान्ति का समय है। आप सब जीवों से क्षमा की अभिलाषा कीजिए—क्षमा-याचना कीजिए और सर्व प्रथम अपने भाई से ही क्षमा माँगिए।

मित्रो ! युगबाहु का अपने भाई से अधिक वैरी कौन होगा ? अगर किसी ने आपका अधिक से अधिक अनिष्ट किया होगा, तो आपको धन संबंधी हानि पहुँचाई होगी या अन्य प्रकार से आपका चित्त दुःखित किया होगा। मणिरथ ने जैसे युगबाहु का सिर काटा उस प्रकार आपका सिर तो किसी ने नहीं काटा होगा ? इस प्रकार मणिरथ घोरतम अपराधी था, फिर भी अन्त समय में युगबाहु ने ही उससे क्षमा चाही। ऐसी अवस्था में, आज परम मंगलमयी संवत्सरी के दिन आप चुप रहेंगे ? क्या आप अपने हृदय में राग-द्वेष रहने देंगे ?

मदनरेखा कहती है—'इस शरीर का त्याग तो करना ही है, फिर यह खर्ची लेकर ही शरीर का त्याग कीजिए।' कहो, व्हाला सज्जन कौन है ? इसी से कहते हैं—

अरे ओ सज्जनो ! व्हाला, पिजो नी प्रेम ना प्याला।

मदनरेखा कहती है—आप मेरा दिया हुआ प्याला पीजिए। इस जीवन में यह मेरी अंतिम भेंट है। बस, राग-द्वेष का त्याग कर दीजिए।

मित्रो ! आप लोग समय का ठीक ठीक विभाग नहीं करते, इसलिए आपका जीवन अस्त-व्यस्त हो रहा है। दिन रात के चौबीस घंटे होते हैं। नींद लिए बिना काम नहीं चल सकता, अतएव छह घंटे नींद में गये। बिना आजीविका के भी काम नहीं चलता, इसलिए छह घंटे आजीविका के निमित्त निकल गए। शेष बारह घंटे बचे। इनमें से छह घंटे आहार-विहार, स्नान आदि कार्यों में व्यय होगये, क्योंकि इनके बिना भी जीवन-निर्वाह नहीं

हो सकता। तब भी छह घंटे बचे रहते हैं। यह छह घंटे आप मुझे दे दीजिए। अगर आप इतना समय भी नहीं दे सकते तो चार घंटे ही दीजिए। यह भी न बन पड़े तो दो घंटे और अन्त में कम से कम एक घंटा तो दे ही दीजिए। इतना समय भी अगर आपने धर्म-कार्य में न लगाया तो स्मरण रक्खो यह मनुष्य शरीर रूपी अनमोल रत्न पाकर व्यर्थ गँवा दोगे। मदनरेखा के उपदेश का एक घंटा युगबाहु के लिए क्या फल लाया ? मणिरथ और युगबाहु एक ही माता के उदर से उत्पन्न हुए थे। दोनों की साथ ही मृत्यु भी हुई। मणिरथ साँप के काटने से मरा और युगबाहु मदनरेखा की गोद में। लेकिन दोनों की मृत्यु में कितना अन्तर हुआ ? मणिरथ नरक की घोर यातनाओं का पात्र बना और युगबाहु स्वर्ग की दिव्य विभूति का अधिकारी हुआ।

आज काठियावाड़ से लेकर पंजाब पर्यन्त, जहाँ कहीं भी जैन धर्म का अनुयायी संघ है, सब एक ही दिन संवत्सरी की आराधना करेंगे। अतएव हमारी आराधना एक की आराधना नहीं है। इस आराधना में लाखों नर-नारियों के हृदय की पवित्रता का बल है।

मैंने आपसे एक घंटे का जो समय माँगा है उसमें चतुर्विध संघ की नौकरी बजानी है। भगवान् महावीर चतुर्विध संघ में ही हैं। साधु इस संघ रूपी अंग के मस्तक हैं। मस्तक का काम अच्छी-अच्छी बातें बताना है; साधु भी यही करते हैं। साध्वियाँ, अगर अपने कर्त्तव्यपालन में तत्पर और दृढ़ हों तो, संघ-अंग की भुजाएँ हैं। श्रावक उदर के स्थान पर हैं। उदर आहार

आदि अपने भीतर रख कर मस्तक, भुजा आदि समस्त अवयवों का पोषण करता है, इसी प्रकार श्रावक साधुओं और साध्वियों का भी पालन करता है और स्वयं अपना भी। पेट स्वस्थ और विकारहीन होगा तो ही मस्तक और भुजा आदि अवयव शक्तिशाली या कार्यक्षम हो सकते हैं। इस प्रकार भगवान् महावीर के संघ रूपी अंग में श्रावक पेट और श्राविका जंघा है।

वेदान्त में ईश्वर के विराट रूप की चार वर्णों में कल्पना की गई है। ईश्वर के उस विराट रूप में ब्राह्मण को मस्तक, क्षत्रिय को भुजा, वैश्य को उदर और शूद्र को पैर रूप में कल्पित किया है। इसी प्रकार भगवान् महावीर का संघ ही अंग है। जब तक सब अवयव एक दूसरे के सहायक न बनें तब तक काम नहीं चलता। आज संघ तो महान् है पर उसमें सग नहीं दिखाई देता। संग का तात्पर्य है, जंघा का पेट को, पेट का भुजा को, भुजा का मस्तक को, मस्तक का भुजा, पेट एव जंघा को, भुजा का पेट, मस्तक और जंघा को, पेट का मस्तक, भुजा और जंघा को और जंघा का मस्तक, भुजा और पेट को सहायता देना। चारों अंगों का संगठन होना चाहिए। मस्तक में ज्ञान हो, भुजा में बल हो, पेट में पाचन शक्ति हो और जंघाओं में गतिशीलता हो, तो अभ्युदय में क्या कसर रह जायगी ? अगर संघ-शरीर के संगठन के लिए सर्वस्व का भी त्याग करना पड़े तो भी वह त्याग कोई बड़ी बात नहीं होनी चाहिए। संघ के संगठन के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने में भी पश्चात्पद नहीं होना चाहिए। संघ इतना महान् है कि उसके संगठन के हेतु, आवश्यकता पड़ने पर पद और अहंकार का मोह न रखते हुए, इन सब का त्याग

कर देना श्रेयस्कर है। आज यदि संघ सुसंगठित हो जाय, शरीर की भाँति प्रत्येक अवयव एक-दूसरे का सहायक बन जाय, समस्त शरीर का श्रेय ही एक अवयव का मुख्य लक्ष्य हो जाय, तो साधुता की वृद्धि हो, संघ-शक्ति का विकास हो तथा धर्म एवं समाज की विशिष्ट उन्नति हो। इस पवित्र और महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मैं तो अपनी पद मर्यादा को भी त्याग देने के लिए तैयार हूँ। संघ की सेवा में पारस्परिक अनैक्य को कदापि बाधक नहीं बनाना चाहिए।

मैं पूछता हूँ, जिस कार्य से चारित्र में वृद्धि और भगवान् की आज्ञा का पालन होता है, उसमें आप भी शरीक हैं ?

'अवश्य हैं !'

मगर ऐसा न हो कि यशोलाभ के लिए शरीक भी हो जावें और भीतर-भीतर पोल भी चलती रहे।

मैं संघ का ऋणी हूँ। संघ का मुझ पर क्या ऋण है, यह बात मैं साहित्य में पण्डितराज कहलाने वाले जगन्नाथ कवि की उक्ति में कहना चाहता हूँ :—

> भुक्ता मृणाल पटली भवता निपीता-
> न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
> रे राजहंस ! वद तस्य सरोवरस्य,
> कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ॥

यह अन्योक्ति अलंकार है। भाव यह है कि—एक सरोवर पर राजहंस बैठा था। एक कवि उसके पास होकर निकला।

राजहंस को देखकर कवि ने कहा—हे राजहंस, मैं यहाँ रह कर तेरी क्रिया देखता रहता हूँ। तू कमल का पराग निकाल कर खाया करता है और पराग से सुगंधित हुए जल का पान करता रहता है। तू इधर से उधर फुदक कर, कमलिनी के कोमल-कोमल पल्लवों पर विहार किया करता है। तू यह सब तो करता है; मगर मैं यह पूछता हूँ कि इस सरोवर का तुझ पर जो ऋण है, उससे मुक्त होने के लिए तू क्या करेगा? तुम किस प्रतिदान से इस ऋण से उऋण होओगे?

कवि राजहंस को सम्बोधित करके कहता है—मैं तुम्हें एक काम बताता हूँ। अगर तुम वह काम करोगे तब तो ठीक है, अन्यथा धिक्कार के पात्र बन जाओगे। वह काम क्या है? तुम्हारी चोंच में दूध और पानी को अलग-अलग कर देने का गुण विद्यमान है। अगर इस गुण को तुम बनाये रहे तब तो यह सरोवर प्रसन्न होगा और कहेगा—वाह! मेरा बच्चा ऐसा ही होना चाहिए! इसके विपरीत अगर तुमने इस गुण में बट्टा लगाया तो सरोवर के ऋणी भी रह जाओगे और संसार में हँसी के पात्र भी बनोगे।

यह अन्योक्ति अलंकार है अर्थात् किसी दूसरे को संबोधन करके, दूसरे से कहना है। इस उक्ति को मैं अपने ऊपर ही घटाता हूँ। यह संघ मानसरोवर है। मैंने संघ का अन्न खाया है। संघ ने मेरी खूब सेवा-भक्ति की है। संघ की सेवा का आश्रय पाकर मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचता, बल्कि संघ द्वारा मैं अधिकाधिक सम्मानित होता जाता हूँ। यह सब कुछ तो

हुआ; मगर गुरु महाराज मुझसे पूछते हैं—तुम कौन-सा काम करोगे, जिससे इस ऋण से मुक्त हो सको ?

साधु आपसे आहार लेते हैं। क्या आहार का यह ऋण साधुओं पर नहीं चढ़ता ? आप भले ही उसे ऋण न समझें और उसका बदला लेने की भावना न रक्खें, तथापि नीति-निष्ठ और धर्मप्रिय ऋणी की भाँति इस ऋण का बदला तो चुकाना ही चाहिए। जो साधु सच्चा है, वह अपने ऊपर संघ का बोझ अवश्य ही अनुभव करेगा। मैं अपने ऊपर संघ का ऋण मानता हूँ, इसलिए प्रश्न यह है कि मैं संघ के ऋण से किस प्रकार मुक्त हो सकता हूँ ?

एक आचार्य की हैसियत से सत्यासत्य का विवेक रखते हुए निर्णय करना मेरा कर्त्तव्य है। सत्य-निर्णय से अगर मेरी पोल खुलती हो तो खुले, दूसरे मुझ पर क्रुद्ध होते हों तो हो जाएँ, किसी प्रकार का खतरा मुझ पर आता हो तो आजाए, फिर भी सत्य निर्णय देना मेरा कर्त्तव्य है। यदि मैंने सत्य-असत्य का निर्णय करने में प्रमाद न किया, निष्पक्ष भाव से सत्य-असत्य का निर्णय किया तो मैं संघ के ऋण से मुक्त हो सकूंगा। विपरीत आचरण करने से संघ का ऋण भी मुझ पर लदा रहेगा और मैं संसार में धिक्कार का पात्र बन जाऊँगा।

ठाणांगसूत्र में कहा गया है कि निष्पक्ष होकर, विवेक पूर्वक संघ में शान्ति रखने वाला महानिर्जरा का पात्र होता है। संघ का आचार्य होने पर भी अगर मैं निष्पक्ष न बन सका, मैं अपने कर्त्तव्य का भलीभाँति पालन न कर सका, तो संघ का ऋणी

बने रहने के साथ ही कमलप्रभाचार्य के समान मेरी भी गति होगी ।

कमलप्रभ आचार्य ने तीर्थंकर गोत्र बाँधने की सामग्री इकट्ठी करली थी । इनके आने पर लोगों ने सोचा था कि अब समस्त चैत्यालयों का उद्धार हो जाएगा । किन्तु कमलप्रभ आचार्य ने साफ कह दिया कि भगवान् के नाम पर फूल की पंखुरी भी चढ़ाना सावद्य है । चैत्यालय आदि भगवान् की आज्ञा के काम नहीं है । ऐसे निष्पक्ष और साहसी कमलप्रभाचार्य थे, मगर एक विपरीत स्थापना* के कारण सावद्य आचार्य कहलाने लगे ।

इसी सम्बन्ध में मैं आपसे एक बात और कहना चाहता हूँ । जैसे राजहंस के लिए सरोवर है, उसी प्रकार क्या आपके लिए भारतवर्ष नहीं है ? क्या आपने भारत का अन्न नहीं खाया है ? पानी नहीं पिया है ? आपने भारत में श्वास नहीं लिया है ? क्या यह शरीर भारत के अन्न-जल से नहीं बना है ?

आपने इसी भारतभूमि पर जन्म ग्रहण किया है । इसी भूमि पर आपने शैशव-क्रीड़ा की है । इसी भूमि के प्रताप से आपके शरीर का निर्माण हुआ है । हंस ने मानसरोवर से जो कुछ प्राप्त किया है उससे कहीं बहुत अधिक आपने अपनी जन्म-भूमि से पाया है । अतएव हंस पर मानसरोवर का जितना ऋण है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऋण आपके ऊपर अपनी जन्म-भूमि का है । इस ऋण को आप किस प्रकार चुकाएँगे ?

आपका यह शरीर भारत में बना है या किसी विदेश में ?

---

* साध्वी के चरण छूने की स्थापना ।

'भारत में !'

फिर आपने भारत को क्या बदला चुकाया है ? विलायती वस्त्र पहन कर, विलायती सेंट लगा कर, विलायती बिस्कुट खाकर, विलायती चाय पीकर, विलायती वेशभूषा धारण करके और विलायती भावना को अपना कर ही क्या आप अपनी जन्मभूमि का ऋण चुकाना चाहते हैं ? ऐसा करके आप कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं ?

कल एक समाचार-पत्र से मैंने वह संदेश सुना था जो गांधीजी ने अमेरिका को दिया था। इतना समय नहीं है कि मैं उस संदेश का विवरण करके आपको समझाऊँ, फिर भी संक्षेप में मैं कहता हूँ।

एक वे भारतीय हैं जो पक्षपात के वश होकर अथवा भय के कारण ऐसे दबे हुए हैं कि जानते हुए भी सत्य नहीं कहते। इसके विपरीत दूसरे वे हैं जो भारत की ओर से अमेरिका को निर्भय, निःसंकोच होकर इस प्रकार का संदेश दे सकते हैं। आप भगवान् महावीर के श्रावक हैं। आपसे जगत् न्याय की आशा करता है। अगर आप समुचित न्याय नहीं दे सकते या उस न्याय की मान्यता को अंगीकार नहीं कर सकते, तो फिर ऐसा कौन करेगा ?

आप पर जिसका ऋण चढ़ा है, उसका ऋण चुकाये बिना केवल 'खमत खामना' कर लेने से ही क्या ऋण चुक जायगा ? आप आज समस्त जीवों से 'खमतखामना' करेंगे तो क्या भारत से भी 'खमतखामना' न करेंगे ? भारत और भारतीय में आधार-

आधेय का संबंध है। यही नहीं, लक्षणा वृत्ति से, जो अर्थ करने की पद्धतियों में से एक मुख्य पद्धति है, भारत का अर्थ भारतीय अर्थात् भारत का निवासी होता है। ऐसी स्थिति में भारत से 'खमातखमना' करने का अर्थ भारतीयों से क्षमायाचना करना है। आप आज भारत से किस प्रकार क्षमा-याचना करेंगे ? क्या इस क्षमायाचना के पश्चात् भी आपकी भारत का अनिष्ट करने वाली प्रवृत्ति जारी रहेगी ? अगर ऐसा हुआ तो आप संवत्सरी महापर्व को जगत् में उपहासास्पद बनाएँगे। इससे आपका भी अकल्याण होगा। आपके अन्तःकरण में एक प्रकार की धृष्टता उत्पन्न होगी। अतएव मित्रो ! अगर आप आज संवत्सरी पर्व के उपलक्ष्य में, निर्मल अन्तःकरण से भारत से क्षमायाचना करना चाहते हैं तो ऐसे कर्त्तव्यों को अपनाइए, जिससे आप उसके ऋण से मुक्त हो सकें। भारत का मंगल-साधन करने वाली प्रवृत्तियों से विमुख न रहकर और अमंगलजनक व्यापारों का परित्याग करके ही आप भारतवर्ष से क्षमायाचना कर सकते हैं।

एक विद्वान् का कथन है कि फ्रांस स्वाधीनता का जनक है, रूस ने साम्यवाद को जन्म दिया है और भारतवर्ष में बन्धुता की उत्पत्ति हुई है। फ्रांस में स्वाधीनता के लिए, रूस में साम्यवाद के लिये और भारतवर्ष में बन्धुता के लिए क्रांति हुई थी।

स्वाधीनता के लिए शारीरिक बल का उत्कर्ष हुआ, साम्य सैन्यबल से प्राप्त हुआ और बन्धुता सहनशक्ति से मिली। स्वाधीनता और साम्य के नाम पर रक्त की नदियाँ बही हैं, पर बन्धुता सहन कर जाती है। वह सब को क्षमा कर देती है।

जैन शास्त्रों में दस प्रकार के यतिधर्म कहे गये हैं। क्षमा उन सब में प्रथम है। क्षमा के लिए अहिंसकता, त्याग, अलोलुपता आदि अनेक गुणों की आवश्यकता है। इनके विद्यमान होने पर ही सच्ची क्षमा आती है।

गांधीजी ने इंग्लैण्ड में बैठकर अमेरिका को जो संदेश दिया है, वह शायद सभी भाषाओं में प्रकाशित हुआ होगा, पर मैंने एक हिन्दी के समाचार-पत्र में इस प्रकार छपा देखा है :—

'अभी तक संसार की जातियाँ आपस में पशुओं की तरह लड़ती थीं। मगर भारतीयों ने अनुभव किया कि वह कानून जो पशुवृत्ति पैदा करता है, मानव जाति का नेतृत्व नहीं कर सकता। मैं व्यक्तिगत तौर पर हिन्दुस्तान की आजादी को खूनी तरीकों से लेने के बजाय सदियों की प्रतीक्षा करने को तैयार हूँ। संसार रक्तलीला से तंग आ गया है। और मेरा विश्वास है कि शायद भारत के भाग्य में ही संसार को उस दयनीय दशा से छुटकारा देना लिखा हो। मै भारत के उस महान् अहिंसात्मक युद्ध में हार्दिक सहयोग देने के लिए प्रत्येक जाति को निमंत्रित करता हूँ।'

गांधीजी ने अपने संदेश के आरंभ में ही खूनी लड़ाई लड़ने वाली जातियो को पशु बतलाया है। अगर गांधीजी में आत्म-बल न होता तो लोग उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते और कहते— 'क्या हम पशु हैं ?' किन्तु उनके आत्मबल से प्रभावित होकर ही लोग उनके कथन में सत्य का आभास पाते हैं और हर्ष के साथ उनका संदेश पढ़ते हैं।

देखो, एक भारतीय वे भी हैं जो भारत का नमक-पानी खा करके भी भारत के साथ धोखा कर रहे हैं। और गांधीजी भी भारतीय हैं जो संसार में, भारतवर्ष को एक महान् आदर्श का संस्थापक बनाकर उसका गौरव बढ़ाने में लगे हुए हैं। वे विश्व को अहिंसा का अमृत प्रदान करके उसे मौत से बचा लेने के लिए छटपटा रहे हैं।

इससे आगे चलकर गांधीजी ने उस कानून को, जो शस्त्र-बल और मारकाट को वैधरूप प्रदान करता है, पशुबल बतलाया है। वह कानून मानवजाति का नेतृत्व नहीं कर सकता। ऐसे कानून से विश्व की मानवता का ह्रास ही हुआ और होता है। उसने मनुष्यता को कलंकित किया है। मनुष्यता के उज्ज्वल पट पर वह कानून एक काला धब्बा है। उसने मनुष्य को पशु बनाने में सहायता पहुँचाई है। नवयुग के प्रभात में श्वास लेने वाला मानव ऐसे कलंकमय कानून का अनुसरण नहीं करेगा। कौन भला आदमी, मनुष्य को पशु बनाने वाले कानून के आगे मस्तक झुकाएगा?

जैन लोग एक चिउँटी को बचाने में भी दया मानते हैं तो मनुष्य-रक्षा में क्यों नहीं मानेंगे? मगर जब पृथ्वी पर मनुष्यों के रक्त की धारा नदी की भाँति प्रवाहित होती है, तब साहस-पूर्वक आगे आकर उसे रोकने, उसका खुल्लमखुल्ला विरोध करने का सामर्थ्य उनमें कहाँ है? वे मरते हुए पशु को तो चाहे छुड़ा देंगे, लेकिन मानवीय युद्ध के विषय में कहेंगे—'राजाओं का विग्रह तो महाराज भरत के समय से ही चला आ रहा है।'

लेकिन आज गांधीजी पुकार कर कहते हैं—'पशुबल वाला कानून मानव जाति का नेतृत्व नहीं कर सकता।'

इससे आगे चल कर गांधीजी कहते हैं—खूनी तरीके से अर्थात् मारकाट करने से यदि स्वराज्य मिलता हो तो मैं सैकड़ों वर्षों तक बिना स्वराज्य के रहना पसन्द करूंगा; इतने लम्बे समय तक प्रतीक्षा करता रहूँगा परन्तु मारकाट के तरीके से स्वराज्य न लूंगा।

संसार रक्तलीला से घबराया हुआ है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का, एक जाति दूसरी जाति का और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का गला काटते-काटते घबरा चुका है। विश्व के इतिहास के पन्ने रक्त की लालिमा से रँगे हुए हैं। दुनिया की प्रत्येक मौजूदा शासन-पद्धति खून-खच्चर की भयावह स्मृति है। कौन-सा राज्य है, जिसकी नींव खून से न सींची गई हो? कौन-सी सत्ता है जो मनुष्यों का खून पिये बिना मोटी-ताजी बनी हो? आज सारा संसार ही जैसे वध, ध्वंस, विनाश और संहार के बल पर संचालित होता है। यह स्थिति घबराहट पैदा करने वाली है। आखिर मनुष्य यह स्थिति कब तक सहन करता चला जायगा?

आगे गाँधीजी ने कहा है—इस असह्य स्थिति का नाश करना शायद भारत के ही भाग्य मे लिखा है। भारत ही मनुष्य की इस पशुता का नाश करने में नेतृत्व करेगा। भारत की संस्कृति में अहिंसा को जो उच्चतर स्थान प्राप्त है, भगवान् महावीर ने अहिंसा का जो आदर्श जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया है, वही आदर्श भारतीयों को आगे आने में प्रेरक बनेगा।

मित्रो ! आज आप लोग विदेशी वस्त्राभूषण, खानपान और भावना को अपनाने में अपने आपको कृतार्थ समझते हैं; आप अपनी मौलिक संस्कृति को नगण्य समझ कर उसके प्रति अपना उपेक्षा-भाव प्रदर्शित करते हैं, या घृणा करते हैं, लेकिन गांधीजी क्या कहते हैं ? गांधीजी कहते हैं—'यूरोप, एशिया और अमेरिका को अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को रक्तपात से अगर कोई बचा सकता है तो भारत ही बचा सकता है'। मैं पूछता हूँ—क्या भारत के पास तोपें, मशीनगनें और बम हैं ? नहीं ! तो फिर भारत दुनिया को भीषणता से किस प्रकार बचा सकेगा ? इसका उत्तर यह है कि भारतवर्ष के पास भले ही पाशविक शक्ति नहीं है, परन्तु वह अहिंसा और सत्य की दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न है। रक्त से रक्त नहीं धुलता—पशुबल से पशुबल का विनाश नहीं होता। रक्त धोने के लिए निर्मल नीर अपेक्षित है और पशुबल की सत्ता को भंग करने के लिए दैवीबल की आवश्यकता है। भारतवर्ष ने अहिंसा और सत्य का जो झंडा गाड़ा है, उस झंडे की शरण ग्रहण करने से ही संसार की रक्षा होगी। अन्य देश जहाँ तोपों और तलवारों की शिक्षा देते हैं वहाँ भारतवर्ष अहिंसा का पाठ सिखाता है। भारत ही अहिंसा का पाठ सिखा सकता है, किसी दूसरे देश की संस्कृति में यह चीज ही नजर नहीं आती। बन्धुता का जन्म भारत में ही हुआ है। भारतीय स्त्रियों ने ही शान्ति और प्रसन्नता के साथ लाठियों की मार खाकर दुनिया को अहिंसा की महत्ता दिखलाई है। ऐसी क्षमता किसी विदेशी नारी में है ?—हर्गिज नहीं।

अहिंसा का अनमोल वरदान जब भारत संसार को दे रहा

है, तब भी क्या आप चर्बी के वस्त्र पहनेंगे ? अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए मैं तो मिल मात्र के कपड़ों का निषेध करता हूँ।

अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए बड़ी कीमत चुकाने की आवश्यकता है। भारतीय लोग आज अपने प्राणों का मूल्य देकर अहिंसा की प्रतिष्ठा करने में संलग्न हैं। स्वयं मर जाना स्वीकार है पर मारने वाले को मारना स्वीकार नहीं; यहाँ तक कि उस पर रोष का भाव उत्पन्न होने देना भी स्वीकार नहीं; इस प्रकार की दृढ़ता और साहस से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है। भारत के धार्मिक इतिहास को देखो, जैन शास्त्रों के कथानुयोग का पारायण करो तो विदित होगा कि हमारे पूर्वजों ने अहिंसा का आत्मबल प्राप्त करने के निमित्त क्या किया है ? ऐसी स्थिति में आपसे अगर साधारण त्याग की आशा की जाती है, तो क्या वह भी पूरी न करोगे ?

भारत के वस्त्र चले जाने से भारत का गौरव मरा तो नहीं था, लेकिन विलुप्त अवश्य हो गया था। अब ज्यों ही भारत ने अपने वस्त्र बदले, वही पुराने अपने देश के वस्त्र अपनाये, त्यों ही भारत में एक नवीन दिव्य शक्ति का आविर्भाव हुआ है। नल करकोटक के काटने से कुबड़ा हो गया था; परन्तु यम ने उसे कपड़े देकर कहा—'लो, यह कपड़े पहनो, इन्हें पहनते ही पहले की भाँति शरीर सुन्दर-सुडौल बन जायगा।' यह पुराण का आख्यान है। भारत के साथ तुलना करने के लिए यह बड़े काम का है। जैसे नल, दमयन्ती के सामने उन वस्त्रों को पहनते ही पूर्व की भाँति दिव्य-शरीर बन गया था, उसी प्रकार भारत-

वर्ष भी ज्यों ज्यों अपने वस्त्रों को अपनाता जाता है त्यों-त्यों अपने पूर्ववर्त्ती गौरव को प्राप्त करता जाता है।

भारतीय लोगों ने हिन्दुस्तान को नङ्गा करके मैंचेस्टर के कपड़े पहने थे, इस कारण उनमें कुरूपता आगई थी। अब मैंचेस्टर के कपड़े फैंक कर अपने देश के शुद्ध कपड़े पहनते ही उनमें एक प्रकार की तेजस्विता आने लगी हैं। गांधीजी द्वारा अमेरिका को दिया गया संदेश उस तेजस्विता का जीवित प्रमाण है।

अगर किसी की फाँसी रुपया देने से छूटती हो तो आप लोग इसके लिए कितना चन्दा देंगे ? यदि सरदार भगतसिंह की फाँसी रुपया देने से कट सकती तो, मैं समझता हूँ, गरीब से गरीब भारतीय भी भूख का कष्ट सहन करके पाँच रुपया प्रसन्नतापूर्वक दे देता। जब एक व्यक्ति की फाँसी के विषय में यह बात है तो सम्पूर्ण संसार को फाँसी से बचाना क्या उससे अत्यधिक मूल्यवान नहीं है ? व्यक्ति चाहे जितना महान् हो फिर भी समष्टि के मुकाबिले उसकी महत्ता कम ही है। किसी भी अवस्था में एक व्यक्ति समष्टि से अधिक वजनदार नहीं हो सकता; क्योंकि समष्टि के वजन में उस व्यक्ति का भी वजन सम्मिलित है, और साथ ही अन्य व्यक्तियों का भी, जो उस समष्टि के अंग हैं। अतएव व्यक्ति की अपेक्षा उस समूह का, जिसमें वह स्वयं भी सम्मिलित है, सदैव अधिक मूल्य ठहरेगा। इसलिये मैं कहता हूँ कि एक व्यक्ति की रक्षा की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और श्रेय-

स्कर है। गाँधीजी ने अमेरिका को जो संदेश भेजा है उसमें समस्त संसार की फाँसी छुटाने का प्रयोजन है। संसार अहिंसा की आराधना द्वारा ही फाँसी से छुटकारा पा सकता है। अहिंसा देवी की वात्सल्यमयी गोदी में जब प्रत्येक राष्ट्र सन्तान की भाँति लोटेगा, तभी उसमें सच्चा बन्धुत्व पनप सकेगा। अहिंसा भगवती ही बन्धुत्व का अमृत संचार कर सकती है। अहिंसा माता के अतिरिक्त और किसी का सामर्थ्य नहीं कि वह बन्धुभाव का प्रादुर्भाव कर सके और आत्मीयता का सम्बन्ध विभिन्न राष्ट्रों एवं विभिन्न जातियों में स्थापित कर सके। विभिन्न-विभिन्न समयों में जन्म लेने वाले व्यक्ति एक ही माता के हृदय का रस-पान करके सहोदर बन जाते हैं; इसी प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के मानव जिस दिन एक अहिंसा माता का अमृत रस-पान करेंगे उसी दिन वे 'सहोदर' बन सकेंगे।

भारत का यह परम सौभाग्य है कि उसे चिरन्तन प्राचीन काल से अहिंसा का आदर्श सिखलाया जाता रहा है। भारत में, अहिंसा पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि उसी को परम धर्म माना जाता है। भगवान् महावीर ने इस दैवी भावना का जीवन-व्यवहार में प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता के विषय में की जाने वाली समस्त शंकाओं का निरसन किया था और आज गांधीजी ने पुनः उस भावना को सजीव रूप प्रदान करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। हाँ, अगर भारत में अहिंसा की भावना पहले से विद्यमान न होती तो कौन जाने गांधीजी किस पथ पर अग्रसर हुए होते? अगर उन्होंने अहिंसा का पथ ही निर्माण किया होता तो, भगवान् ही जाने, कौन उनकी बात सुनता?

लेकिन नहीं, भारत अहिंसा की महिमा समझता है। इसी के बल पर तो गांधीजी आज अहिंसा का सिंहनाद अमेरिका तक पहुँचा रहे हैं। इस स्थिति में आपका यह परम कर्त्तव्य है कि आप गांधीजी के स्वर में स्वर मिला कर उनके नाद को अधिक बुलंद बनावें और अपने व्यवहार से उसकी सत्यता प्रमाणित करें।

गांधीजी ने अपने संदेश में, अन्त में, संसार की समस्त जातियों को अहिंसा के युद्ध में हार्दिक सहयोग देने के लिए आमंत्रित किया है।

आप यह न भूल जाएँ कि गांधीजी ने जो आमंत्रण दिया है, वह अकेले गांधीजी का आमंत्रण नहीं हैं। गांधीजी देश के प्रतिनिधि होकर गये हैं। अतएव उनका दिया हुआ आमंत्रण समस्त भारत का आमंत्रण है। इसका अर्थ यह हुआ कि आज सारा भारतवर्ष, अहिंसा-युद्ध में सहयोग देने के लिए इतर देशों को निमंत्रित कर रहा है। आप भारतीय हैं, इसलिए वह निमंत्रण आपने भी दिया है।

इस निमंत्रण से आपके ऊपर कितना उत्तरदायित्व आ पड़ा है? आप दूसरों को सहयोग के लिए आमंत्रित करेंगे, तब आप स्वयं क्या करेंगे? क्या आप सर्वप्रथम सहयोग नहीं देंगे? बल्कि दूसरों से तो आप केवल सहयोग चाहते हैं, और वह सहयोग भी सिर्फ हार्दिक ही, सारा युद्ध तो आपको ही लड़ना है।

भारत रूपी मानसरोवर के राजहंसों! अगर तुम इतना भी न कर सके तो भारत का ऋण किस प्रकार चुकाओगे?

मैं संघ के संबंध में आपसे कह रहा था। अगर आप संघ

की विजय कराना चाहते हैं तो संघ का संगठन करो। वर्त्तमान युग इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह ऐसा युग है, जिसका भविष्य के साथ गहरा संबंध रहेगा। जैनों की संख्या ११-१२ लाख * के करीब है। यह संख्या पैंतीस करोड़ की जनसंख्या में नगण्य-सी है; फिर भी अगर आप सब संगठित हो जावें तो वीर-संघ की प्रतिष्ठा बढ़ा सकते हैं। अगर आप में संगठन का बल न होगा तो आप किसी गिनती में न रहेंगे। अतएव संगठित होकर अपनी शक्ति केन्द्रित करो और वीर संघ को शक्तिशाली बनाओ। संघ-सेवा का बहुत बड़ा माहात्म्य है। यह कोई साधारण कार्य नहीं है। संघ की उत्कृष्ट सेवा करने से तीर्थंकर गोत्र का बंध हो सकता है। अगर आप संघ की सेवा करेंगे तो आपका ही कल्याण होगा।

भारत की बन्धुता की अलौकिक भावना को जागृत करने का एक उत्कृष्ट साधन तप भी है। भारत में छह करोड़ आदमी भूखों मरते हैं। चौवीस करोड़ भी यदि प्रतिदिन भोजन करते हैं तो अगर वे भगवान् की आज्ञा के अनुसार एक मास में छह पोषध (परिपूर्ण उपवास) कर लें तो एक भी आदमी भूखा न रहे। अगर छह उपवास आपसे न हो सकें तो चार, दो या कम से कम एक ही करो। महीने में छह पौषध करने से आत्मिक लाभ तो होगा ही, साथ ही साथ और भी लाभ होंगे। डाक्टरों की शरण नहीं लेनी पड़ेगी, अपवित्र दवाइयां न खानी पड़ेंगी और कॉड-लीवर-आइल जैसी घृणित चीजों से बचे रहोगे।

आजकल अपने समाज में ज्ञान की बहुत कमी हो रही है।

* अब लगभग १५ लाख है। —सम्पादक

अभी एक-दो दिन पहले सर्वधर्मसम्मेलन का प्रश्न मेरे सामने आया था। मैं समाज के नियमों से बँधा हुआ हूँ, अब वहाँ कौन जावे ? शिक्षा की कमी के कारण समाज में अच्छे विद्वान न होने पर समाज का मुख कौन उज्ज्वल करे ?

आप जितना खर्च विवाह-शादियों में करते हैं, उतना न करके—उसमें कमी करके वह रकम ज्ञान-प्रचार में, शिक्षा के विकास में लगावें तो कितना महत्त्वपूर्ण काम हो जाय ? सुना है, सेठ जमनालालजी बजाज ने, जो लाखों की सम्पत्ति के अधिकारी हैं, अपनी पुत्री का विवाह सिर्फ ५०) रुपये में ही सम्पन्न कर दिया था। आप लोग विवाहों में कितना खर्च करते हैं ? अगर आप विवाहों में अनावश्यक खर्च न करें और उसके बदले शिक्षण संस्थाओं का पोषण करें, जिनके छात्र चारों ओर घूम कर धर्म-प्रचार करने के योग्य हों, तो संघ और धर्म का कितना लाभ हो सकता है ? ऐसा करने से समाज अशिक्षित कहलाने के बजाय शिक्षित कहलाने लगेगा। किसी भी समाज के सभी लोग पूर्ण शिक्षित नहीं होते, लेकिन थोड़े से लोग यदि उच्च श्रेणी के शिक्षित होते हैं तो उस समाज की लाज रह जाती है।

दवदहनजटाल ज्वालमालाहतानां।
परिगलित लतानां म्लायतां भूरुहाणाम् ॥
अयि जलधर! शैल। श्रेणी शृङ्गेषु तोयं।
वितरसि बहु कोऽयं श्रीमदस्तावकीनः ॥

कवि ने अलंकार-युक्त भाषा में कहा है—दुष्काल पड़ा हुआ है। ग्रीष्म की लपटें दावानल की तरह फैल रही हैं। उनसे

बड़े-बड़े पेड़ों की शाखाएँ सूख-सूख कर गिर रही हैं। संसार ऊजड़ा-सा प्रतीत होता है। सब जीवधारी पानी की ओर नजर लगाये बैठे हैं। ऐसी भयंकर स्थिति में मेघ की गर्जना हुई, बिजली का कड़ाका भी हुआ और अन्त में पानी भी बरसा। पर बरसा कहाँ? पहाड़ की चट्टानों पर! जहाँ पेड़ सूख रहे थे, मनुष्य मर रहे थे, वहाँ न बरसा! इस पर कवि कहता है—हे मेघ! तुझे भी लक्ष्मी का मद चढ़ा है। जहाँ आवश्यकता है वहाँ तो बरसता नहीं और जहाँ आवश्यकता नहीं वहाँ मूसलधार गिरता है!

यह उलहना किसको है? यह बाईस सम्प्रदाय एक बगीचा है! आनन्द और कामदेव जैसे श्रावक और श्रेणिक जैसे राजा इसके रक्षक और पोषक थे। वे अब नहीं रहे। रह गये हैं आप लोग, सो आप वहाँ खर्च करते हैं जहाँ आवश्यकता नहीं—जैसे विवाह-शादी, मृत्यु-भोज आदि में; और जहाँ आवश्यकता है, वहाँ अनुदार बन जाते हैं। ऐसा करने से समाज के बच्चे इधर-उधर भटकते फिरते हैं। कई विद्याभ्यास की प्रबल अभिलाषा होने पर भी विद्या से वंचित रह जाते हैं और कई तो दुःख के मारे विधर्मी और विजातीय बनकर-न करने योग्य काम भी करने लगते हैं।

आपमें सामर्थ्य है और उदारता भी है; पर है वह कवि के कहे हुए पानी के समान। आप अनाचार फैलाने वाली कुरूढ़ियों में, नाच-गान में, आतिशबाजी में और 'बिंदौरा' निकालने में हजारों फूँक देते हैं पर ज्ञान-प्रचार और शिक्षा-प्रचार के लिए मितव्ययिता का सबक रटने लगते हैं।

मित्रो ! आप लोग बादाम की कतली और पिश्ते की रोटियाँ खा-खा कर समाज को कब तक रुलाते रहोगे ? गरीबों के मुँह की रोटी छीन कर कब तक गुलछर्रे उड़ाओगे ? गरीबों का दुःख देख-देख कर ही गांधीजी बकरी का दूध लेते हैं—गाय-भैंस का दूध भी नहीं लेते।

लन्दन में चुंगी वालों ने गांधीजी से पूछा—'आपके पास महसूल के योग्य क्या सामान है ?' लेकिन उनके पास क्या धरा था ? उनके साथ वही सामान था जो किसी गरीब से गरीब आदमी के पास हो सकता था। जहाँ भारत का सच्चा सेवक, सारे देश का एकमात्र मान्य प्रतिनिधि इतनी गरीबी धारण किये हो, वहाँ आप अगर भोग-विलास का जीवन बिताएँ और बादाम की रोटियाँ खाकर जिह्वा लोलुपता के शिकार बने रहें, क्या यह शोचनीय बात नहीं है ? जहाँ व्यय करने से धर्म की जागृति होती है वहाँ सम्पत्ति का व्यय न करके विवाह-शादी में फूंको, जीमनवारों में बर्बाद करो, तो कवि की तरह मुझे भी आप लोगों से कहना पड़ेगा कि आपको मेघ की तरह अपनी लक्ष्मी का गर्व है। आज आप स्वेच्छा से इन बुरे और अनावश्यक खर्चों को भले ही न रोकें, लेकिन समय आ रहा है, तब आपको विवश होकर रोकना पड़ेगा। उस समय आपको यह खर्च रोकने पड़ेंगे और पश्चात्ताप के साथ रोकने पड़ेंगे। भाइयो, आप लोग बुरे कार्यों में धन व्यय करते हैं इससे आपकी शक्ति मारी गई है और समाज का ह्रास हो रहा है। इसलिए धन का व्यय करते समय विवेक से काम लो। अपनी और समाज एवं देश की बुराई-भलाई का विचार करो। औचित्य को स्मरण में रक्खो। शिक्षा-प्रचार

की ओर लक्ष्य दो। कुरिवाजों को छोड़ो। अनाचार फैलाने वाली प्रथाओं का परित्याग करो। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि को रोको। ऐसा करने से ही समाज का उत्थान होगा।

आपेदिरेऽम्बर पथं परितः पतङ्गा।
भृङ्गा रसाल मुकुलानि समाश्रयन्ति॥
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो।
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

जल से परिपूर्ण सरोवर था। किसी समय वह सूखने लगा। उसे सूखते देखकर कवि कहता है—हे सरोवर! जब तुम सूख जाओगे तो तुम्हारे तट पर बैठकर कलरव करने वाले पक्षी दूसरी जगह चल देंगे। तुम्हारे कमलों पर गुंजार करने वाले रसिक भौंरे फूले हुए आम्रवृक्षों को अपना विलासस्थल बना लेंगे। परन्तु तुम्हारे सूख जाने पर बेचारी मछलियों की क्या दशा होगी? वे कहाँ जाएँगी? वे तो तुम्हारी गोद में जन्मी हैं, उन पर तो दया करो!

कवि की इस उक्ति में करुणा रस कूट-कूट कर भरा है। कवि कहता है—जिन्हें अपने पंखों का बल है वे तो उड़ जाएँगे, लेकिन जिन्हें किसी का बल नहीं है, सिर्फ जल का ही बल है, वे अनन्योपाय मछलियाँ क्या करेंगी? उन्हें तो सिर्फ तुम्हारा ही भरोसा है!

मित्रो! आप लोगों के दान रूपी सरोवर में कई याचक पक्षी के समान हैं, कई भ्रमर के समान हैं और कई-एक मीन के समान हैं। अर्थात् कई ऐसे हैं जिन्हे आप सहायता दें तो भी ठीक है,

अगर न दें तब भी कोई हानि नहीं है। वे आपके ही भरोसे नहीं है। आप उन्हें सहायता न देंगे तो वे किसी और से सहायता ले लेंगे। जो याचक भ्रमर के समान हैं, मीठे-मीठे बोलने वाले, वे भी अन्य का आश्रम लेलेंगे। मगर जो मीन के समान हैं, अनन्यगति हैं, जिन्हें आपके सिवाय और दूसरे का आसरा नहीं हैं, उन्हें आप न देंगे तो वे क्या करेंगे ? तुम्हारे न देने से उनकी क्या गति होगी ? अतएव जो गरीब आपकी शरण हैं उन पर दया रक्खो। जब उन गरीबों में त्राहि-त्राहि मची हो तब आप वृथा और हानिकारक कार्यों में धन का व्यय करें, यह उचित नहीं है। मैंने कहा थाः—

> अरे ओ सज्जनो ! व्हाला, पियो नी प्रेम ना प्याला।
> धरी प्रभु नामनी माला, करो जीवन सफल आजे॥

आज जीवन सफल करने का दिन है। इसे यों ही न जाने देना।

हाँ, तो मदनरेखा ने अपने पति से कहा—'नाथ ! आप अपने भाई पर से वैर का भाव विसर जाइए।'

मदनरेखा के उपदेश से युगबाहु की आँखें खुलीं। उसने हाथ जोड़कर अपने सिर मे लगाये और सबसे क्षमा याचना की। युगबाहु ने मदनरेखा के उपदेशामृत का पान करके राग-द्वेष का त्याग कर दिया ! उसके अन्तःकरण में समभाव का संचार हो गया।

आप लोग भी आज सिद्धशिला से लेकर नरक-निगोद तक के जीवों से क्षमायाचना करेंगे। आपको पृथ्वीकाय, अप्काय,

तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी आदि-आदि की विभिन्न योनियों में भटकते-भटकते प्रबल पुण्य के योग से यह सुअवसर मिला है कि आप धर्मतत्त्व, आत्मतत्त्व आदि को समझ कर, प्राणीमात्र से वैरभाव भूलकर सबसे खमतखामणा कर सकें। इस सुयोग को सफल करने के लिए आज का दिन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैसे अर्जुन ने राधावेध साधा था उसी प्रकार सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण को साधकर सब प्राणियों से शुद्ध अन्तःकरण के साथ क्षमा की चाहना करोगे तो, अर्जुन के समान आपका कार्य भी सिद्ध होगा। दो घड़ी के लिए भी अगर आपके परिणामों में कोमलता, समता और शुद्धता आजायगी तो वह साधारण बात न होगी। युगबाहु को देखो, उसने दो ही घड़ी में क्या का क्या कर डाला! उसने स्वर्ग के योग्य अपनी स्थिति बना ली। युगबाहु पाँचवें देवलोक में, दस सागर की आयुवाला देव हुआ और इसके विपरीत मणिरथ चौथे नरक में इतनी ही स्थिति से नारकी हुआ।

युगबाहु का स्वर्गवास होते ही मदनरेखा ने सोचा—'अब यह घर मेरा नहीं है। इस घर में रहते मेरे सतीत्व की रक्षा होना कठिन है।' इस प्रकार सोच कर मदनरेखा जंगल में निकल गई। वहीं उसने पुत्र का प्रसव किया। किसी-किसी जगह ऐसा कथन किया गया है कि वह अपने नवजात शिशु को शिला पर पड़ा छोड़ कर चल दी; परन्तु यह कथन प्रामाणिक नहीं है। वास्तविक बात यह है कि मदनरेखा ने अपनी आधी साड़ी फाड़ कर शिशु को ओढ़ा दी और झोली बना कर उसे सुला दिया। इसके अनन्तर वह पास के सरोवर में स्नान

करने चली गई। उसने सोचा—मैं अभी सरोवर में स्नान करके आती हूँ, तब तक बालक वस्त्र की झोली में पेड़ से टँगा रहेगा।

ऐसा सोच कर मदनरेखा सरोवर पर पहुँची। संयोगवश उस सरोवर पर एक मदोन्मत्त हाथी पानी पीने आया था। उसने मदनरेखा को अपनी सूंड़ से पकड़ कर आकाश में उछाल दिया। उसी समय आकाश-मार्ग से एक विद्याधर जा रहा था। उसने ऊपर ही ऊपर मदनरेखा को झेल लिया। किन्तु मदनरेखा का रूप-लावण्य देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ और दुर्भावना से प्रेरित होकर उसे लेकर चलता बना। बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नतीजा कुछ न निकला। विद्याधर उसे लेकर अपने घर की ओर चल पड़ा। मदनरेखा सोचने लगी—मैं घर की विपदा की मारी वन में आई, अब वन में भी यह दूसरी विपदा आ पड़ी! एक दुष्ट के पंजे से छूटी तो दूसरे दुष्ट के चंगुल में फँस गई! आह! मेरे बच्चे की अब क्या दशा होगी?

मगर मदनरेखा साधारण महिला नहीं थी। उसने किसी प्रकार धीरज बाँध कर विद्याधर से पूछा—'आप कहाँ जा रहे थे और कहाँ जाने के लिए लौट पड़े हैं?'

विद्याधर—मेरे पिता मुनि हैं। उन्हीं के दर्शन करने जा रहा था। बीच में तुम मिल गई, इसलिए घर लौट रहा हूँ।

मदनरेखा—आप दर्शन करने जा रहे थे सो तो मैं मिल गई। अगर आप दर्शन कर लेते तो न जाने क्या मिलता?

कितना लाभ होता ! अगर आपकी इच्छा दर्शन करने की न हो, तब भी कृपा करके मुझे तो मुनि के दर्शन करा दीजिए।

मदनरेखा की बात विद्याधर को जँच गई। वह मदनरेखा सहित मुनिराज के पास गया। मुनिराज ने परस्त्री के विषय में उपदेश सुनाया। उन्होंने शील-अशील की मार्मिक व्याख्या करके बताया कि परस्त्री-मोह भव-भव में रुलाने वाला, घोर कष्टों का कारण और सत्पुरुषों द्वारा गर्हित है।

मुनि के उपदेश से विद्याधर को बोध हुआ। उसने मुनिराज को नमस्कार किया और उसके पश्चात् मदनरेखा को भी हाथ जोड़कर कहा—यह मेरी गुरु हैं, मेरे लिए माता के समान हैं। इन्होंने मेरा असीम उपकार किया।

युगबाहु पाँचवें स्वर्ग में देव हुआ था। उसने अवधिज्ञान से मदनरेखा का आगमन जाना। वह सोचने लगा—धन्य है मदनरेखा, मेरी पूर्वभव की प्रियतमा, जिसने दो ही घड़ी में अमृत पिलाकर मुझे अमरता (देवत्व) प्रदान की है।

देव अपने सब काम-काज छोड़कर मदनरेखा के दर्शन करने आया। आते ही उसने मदनरेखा को मस्तक झुकाया। यह देखकर विद्याधर कहने लगा—स्त्री का रूप-सौन्दर्य देवताओं को भी मुग्ध बना लेता है। इस देव को देखो, मुनिराज मौजूद हैं, पर उन्हें तो नमस्कार किया नहीं; पहले सुन्दरी स्त्री को नमस्कार करता है !

मुनि ने समझाया—तुम अबोध हो। तुम्हें वास्तविक घटना का पता नहीं है। यों तो यह इस देव की पूर्वभव की पत्नी है

और यों उसकी गुरु भी है। इसी की शिक्षा के प्रताप से इसे देवत्व प्राप्त हुआ है।

विद्याधर अपने विचार पर लज्जित हुआ। उसने क्षमायाचना की और मन में सोचा—मुनिराज की शरण को धन्य है! मैं सीधा घर चला जाता तो इस सती स्त्री से छेड़खानी करता। वहाँ यह देव भी अवश्य आता। उस समय मेरे व्यवहार से इसके कोप का पार न रहता और न जाने क्या अनर्थ हो जाता! मुनि महाराज की शरण आने से वह भावी अनर्थ टल गया और मैं पाप से भी बच गया। धन्य मेरा भाग्य!

मित्रो! आप लोग भी पराई स्त्री को माता मानते हैं न?

'हाँ!'

परस्त्री अगर माता है तो उससे जन्म लेने वाले आपके भाई हुए। इसलिए सब जीवों को अपना भाई मान कर उन पर दया करो, तो आपको आनन्द मिलेगा।

देव ने सती मदनरेखा से पूछा—अब आप क्या चाहती हैं?

मदनरेखा जिस बालक को पेड़ की शाखा में झोली बाँध कर सुला आई थी, उसे मिथिला का राजा पद्मरथ ले गया। पद्मरथ के कोई सन्तान नहीं थी। उसने इसी बालक को अपनी सन्तान मान कर उसका यथोचित लालन-पालन किया। यही बालक अन्त में राजर्षि नमि के नाम से विख्यात हुआ।

देव के प्रश्न के उत्तर में मदनरेखा ने, वन में पुत्र-जन्म होने की घटना कह सुनाई और उसके पास पहुँचने की तथा साध्वियों का दर्शन करने की अभिलाषा प्रकट की।

देव ने अपने ज्ञान में देखा तो उसे पता चला कि मदनरेखा का बालक मिथिला नगरी में राजा पद्मरथ के पास है। वह सती को मिथिला में ले आया। मिथिला में आकर देव ने पूछा—पहले बालक से मिलोगी या साध्वियों का दर्शन करोगे ?

मदनरेखा को बालक का समस्त वृत्तान्त विदित हो चुका था। उसने सोचा बालक का पालन-पोषण तो समुचित रूप से हो ही रहा है। संभव है उसे देखकर मातृ-हृदय-सुलभ मोह जागृत हो जाय और मैं फिर जगत् के जंजाल में पड़ जाऊँ। अतएव वह देव से बोली—मैं अभी लड़के को देखना नहीं चाहती। कृपा कर मुझे साध्वियों के पास ले चलिए।

देव ने मदनरेखा को साध्वियों के पास पहुँचा दिया। मदनरेखा ने दीक्षा धारण की और धर्म की आराधना करती हुई विचरने लगी।

मदनरेखा का एक लड़का चन्द्रयश सुदर्शनपुर में ही था। मणिरथ की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रयश ही सुदर्शनपुर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। दूसरा लड़का नमिराज मिथिला का राजा हुआ। एक बार इन दोनों राजाओं में एक हाथी के लिए आपस में झगड़ा हो गया। दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। खून-खच्चर होने की नौबत आ पहुँची।

महासती मदनरेखा ने दोनों भाइयों को समझा कर रक्तपात टाल देने के विचार से अपनी गुरु आर्याजी से आज्ञा माँगी। पहले तो उन्होंने सोचा—साध्वियों को राजकीय प्रपंच में पड़ना

ठीक नहीं है। किन्तु बाद में मदनरेखा को आज्ञा दे दी। मदनरेखा नमिराज के पास आई और उसे समझाया—राजा, तुम आपस में भाई-भाई होकर रक्तपात करने पर क्यों उतारू हुए हो? तुम्हें ऐसा तो नहीं करना चाहिए। चन्द्रयश तुम्हारे बड़े भाई हैं। तुम्हें उनका आदर करना उचित है।

नमिराज को आश्चर्य हुआ कि चन्द्रयश के साथ भला मेरा कैसा भाईचारा? अतएव उसने बात न मानी।

इसके बाद मदनरेखा चन्द्रयश के पास गई। वहाँ मदनरेखा को सभी ने पहचान लिया। सुदर्शनपुर में सर्वत्र राजमाता के आगमन की चर्चा फैल गई। चन्द्रयश तत्काल अपनी माता के पास आया। उसने अपने तत्कालीन गर्भस्थ भाई के विषय में प्रश्न किया। मदनरेखा ने कहा—'जिसका सिर काटने के लिए तुम तैयार हो रहे हो वही तो तुम्हारा वह भाई है।'

मदनरेखा ने चन्द्रयश को सब पूर्व वृत्तान्त सुनाया। चन्द्रयश की प्रसन्नता का पार न रहा। जो चन्द्रयश युद्ध के लिए तैयार था वही अपने भाई से भेंटने के लिए तैयार हो गया। युद्ध की तैयारियाँ स्वागत-साज के रूप में बदल गईं। अन्त में दोनों भाई प्रेमपूर्वक परस्पर गले लग कर मिले। साध्वीजी के प्रसाद से हजारों-लाखों जानें बच गईं।

मित्रो! आप लोग भी अगर इन दोनो भाइयों की भाँति प्रेमपूर्वक सब प्राणियों के प्रति वैरभाव त्याग कर क्षमायाचना करेंगे तो निश्चय ही आनन्द की प्राप्ति होगी।

चन्द्रयश ने अपना सम्पूर्ण राज्य नमिराज को सौंप कर

दीक्षा ले ली। कुछ दिनों पश्चात् राजा नमि ने भी संसार से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की।

मित्रो ! हमारा पथ शान्ति का पथ है। सब जीवों को शान्ति पहुँचाते हुए संवत्सरी पर्व की आराधना करोगे तो आनन्द का लाभ होगा।

महावीर-भवन,
देहली
ता० १६-९-२१.

परमतत्त्व की उपलब्धि

प्रार्थना

धरम जिनेसर मुझ हियड़े वसो, प्यारा प्राण समान ।
कबहुं न विसरुं हो चितारुं नहीं, सदा अखंडित ध्यान ॥ धरम० ॥

प्रार्थना, जीवन और प्राण का आधार है । प्रार्थना ही वह अनुपम साधन है, जिसके द्वारा प्राणी आनन्द-धाम में स्वच्छन्द विचरण करता है । जो प्रार्थना प्राणरूप बन जाती है वह भले ही सीधी-सादी भाषा में कही गई हो, ग्राम्य भाषा द्वारा की जाती हो या प्राकृत-संस्कृत भाषा द्वारा की जाती हो, प्रार्थना

करने वाले को चाहे संगीत से परिचय हो या न हो, उसके स्वर में लालित्य हो अथवा न हो, वह प्रार्थना सदैव कल्याणकारिणी होगी। आचार्य मानतुङ्ग ने कहा है:—

आस्तां तव स्तवनमस्त समस्त दोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि॥

हे प्रभो! समस्त दोषों को दूर करने वाले आपके स्तवन की तो बात ही क्या है, आपके नाम का स्मरण और आपकी कथा-वार्त्ता भी संसार के पापों का नाश करने में समर्थ है। सहस्र किरणों वाला सूर्य जब उदित हो जाता है तब तो अंधकार रहता ही नहीं है, किन्तु सूर्य के दूर रहने पर भी उसकी प्रभा मात्र से अंधकार नष्ट हो जाता है।

आशय यह है कि अगर आत्मा आप रूप हो जाय, आपके यथावस्थित स्वरूप को देख ले, तब तो अज्ञान का अंधकार रहेगा ही क्यों; किन्तु भेद-दशा बनी रहने पर भी—अभेद की उच्चतर स्थिति न प्राप्त होने पर भी, केवल आपकी कथा वार्त्ता—आपके गर्भ, जन्म, संसार-व्यवहार, संसार-त्याग, छद्मस्थावस्था, अर्हन्त अवस्था और निर्वाणप्राप्ति की कथा—पूर्ण श्रद्धा के साथ श्रवण करने से, सम्यक् प्रकार से जान लेने पर, आपके स्वरूप को परोक्ष रूपेण जान लेने से अज्ञान का अन्धकार विलीन हो जाता है।

मगर परोक्ष ज्ञान में भी परिपूर्ण अवस्था की आवश्यकता

है। जैसे प्रभा जान लेने पर सूर्य के विषय में अनास्था को अवकाश नहीं रहता, उसी प्रकार आपकी कथा-वार्त्ता को जान लेने पर जिसके अन्तःकरण में अनास्था का लेश मात्र भी नहीं रहता, वही पुरुष पावन बन जाता है।

प्रार्थना का सम्बन्ध भाषा से या जिह्वा से नहीं। जिह्वा-स्पर्शी भाषा तो शुक भी बोल लेता है। मगर वह भाषा केवल प्रदर्शन की वस्तु है। निर्मल अन्तःकरण में भगवान् के प्रति उत्कृष्ट प्रीति-भावना जब प्रबल हो उठती है, तब स्वयमेव जिह्वा स्तवन की भाषा उच्चारण करने लगती है। स्तवन के उस उच्चारण में हृदय का रस मिला होता है। ऐसा स्तवन ही फलदायीहोता है। प्रार्थना के विषय में जो प्रवचन किया जाता जाता है उसका एक मात्र प्रयोजन भी यही है कि सर्वसाधारण के हृदय में प्रार्थना के प्रति प्रीति का भाव उत्पन्न हो जाय— प्रार्थना में अन्तःकरण का रस मिल जाय।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सूर्य की प्रभा पर तो विश्वास होता है, क्योंकि प्रभा की लालिमा प्रत्यक्ष दीख पड़ती है, साथ ही प्रभा के पश्चात् सूर्य का प्रतिदिन निकलना भी दिखाई देता है। किन्तु प्रभा को देखकर सूर्य पर विश्वास करने की भाँति भगवत्कथा-वार्त्ता से भगवान का या भगवान् पर श्रद्धान कैसे किया जा सकता है ? परमात्मा का सूर्य की भाँति कभी प्रत्यक्ष नहीं होता है ?

इस संबंध में थोड़ा-सा कथन करना आवश्यक है। मैं पूछता हूँ, भूतकाल में तो सूर्य और सूर्य की प्रभा आपने देखी

है; लेकिन भविष्य में उदित होने वाले सूर्य को और उसकी प्रभा को भी आपने कभी देखा है ? अगर नहीं देखा तो भूत-कालीन प्रभा और सूर्यमंडल से आपको भविष्य की प्रभा या सूर्यमंडल पर विश्वास होगा या नहीं ?

'होगा !'

'सो कैसे ? जो अब तक नहीं देखा उस पर विश्वास कैसा ?'

'भूतकाल में सूर्य और प्रभा को देखने से भविष्य के सूर्य और उसकी प्रभा का अनुमान करेंगे।'

तो इससे यह प्रकट हुआ कि भूतकाल में जो सूर्य उदित हुआ था वही भविष्य में उदित होगा, यह आपको पूर्ण विश्वास है। लेकिन भूतकाल में अगर सूर्योदय हुआ था तो भविष्य में भी होगा, इसका प्रमाण क्या है ? भूतकाल का देखना, भविष्य का देखना तो नहीं कहला सकता। भूतकालीन सूर्य का प्रत्यक्ष भविष्य के लिए अनुमान ही ठहरता है। उसे प्रत्यक्ष तो नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार भूतकाल संबंधी सूर्य के ज्ञान से भविष्य-कालीन सूर्योदय का अनुमान किया जाता है और उसमें सन्देह नहीं होता, इसी प्रकार परमात्मा के विषय में भी निश्शंक श्रद्धान होना चाहिए। भूतकाल में ऐसे अनेकानेक महात्मा हुये हैं जिन्हें दिव्यज्ञान हुआ था और जिन्होंने परमात्मा का साक्षात किया था। उन्होंने अपनी परमात्मा संबन्धी अनुभूति को अपनी वाणी द्वारा सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित किया है और कहा है कि

परमात्मा के प्रति निश्चल श्रद्धा रखने से श्रद्धावान् स्वयं परमात्म-पद प्राप्त कर लेता है। अतएव प्रभा को देख कर जैसे सूर्य का अनुमान करते हो, उसी प्रकार महात्मा पुरुषों की वाणी से परमात्मा पर भी विश्वास करो।

अनुमान को प्रमाण माने विना काम नहीं चल सकता, इसी प्रकार आगम को भी प्रमाण माने विना काम नहीं चलता। लोकोत्तर व्यवहार में तो पद-पद पर महात्माओं के वचनों की आवश्यकता होती है—उनके वचनों के बिना मुमुक्षु को अज्ञान के अँधेरे में भटकना पड़ेगा, परन्तु लोक-व्यवहार में भी आगम अर्थात् शाब्द प्रमाण की आवश्यकता है। मुमुक्षु जीव जिस अपरिचित मार्ग पर आरूढ़ होता है वहाँ पथप्रदर्शक कौन है ? आगम के बिना वह किस ओर कदम बढ़ाएगा ? व्यवहार में माता-पिता, बन्धु आदि हितैषी जनों के वचन के अनुसार प्रवृत्ति की जाती है, लेनदेन आदि व्यवहार किया जाता है, तो क्या दिव्यज्ञानी महात्मा पुरुषों की वाणी मान्य नहीं होनी चाहिए ? अदालत साहूकार की बहियाँ भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है; और तुम निस्पृह, परम करुणाशील, संसारोपकारक महात्माओं द्वारा प्ररूपित निर्दोष शास्त्रों को भी स्वीकार न करो तो आप ही अपना अहित करोगे। सूर्य का प्रकाश फैलने पर भी अगर कोई आँख मूंद कर चलेगा तो वही ठोकर खाएगा। इसमें सूर्य का क्या बिगड़ेगा ? महात्माओं की वाणी को प्रमाणभूत न मानोगे तो तुम्हीं हानि उठाओगे।

यह कहा जा सकता है कि भूतकाल में किसी को ईश्वर का

साक्षात्कार हुआ, यह बात हमारी समझ में कैसे आवे ? यह मानने का आधार क्या है कि किसी को परमात्मा का प्रत्यक्ष हुआ था ?

इसका उत्तर यह है कि भूतकाल में यदि किसी को ईश्वर का ज्ञान न हुआ होता, किसी महात्मा ने ईश्वर का साक्षात् अनुभव न किया होता, तो शास्त्रों में ईश्वर का वर्णन ही न मिलता। यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न शास्त्रों में ईश्वर और उसके साक्षात् होने का वर्णन भिन्न-भिन्न है, लेकिन यह भेद तो उसके ब्यौरे के विषय में है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न शास्त्र ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति का भी समर्थन करते हैं। ईश्वर के स्वरूप-वर्णन में भेद होने पर भी यह स्पष्ट है कि सब वर्णनों में से किसी न किसी का वर्णन सत्य और सम्पूर्ण ही है।

इसके अतिरिक्त जो वस्तु-तत्त्व केवल श्रद्धागम्य है उसे श्रद्धा द्वारा ही जाना जा सकता है। तर्क का उसमें वश नहीं चलता। तर्क तो वह तराजू है जिस पर स्थूल पदार्थ ही तोले जा सकते हैं। तर्क में स्थिरता भी नहीं होती। वह पारे की तरह चपल है। सर्वत्र उसका साम्राज्य स्वीकार करने से मनुष्य-समाज अत्युपयोगी और सत्य तत्त्व से अपरिचित ही रह जायगा। तात्पर्य यह है कि जैसे भूतकालीन सूर्य से भविष्यकालीन सूर्य का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार महात्माओं के वचनों से ईश्वरत्व के विषय में श्रद्धा रखनी चाहिए।

ईश्वर का साक्षात्कार होने के और-और प्रमाणों को जानें

भी दिया जाय तो भी अगर आप अपने आत्मा को देखें तो आपका आत्मा स्वयं ही ईश्वर के साक्षात्कार होने की साक्षी देगा। सर्वप्रथम आप यह देखें कि स्वयं आप क्या हैं ? आप जड़ हैं या चेतन हैं ? अगर आप जड़ से भिन्न—चेतन हैं तो आपका मौलिक रूप क्या है ? क्या आप हाड़, मांस, चर्म, रक्त, मज्जा, अथवा शरीर के किसी अन्य रूप में हैं या इन सब से निराला आपका स्वरूप है ?

अगर आपका अस्तित्व शरीर से भिन्न न होता अर्थात् शरीर ही आत्मा होता तब तो मृतक शरीर और जीवित शरीर में कुछ अन्तर ही न होता। मगर जीवित और मृत शरीरों में पाया जाने वाला अन्तर यह सिद्ध कर देता है कि शरीर से भिन्न कोई और तत्त्व है, जिसकी विद्यमानता में शरीर जीवित कहलाता है और जिसके न रहने पर वह शरीर मृत कहलाने लगता है। वही सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है और वह हाड़, मांस, आदि शरीर के अवयवों से तथा समस्त शरीर एवं इन्द्रियों से भी भिन्न है।

जड़ को जड़ कहने वाला आत्मा है। आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करने वाला आत्मा है। नाना प्रकार की अभिलाषा करने वाला आत्मा है। यही नहीं, वरन् जो आत्मा का निषेध करते हैं वे स्वयं ही आत्मा हैं, पर वे इस तथ्य को जानते नहीं हैं। पदार्थों को अपने आप का ज्ञान नहीं होता, इन सब को जानने वाला आत्मा है। आत्मा द्रष्टा है, पदार्थ दृश्य हैं। आत्मा ज्ञाता है, पदार्थ ज्ञेय हैं।

जैसे अपने कान, नेत्र, नाक आदि अवयव हैं, वैसे ही

दूसरों के भी हैं। मैं दोनों के अवयव देख रहा हूँ, लेकिन दूसरों के आँख, कान आदि अवयव मेरे नहीं है, यह मैं जानता हूँ। जिस प्रकार मैं दूसरे के आँख, कान आदि को अपना नहीं मानता, इसी प्रकार अपने आँख, कान आदि अवयवों के विषय में भी भेदज्ञान हो जाना चाहिए। यह ज्ञान हो जाना चाहिये कि यह अवयव भी मेरे नहीं हैं। मगर आत्मा दूसरे के शरीर को तो अपना नहीं मानता, किन्तु जिस शरीर में आप बैठा है उसे अपना मान लेता है। शरीर के प्रति यह अपनापन ही परमात्मतत्त्व की अनुभूति में बाधक है।

ऐसी ही भूलों से जो वस्तु दूर की है वह पास की बन जाती है और जो पास की है वह दूर की बन जाती है। स्तुति में भी कहा है:—

ज्यों पनिहारी कुंभ न विसरे।

पनिहारी मनुष्य है और कुंभ मिट्टी, तांबे या पीतल के होते हैं। फिर भी कभी-कभी पनिहारी अपने शरीर की अपेक्षा भी घड़े पर अधिक ध्यान देती है। लेकिन अधिक ध्यान देने से क्या घड़ा आत्मा बन जाता है ?

'नहीं !'

नट जब बाँस पर चढ़ कर अपना कौशल दिखलाता है तब दर्शक उसकी ओर ध्यान लगाते हैं, पर उसका ध्यान बाँस पर ही रहता है। वह अपना सम्पूर्ण ध्यान बाँस पर इस प्रकार केन्द्रित करता है कि शरीर को भले ही भूल जाय पर बाँस को पल भर भी नहीं भूलता। नट बाँस पर इतना अधिक ध्यान देता है तो क्या बाँस नट का आत्मा बन सकता है ?

'कदापि नहीं !'

पलक न विसरे पद्मणि पियु भणी ।

पतिव्रता नारी अपने पति को शरीर से भी अधिक मानती है । पति के प्रेम से प्रेरित होकर वह अपने शरीर की हड्डी-चमड़ी भी खो देती है लेकिन पति का प्रेम नहीं खोती । पतिव्रता स्त्री पति के साथ इतना सन्निकट का संबंध स्थापित कर लेती है; फिर भी क्या वे दोनों स्वरूप से एक हो सकते हैं ?

'कदापि नहीं !'

चकवी से सूर्य दूर रहता है, फिर भी उसे सूर्य से इतनी प्रीति है कि वह उसके आगे और कुछ समझती ही नहीं, तथापि क्या चकवी और सूर्य एक हो सकेंगे !

'कदापि नहीं !'

हे आत्मन ! शरीर तेरे निकट है, तेरा उपकारक है, सहायक है, तू उसे खिलाता-पिलाता है, सशक्त बनाता है । शरीर के साथ तेरी इतनी निकटता है इसलिए क्या तू और शरीर मूलतः एक हो जाएँगे ? अन्त समय स्थूल शरीर यहीं पड़ा रह जायगा और तू अन्यत्र चला जायगा । अतएव जैसे पनिहारी से कुंभ भिन्न है, बाँस से नट भिन्न है, पत्नी से पति भिन्न है, उसी प्रकार तू शरीर से भिन्न है । दोनों का स्वरूप अलग-अलग है । एक रूपी है, दूसरा अरूपी है । एक जड़ है, दूसरा चेतन है । इस प्रकार जब तू शरीर से भिन्न है तो विचार कर कि तू कौन है ?

जब यह निश्चित हो गया कि तू शरीर से भिन्न है तो स्वयमेव

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तू कौन है ? इस संबंध में ज्ञानियों के वचनों पर विश्वास न हो, तब भी तू अपने आपसे अगर विचार करेगा तो तुझे प्रतीत हो जायगा कि वास्तव में तू कौन है ?

ज्ञानी पुरुषों ने आत्मा को अविनाशी बतलाया है। संसार में जितने भी द्रष्टा हैं, सभी अविनाशी हैं। सुख-दुःख आदि दृश्यों को जानने वाला अविनाशी है और सुख-दुःख आदि दृश्य नाशवान हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि दृश्य पदार्थों को नाशवान कैसे कहा जा सकता है ? वास्तव में द्रष्टा और दृश्य दोनों ही अविनाशी हैं। उदाहरण के लिए मोमबत्ती लीजिए। मोमबत्ती के जल चुकने पर साधारण लोग यह समझते हैं कि मोमबत्ती का नाश हो गया। परन्तु मोमबत्ती सर्वथा नष्ट नहीं होती, केवल उसका रूपान्तर होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार बनाये हुए दो विशेष यन्त्र यदि जलती हुई मोमबत्ती के पास रख दिये जाएँ तो मोमबत्ती के परमाणु खिंचकर उन यंत्रों में इकट्ठे हो जायँगे। उन्हें आपस में मिला देने से फिर मोमबत्ती तैयार हो जायगी। इस प्रकार मोमबत्ती जल जाने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं होती, सिर्फ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाती है। जैसे आत्मा एक शरीर में रह कर अपना खेल दिखाता है, फिर दूसरे शरीर में चला जाता है, उसी प्रकार अन्य पदार्थ एक बार एक पर्याय में होते हैं, दूसरी बार दूसरे पर्याय में। जैन शास्त्रों में भी छहों द्रव्यों को स्वरूपतः अविनाशी बतलाया है। फिर आत्मा को अविनाशी और पुद्गल को नाशवान कहने का आशय क्या है ?

यह विषय बड़ा सूक्ष्म है। किस प्रकार द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से पदार्थों में नित्यता और अनित्यता रहती है, इत्यादि चर्चा विस्तार के साथ करने का समय नहीं है। जिन्होंने जैन स्याद्वाद का स्वरूप समझ लिया है, वही इस तत्त्व को भलीभाँति समझ सकते हैं। अतएव यहाँ थोड़े शब्दों में स्थूल चर्चा ही करता हूँ।

पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं—प्रायोगिक, वैस्रासिक और मिश्र। हमारे शरीर में जो पुद्गल हैं—जिन पुद्गलों से यह शरीर बना है, वे प्रायोगिक हैं। बादल आदि के पुद्गल वैस्रासिक हैं और वस्त्र आदि के पुद्गल मिश्र हैं।

घटना, बढ़ना, सड़ जाना आदि धर्म जिसमें पाये जाते हैं वह पुद्गल है। संस्कृत भाषा में पुद्गल शब्द की जो व्युत्पत्ति की गई है उससे भी यही अर्थ निकलता है। 'पूरण गलन धर्मः पुद्गलः।'

आत्मा अविनाशी है। 'अतति सततं गच्छतीति आत्मा' अर्थात् जिसका निरन्तर गमन होता रहता है, वह जितने प्रदेश वाला है उनमें से एक प्रदेश भी कभी कम या अधिक नहीं होता, जो भूत, भविष्य और वर्त्तमान में स्वरूपतः समान रूप से रहता है, जो सड़ता नहीं, गलता नहीं; ऐसा अविनाशी तत्त्व आत्मा है।

आत्मा यद्यपि एक देह का परित्याग करके दूसरे देह में जाता है, एक योनि से दूसरी योनि में गमन करता है, तथापि उसका मूल स्वरूप नहीं बदलता, उसके प्रदेशों की संख्या सदैव समान रहती है। देह बदल जाती है पर आत्मा का स्वरूप नहीं

बदलता। आत्मा में जो गुण वैभाविक हैं, उपाधि-जन्य हैं अर्थात् काल, क्षेत्र या पर्याय आदि पर-निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, जो स्वाभाविक नहीं है; वे गुण बदल जाते हैं; परन्तु आत्मा के स्वाभाविक गुणों में परिवर्त्तन नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जैसे पुद्‌गल के परमाणु घटते-बढ़ते रहते हैं, उस प्रकार आत्मा के प्रदेश नहीं घटते-बढ़ते हैं।

अगर यह आशंका की जाय कि आप पुद्‌गल को नाशवान कहते हैं सो यदि पुद्‌गल नाशवान है तो कभी ऐसा भी समय आ सकता है जब समस्त पुद्‌गल नष्ट हो जाएँ। उस समय संसार क्या पुद्‌गलों से शून्य हो जायगा? छह द्रव्यों में से सिर्फ पाँच ही द्रव्य रह जाएँगे? इसका समाधान यह है कि नाश का अर्थ असत् हो जाना नहीं है। कोई भी सत् पदार्थ कभी असत् नहीं हो सकता और असत् पदार्थ सत् नहीं हो सकता। कहा भी है—

नासतो विद्यते भावो, नाभावो जायते सतः।

अर्थात् असत्—जिसका अस्तित्त्व नहीं है—उसका कभी सद्‌भाव नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता।

यह एक सर्वसम्मत-सा दार्शनिक सिद्धान्त है और आधुनिक विज्ञान ने भी इसे स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार नाश का अर्थ अभाव नहीं रूपान्तर होना ही है। कोई भी पुद्‌गल शून्य रूप नहीं बन सकता। लाख चेष्टा करने पर भी किसी न किसी रूप में वह विद्यमान रहेगा ही। लकड़ी एक पुद्‌गल है। उसे जब अग्नि में डाल दिया जाता है तो राख के रूप में उसकी

सत्ता बनी रहती है। राख को मिट्टी में मिला कर उसका कोई पात्र बना लिया जाय तब भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता। पात्र फूट जाता है तो ठीकरे बचे रहते हैं। ठीकरों को पीस डाला जाय तो चूर्ण मौजूद रहेगा। इस प्रकार एक पुद्गल चाहे जितने रूपों में पलटता चला जाय फिर भी उसका सर्वथा विनाश नहीं होता। ऐसी स्थिति में न तो कभी पुद्गलों का अभाव हो सकता है, न संसार पुद्गलों से शून्य बन सकता है और न द्रव्यों की संख्या में ही बाधा उपस्थित हो सकती है।

अलबत्ता, पुद्गल के परमाणु बिखर सकते हैं, कभी मिल-कर पिंड या स्कन्ध रूप हो जाते हैं, स्कन्ध कभी अनेक स्कंधों के मेल से बड़ा हो जाता है, कभी छोटा हो जाता है। पुद्गल के इसी धर्म को लक्ष्य रख कर उसे नाशवान कहा जाता है। आत्मा में ऐसी बात नहीं है। उसके प्रदेश असंख्यात हैं और उनमें से न तो कभी एक प्रदेश घट सकता है, न एक प्रदेश बढ़ ही सकता है। इस अपेक्षा से आत्मा को यहाँ अविनाशी कहा गया है।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि आत्मा के अतिरिक्त सिर्फ पुद्गल ही द्रव्य नहीं है, वरन् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति-काय और आकाश भी द्रव्य हैं। आत्मा के प्रदेशों में तो दीपक के प्रकाश की तरह कभी संकोच और कभी विस्तार भी होता है, लेकिन धर्मास्तिकाय आदि तो सदा एक-से रहते हैं। तो इन द्रव्यों को आत्मा क्यों नहीं कहा ?

इसका उत्तर यह है कि धर्मास्तिकाय आदि ऊपर कहे गये

द्रव्य द्रष्टा नहीं हैं—दृश्य हैं। धर्मास्तिकाय और आकाश आदि द्रव्य न तो अपने आपको जानते हैं, न दूसरे पदार्थों को ही जानते हैं। उनमें स्व-पर-संवेदन की शक्ति नहीं है। इन्हें जानने वाला भी आत्मा ही है। अतएव उन द्रव्यों को आत्मा नहीं कहा जा सकता।

आत्मा अविनाशी है अर्थात् सदा सत् है, लेकिन वह केवल सत् स्वरूप ही नहीं है; उसमें चित् और आनन्द भी है।

सत् तो सभी पदार्थ हैं मगर चित् और आनन्द का अस्तित्व केवल आत्मा में ही है। चित् का अर्थ है—ज्ञान। ज्ञानानन्दमय आत्मा ही है। अन्य पदार्थों में ज्ञान और आनन्द नहीं है। अतएव चित् और आनन्द आत्मा के असाधारण धर्म हैं। इस प्रकार आत्मा को सच्चिदानन्द कहा गया है।

आनन्द आत्मा का ही गुण है। उसे पर-पदार्थों के संयोग से खोजने का प्रयास करना भ्रम है। सत्य तो यह है कि जितने अंशों में पर का संयोग होगा उतने ही अंशों में सुख की न्यूनता होगी। आत्मा जब समस्त संयोगों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है तभी उसके स्वाभाविक पूर्ण सुख का आविर्भाव होता है। यह स्वाभाविक सुख ही सच्चा सुख है। पर के निमित्त से होने वाला सुख, सुखाभास है—सुख का मिथ्या संवेदन है।

आत्मा सच्चिदानन्द है। यही उसका विशिष्ट रूप है।

प्रश्न यह था कि सूर्य को तो देखते हैं अतएव उस पर अनायास ही विश्वास किया जा सकता है, लेकिन ईश्वर तो कहीं नहीं दिखाई पड़ता। फिर उस पर किस प्रकार विश्वास किया जाय ?

इसका समाधान यह है कि ईश्वर को आत्मा में देखो। आत्मा ईश्वर रूपी सूर्य की आभा है। आत्मा न होता तो ईश्वर की भी चर्चा न होती। हम हैं, इसीलिए ईश्वर की चर्चा है। हम और ईश्वर एक हैं। अन्तर इतना ही है कि हम (आत्मा) आवरणों से आवृत हैं और ईश्वर समस्त आवरणों से अतीत हो चुका है। जो शक्ति ईश्वर में है वही सब आत्मा में भी है। हमारी शक्ति कर्मों के आवरणों से ढँकी है और ईश्वर की शक्ति कर्मक्षय के कारण समस्त आवरणों से रहित है। वह प्रकट हो चुकी है। किसी महात्मा ने कहा है—

सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणादिगुण समिद्धोऽहं ॥

अर्थात् मेरा आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है और अनन्त ज्ञान आदि से युक्त है।

ऐसी स्थिति में हम यह क्यों न मानें कि जब हमारे समस्त आवरण हट जाएँगे तब हम और परमात्मा एक समान हो जाएँगे ? उस समय आत्मा स्वयमेव परमात्मा बन जायगा। दोनों के स्वरूप में तनिक भी भेद नहीं रह जायगा।

तात्पर्य यह है कि आत्मा जब समस्त आवरणों को समूल नष्ट कर डालता है तब वही आत्मा परमात्मा बन जाता है। आत्मा के आवरणों का क्षय किस प्रकार हो सकता है ? इसके लिए कहा है—

धर्म जिनेश्वर मुझ हियड़े वसो,
प्यारा प्राण समान।

कबहूँ न विसरूँ चितारूँ नहीं,
सदा अखंडित ध्यान ॥ धर्म० ॥

आत्मा के आवरणों का क्षय करके ईश्वर बनने का यह सीधा रास्ता है। परमात्मा से साक्षात्कार करने के अनेक उपाय बताये गये हैं, लेकिन सब से सरल मार्ग यही है कि आत्मा में परमात्मा के प्रति परिपूर्ण प्रेम जागृत हो जाय। वह प्रेम ऐसा होना चाहिए कि किसी भी परिस्थिति में ईश्वर का ध्यान खंडित न होने पावे।

आप कह सकते हैं कि संसार की झंझटों में फँसे हुए व्यक्ति ईश्वर का अखंड ध्यान किस प्रकार कर सकते हैं? जब धर्मस्थानक में रहते हैं तब तो ईश्वर याद रहता है, लेकिन जैसे ही घर में घुसते हैं, उसी समय ईश्वर स्मृति से बाहर निकल जाता है।

यह कहना सत्य है। प्रायः ऐसा ही होता है, परन्तु होना चाहिए नहीं। साधु-समागम का अर्थ यह नहीं है कि जब तक साधु के समीप रहे तब तक ईश्वर का स्मरण रहा और बाद में, घर की देहली पर पैर रखते ही ईश्वर को भुला दिया। ऐसा हो तो साधु-समागम से क्या लाभ है? किसी शिक्षक की पढ़ाई हुई विद्या अगर शाला में ही काम आवे और अन्यत्र काम न आवे तो उस विद्या से क्या लाभ है? जो दवा सिर्फ वैद्य के घर पर ही निरोगता प्रदान करती है और वैद्य का घर छोड़ते ही फिर ज्यों का त्यों बीमार बना देती है उस दवा से क्या लाभ है? इसी प्रकार जब तक यहाँ बैठे तब तक ईश्वर को याद किया

और यहाँ से उठते ही उसे भुला दिया तो ऐसी कच्ची दवा किस काम की ? साधुओं से ऐसी दवा लो जिससे कभी ईश्वर का विस्मरण न होने पावे।

तब आप कहेंगे कि अगर ईश्वर का सतत ध्यान करते रहेंगे तो घर कैसे जाएँगे ? अगर ईश्वर का अखंड ध्यान कर लिया तो घर जाकर क्या करेंगे ?

इसका समाधान यह है कि शिक्षक अपने विद्यार्थी को सदा शाला में ही नहीं घेर रखता है। जो विद्यार्थी विशिष्ट अध्ययन करके स्वयं विद्यार्थी बन जाता है, उसकी बात दूसरी है; परन्तु साधारणतया विद्यार्थ अपने घर आ ही जाता है। वास्तव में वही शिक्षा काम की है, जिससे शाला के समय शाला में रहे और शेष समय घर पर रह कर उस विद्या का उपयोग करे। शाला में सीखी हुई विद्या घर आकर भुला न दी जाय, यह वांछनीय है। साधुसंगति भी ऐसी ही होनी चाहिए। साधुसंगति के द्वारा अन्तःकरण में जिन उज्ज्वल भावनाओं का उदय होता है, उन भावनाओं को कायम रखना चाहिए। तभी साधुसमागम पूर्ण सफल होता है।

पनिहारी चलती है, बोलती है, हँसती है, तथापि वह कुम्भ को नहीं भूलती। इसी प्रकार संसार-व्यवहार करते समय भी ईश्वर को विस्मरण नहीं करना चाहिए।

पनिहारी की बात चल पड़ी है तो एक-दो बात इस संबन्ध में कह देना उपयोगी होगा। आजकल नल हो जाने के कारण शहर की महिलाओं को पानी भर कर सिर पर नहीं लाना

पड़ता। लेकिन कभी नल बेकाम हो जावे तो पानी लाना पड़ेगा या नहीं ? अगर कहो कि मजदूरों से पानी भरवा लेंगे, तो मोल मँगवा कर पानी पीने वाली और पिलाने वाली सेठानी सच्ची सेठानी नहीं है। सच्ची सेठानी वह है जो अपना काम यतना के साथ स्वयं कर लेती है।

लोग पत्थर की मूर्ति पर चढ़ाने के लिए भी हाथ से भर कर जल लाते हैं। सुना जाता है, उदयपुर के महाराणा एकलिंगजी के लिए और उदयपुर के सरदार नाथद्वारा में अपने हाथ से पानी भरते हैं। क्या पतिव्रता स्त्री अपने पति को उतना भी महत्व नहीं देती जितना भावुक जन पाषाण-मूर्ति को महत्व देते हैं ? यह दूसरी बात है कि लोग स्वयं ही स्त्री का सा करना अपना अपमान समझते हों और उन्होंने ही पानी भरने की मनाई कर दी हो। अन्यथा जो स्त्री अपने पति को पानी भी नहीं पिला सकती वह प्रशंसा के योग्य पतिव्रता कैसी ?

जब तक अहंकार है, अभिमान है, तब तक भक्ति नहीं हो सकती। अहंकार की छाया में प्रेम का अंकुर नहीं उगता। अहंकार में, अपने प्रति घना आकर्षण है, आग्रह है और प्रेम में घन। उत्सर्ग चाहिए। दोनों भाव परस्पर विरोधी हैं। एक में मनुष्य अपने आपको पकड़कर बैठता है, अपना आपा खोना नहीं चाहता और दूसरे में आपा खोना पड़ता है। इस स्थिति में अहंकार और प्रेम या भक्ति दोनों एक जगह कैसे रहेंगे ?

पनिहारी अक्सर दो घड़े सिर पर रखती है और तीसरा अपनी बगल में दबा लेती है। इस प्रकार तीन घड़े लिये होने

पर भी यदि उसके पैर में काँटा चुभ जाता है तो वह एक पैर के बल खड़ी होकर दूसरा पैर उठा कर एक हाथ से काँटा निकाल डालती है। ऐसे समय घड़े के गिर पड़ने की कितनी संभावना है ? लेकिन घड़ा गिर नहीं पाता, यही तो पनिहारी की विशेषता है !

भक्तजन कहते हैं—हे प्रभो ! तू मेरे हृदय में इस प्रकार बस जा जिससे मैं तुझे कभी भूल ही न सकूं। जब तेरा कभी विस्मरण न होगा तो स्मरण करने की जरूरत ही क्या रहेगी ?

पतिव्रता नारी पति का नाम लेकर माला फेरती है ?

'नहीं !'

तो क्या वह अपने पति को भूल जाती है ?

'नहीं !'

एक दृष्टान्त देकर यह विषय स्पष्ट करना उपयोगी होगा। मान लीजिए एक सेठ हैं, जिनका नाम मोतीलाल है। उनकी दो पत्नियाँ हैं। एक बड़ी है, दूसरी छोटी है। छोटी ने विचार किया, बड़ी सेठानी की मौजूदगी में मैं आई हूँ इससे प्रकट है कि बड़ी ने पति की सेवा में किसी प्रकार की कमी की है। अगर ऐसा न होता, वह पति का मनोरंजन करती रहती होती, पति की सेवा में कुछ भी त्रुटि न होने देती तो पति मुझे क्यों लाते ? अतएव मुझे सावधान रहना चाहिये। मुझे ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जिससे मेरे ऊपर तीसरी के आने का अवसर उपस्थित हो।

छोटी सेठानी ने बड़ी सेठानी के कार्यों की देखभाल की।

बड़ी सेठानी एक मोटी-सी गद्दी पर बैठ कर हाथ में माला ले लेती और 'मोतीलाल सेठ, मोतीलाल सेठ' कह कर अपने पति के नाम की माला जपा करती। यह देख कर छोटी ने सोचा—इस प्रकार पति का रंजन होता तो मेरे आने का अवसर ही क्यों आता ? सेठजी को इससे संतोष नहीं हुआ इसीलिए मुझे लाये हैं। तब क्या मैं भी बड़ी की भाँति माला लेकर उनका नाम जपने बैठूं ? नहीं। मैं तो सीधी-सादी एक बात करूँगी। वह यह कि सेठजी के काम में अपना काम ! सेठजी की खुशी में अपनी भी खुशी। जिस कार्य से सेठजी को प्रसन्नता होती है उसी से मैं प्रसन्नता का अनुभव किया करूँगी। इसके अतिरिक्त वे जो आज्ञा दें उसे शिरोधार्य कर लेना। उनका काम पहले से ही कर रखना, जिससे उन्हें कभी मेरा अपमान करने का मौका न मिले।

दोनों सेठानियाँ अपने-अपने तरीके से चलने लगीं। एक दिन सेठ मोतीलाल जल्दी में, घबराए हुए से घर आये। दरवाजे के नजदीक पहुँचते ही उन्होंने पानी लाने के लिए पुकार की। उनकी पुकार सुन कर बड़ी सेठानी कहने लगी—'न जाने इनकी कैसी समझ है। मैं इन्हीं के नाम की माला फेर रही हूँ और यह स्वयं उसमें विघ्न डाल रहे हैं। इतनी दूर चल कर आये हैं, तो यह नहीं बनता कि दो कदम आगे चले आवें और हाथ से भर कर पानी पी लें। यह तो करते नहीं और मुझ से कहते हैं—पानी लाओ, पानी लाओ। भला मैं अपने जाप को कैसे खंडित करूँ ?'

मन ही मन इस प्रकार कह कर बड़ी सेठानी अपने स्थान

से न हिली न डुली और ज्यों की त्यों बैठी-बैठी माला सरकाती रही। उधर छोटी सेठानी आवाज सुनते ही दौड़ी और उसी समय पानी लेकर हाजिर होगई।

सेठ ने छोटी सेठानी की तरफ नजर फैंकी और पानी लेकर अपनी प्यास बुझाई। जैसे ही सेठ भीतर घुसा तो देखा—बड़ी सेठानी बैठी-बैठी उन्हीं के नाम की माला जप रही है। बड़ी सेठानी ने सेठ को आते देखा तो अपना स्वर ऊँचा कर दिया। अब वह तनिक जोर से 'मोतीलाल सेठ' 'मोतीलाल सेठ' कह कर जाप जपने लगी।

उधर छोटी सेठानी ने हाथ जोड़कर प्रेम के साथ कहा—भोजन तैयार है। पधारिये। भोजन का समय भी तो हो चुका है।'

आपके घर में ऐसा हो तो आपका चित्त किस पर प्रसन्न होगा?

'छोटी पर!'

पद्मनी अपने 'पियु' को नहीं भूलती, इसे स्पष्ट करने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है। इस दृष्टान्त में दोनों स्त्रियाँ अपने पति को नहीं भूलतीं, पर दोनों में से पति को प्रिय कौन होगी?

'काम करने वाली!'

ईश्वर के भजन के विषय में भी यही बात है। ईश्वर का भजन करने वाले भी दो प्रकार के होते हैं। एक बड़ी सेठानी के समान ईश्वर के नाम की माला फेरने वाले और दूसरे ईश्वर

की आज्ञा की आराधना करने वाले। इन दोनों भक्तों में से ईश्वर किस पर प्रसन्न होगा ?

'आज्ञा की आराधना करने वाले पर !'

मैं यह नहीं कहता कि माला फेरना बुरा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि प्यास का मारा सेठ तो पानी की पुकार करे और सेठानी बैठी-बैठी उसी के नाम की माला जपे। क्या इस प्रकार की क्रिया विवेकशून्य नहीं है ?

ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना करके, उसके नाम की माला जप लेने मात्र से कल्याण नहीं हो सकता।

कदाचित् कोई यह कहने लगे कि मोतीलाल सेठ की बड़ी सेठानी यदि सचित्त पानी पिलाती तो उसे पाप लगता। इसी कारण उसने पानी नहीं पिलाया होगा। इस संबंध में इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि जो इस पाप से बचेगी वह मोतीलालजी की स्त्री भी न कहलाएगी। वह तो संसार संबंधी समस्त व्यवहारों से विमुख होकर आत्म-कल्याण में ही तत्पर रहेगी। जो उच्चतर स्थिति में जा पहुँचता है वह तो जगत् से नाता तोड़ लेता है और जगत् से नाता तोड़ कर भी सभी से नाता जोड़ता है। अर्थात् वह संकुचित विचारों की परिधि से बाहर निकल जाता है। सेठ की कमाई खाना, सेठ के दिये वस्त्राभूषण पहन कर बनाव-सिंगार करना, गादी पर बैठना, सेठ के नौकरों पर हुक्म चलाना, संसार-संबंधी भोगविलास करना, इन सब के लिये तो पाप का विचार न करे और सेठ के पानी माँगने पर भी पाप के विचार से उसे पानी न देना, यह

निरी आत्मवञ्चना नहीं तो क्या है ? क्या यह धर्म का उपहास नहीं है ?

एक सेठ ने दो मुनीमों को अपनी दूकान पर काम करने के लिए भेजा। एक मुनीम ने सोचा—'तनख्वाह तो मिलती ही है, फिर आरंभ-समारंभ में पड़ने से क्या लाभ है ?' यह सोच कर उसने सेठ का काम करना छोड़ दिया। दूसरे मुनीम ने सेठ का काम करना अपना कर्त्तव्य समझ कर, नीति का स्मरण करते हुए काम किया। बताइए, इन दोनों में आप किसे धर्मात्मा कहते हैं ?

'काम करने वाले को !'

धर्म का नाम लेकर कर्त्तव्य-पालन के समय, कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो जाने वाला, नीति-मर्यादा को भी तिलाञ्जलि दे बैठने वाला, समझना चाहिए धर्म के नाम पर ढोंग कर रहा है। ऐसा करने वाले ने धर्म का सम्मान नहीं किया, किन्तु अपमान किया है। या तो वह धर्म का स्वरूप ही नहीं समझता या धर्म की आड़ लेकर अधर्म और अन्याय करना चाहता है।

मैं कह रहा था कि जब परमात्मा की आज्ञा पालन करने का समय हो तब उसकी आज्ञा की अवहेलना करके, केवल उसके नाम को रटना धर्म नहीं, किन्तु चालाकी है। यह बात दूसरी है कि मुनीम अपने सेठ की आज्ञा से कोई काम न करे, मगर उसे यह ध्यान रखना तो उचित ही है कि मैं जब तक सेठ का वेतन पाता हूँ तब तक मुफ्त का न खाऊँगा, किन्तु बदले में सेवा करूँगा।

ढोंग करने से कोई सेवक नहीं कहलाता। सेवक को सेवा करनी पड़ती है। सच्चा सेवक वह है जो स्वामी के कहने पर ही सेवा नहीं करता वरन् स्वामी पर ऐसी जिम्मेवरी डालता है कि उसे सेवा करानी ही पड़े।

वन-गमन करते समय रामचन्द्र को नदी पार करने का काम पड़ा था। आपकी दृष्टि में तो नाव खेने वाला नीच है, लेकिन उसकी नाव में बैठ कर नदी पार करते समय वही नाविक कितना प्यारा लगता है; इसे कौन नहीं जानता ?

तो रामचन्द्र ने जाकर निषाद से कहा—'भाई, हमें पार उतार दो।' निषाद मन में सोचने लगा—'यह मोहिनी मूर्त्ति कौन है ? कैसा यह पुरुष है, कैसी यह नारी है और क्या ही सौम्य इसका भाई है !'

मन ही मन इस प्रकार सोच कर निषाद ने पूछा—'मैंने सुना है, दशरथ के पुत्र रामचन्द्र वन को आये हैं। क्या तुम्हीं तो राम नहीं हो ?'

राम—हाँ भाई, राम तो मैं ही हूँ।

निषाद—मैं इन्हें तो पार उतार दूंगा, पर तुम्हें न उतारूँगा।

राम—क्यो ? क्या हम इतने अधम हैं ?

निषाद—अधम तो नहीं हो, पर एक अवगुण तुममें अवश्य है।

राम—वह कौन-सा ?

निषाद—मैंने सुना है, तुम्हारे पाँव की धूल यदि पत्थर से

लग जाती है तो वह पत्थर भी मनुष्य बन जाता है। जब पत्थर भी मनुष्य बन जाता है, तो मेरी नाव तो लकड़ी की ही है। तुम्हारे पैर की धूल अगर इसे छू गई और यह भी मनुष्य बन गई तो मेरी मुसीबत हो जायगी। मैं कैसे कमा कर खाऊँगा ? तुम्हारे पैर में रज तो लगी ही होगी और वह नाव से लगे बिना रहेगी नहीं। इसलिए मैं तुम्हें पार नहीं उतारने का।

राम—तो क्या मैं तैर कर नदी पार करूँ ? अगर बीच में थक जाऊँ तो डूब मरूँ ?

निषाद—नहीं, तैर कर मत जाओ। जिसके पाँव की रज पत्थर भी मनुष्य बन जाता है, उसे डूबने कैसे दूंगा ?

इतना कह कर निषाद ने लकड़ी की कठौती ला कर राम के आगे रख दी। बोला—अगर आप नाव पर चढ़ कर पार जाना चाहते हैं तो इसमें पैर रख दीजिए। मैं अपने हाथों से आपके पाँव धो लूंगा और यह विश्वास कर लूंगा की आपके पाँवों में धूल नहीं रही, तब नाव पर चढ़ा कर पार पहुँचा दूंगा। हाँ, यह ध्यान रहे कि दूसरे किसी को मैं आपके पैर न धोने दूंगा। नहीं तो संभव है, रज रह जाय।

तुलसीदासजी की रामायण का यह वर्णन है। निषाद यह सब बातें इस मतलब से कह रहा था कि उसे रामचन्द्र की सेवा करनी थी और राम अपनी सेवा किसी से कराना नहीं चाहते थे। वे वनवासी थे, अतएव यथाशक्य स्वावलम्बी रहना चाहते थे। पर निषाद ने यह कह कर रामचन्द्र को पैर धुलाने के लिए विवश कर दिया। भक्तजन ऐसे ही उपायों से अपने

स्वामी को सेवा कराने के लिए विवश कर देते हैं।

निषाद ने राम, लक्ष्मण और सीता, इन तीनों को बैठा कर बड़े प्रेम से पाँव धोये। इसके पश्चात् उसने उन्हें नाव में बैठने को कहा। उसने सोचा—चलो, यह पानी भी बड़े काम का है। इसमें वह रज है जिससे पत्थर भी मनुष्य बन जाता है।

पैरों का वह धौन (धोवण) लेकर निषाद अपने घर गया। उसने घर वालों से कहा—लो, यह चरणामृत ले लो। आज बड़े पुण्य से यह मिला है। इस चरणामृत में वह रज है जिससे पत्थर भी मनुष्य बन जाता है। पेट में पहुँच कर यह रज न जाने क्या गुण करेगी ?

इधर राम ने सोचा—सेवा-भक्ति किसे कहते हैं, यह लक्ष्मण को सिखाने का अच्छा अवसर है, जिससे लक्ष्मण को अभिमान न हो जाय। यह सोच कर रामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा—देखो, निषाद क्या कर रहा है ? हम लोगों को विलम्ब हो रहा है।

रामचन्द्र के आदेश से लक्ष्मण निषाद के घर गये। वे निषाद से कहने लगे—भाई, चलो, विलम्ब हो रहा है।

निषाद ने कहा—अभी ठहरिये। हम प्रसाद बाँट रहे हैं। जब सब ले लेंगे तब आएँगे।

लक्ष्मण ने सोचा—मैं समझता था, रामचन्द्र का बड़ा भक्त मैं ही हूँ, पर निषाद ने मेरा अहंकार चूर कर दिया। इसकी भक्ति के सामने तो मेरी भक्ति नगण्य-सी हो जाती है। राम की सेवा करने मे मुझे तो कुछ आशा भी हो सकती है पर निषाद को क्या आशा है ? भैया ने मुझे यहाँ भेज कर मेरी आँखें खोल

दी हैं। शायद उन्होंने इसी उद्देश्य से मुझे यहाँ भेजा है। यहाँ आकर मैंने जाना कि निषाद जो सेवा-भक्ति कर रहा है, मैं उसका एक अंश भी नहीं कर सकता।

निषाद आया। सीता, राम और लक्ष्मण उसकी नाव में बैठ कर नदी पार गये। रामचन्द्र निषाद के सौजन्य की प्रशंसा करते जाते थे, पर निषाद अपनी प्रशसा की ओर ध्यान न देता हुआ भक्ति-रस में डूब रहा था।

रामचन्द्रजी जब दूसरे किनारे पहुँच गये तब बड़े संकट में पड़े। वे सोचने लगे—निषाद ने इतनी सेवा की है और बिना बदला दिये किसी की सेवा लेना उचित नहीं है। लेकिन इसे दें क्या ? क्षत्रियों का यह धर्म है कि सेवा का प्रतिदान अवश्य दें। मगर देने को कुछ भी नहीं है !

जब कोई देना चाहता है मगर पास में कुछ न होने से दे नहीं सकता, तब हृदय कितना संतप्त होता है; यह बात भुक्त-भोगी ही भलीभाँति समझ सकता है। रामचन्द्र ऐसी ही गहरी चिन्ता में थे कि—

सिय पिय हिय की जान निहारी।
मणि-मुँदरी निज दीन उतारी॥

सीता को अपने स्वामी के हृदय में होने वाले सताप का पता चला। वे समझ गईं कि पति इस समय संकट और संकोच में हैं। पति यों तो संकटों से घबराने वाले नहीं हैं, किन्तु यह संकट तो धर्म-संकट है। जब सीताजी राम के साथ वन-गमन के लिए तैयार हुईं तो वे भी अपने सब आभूषण घर पर ही

उतार आई थीं, सिर्फ एक अँगूठी उँगली में रख ली थी। इस समय, सीताजी ने बिना कहे-सुने ही अँगूठी राम को सौंप दी। रामचन्द्र सीताजी की प्रशंसा करने लगे। पत्नी हो तो ऐसी हो!

आज तो पति भी अपना कर्त्तव्य भूले हुए हैं और पत्नी भी आभूषणों के लोभ में पड़कर अपना कर्त्तव्य विसर बैठी है। मगर राम की यह कथा पति-पत्नी का आदर्श आज भी सामने उपस्थित करती है।

राम निषाद को वह अँगूठी देते हुए बोले—भाई, अपनी उतराई ले लो।

निषाद—उतराई देकर क्या आप मुझे जातिभ्रष्ट करना चाहते हैं?

राम—इससे जातिभ्रष्ट कैसे हो जाओगे?

निषाद—अगर नाई, नाई से बाल बनवाई के पैसे ले तो वह जाति से च्युत कर दिया जाता है। धोबी,धोबी से धुलाई वसूल करे, तो वह जाति से अलग कर दिया जाता है। वे लोग अपने कुल वालों का काम करने वाले से मजदूरी नहीं लेते। फिर मैं आपसे मजदूरी कैसे लूं? आपका और मेरा पेशा तो एक ही है। जो काम मैं करता हूँ वही आप भी करते हैं। ऐसी अवस्था में मैं आपसे अपना पारिश्रमिक नहीं ले सकता। इससे तो मुझे जाति से भ्रष्ट होना पड़ेगा।

राम—भाई, तुम्हारा और मेरा एक ही पेशा कैसे? तुम्हारी बात ही कुछ निराले ढंग की होती है।

निषाद—मैं अपनी नाव में बैठा कर नदी से पार उतारता हूँ और आप अपनी नौका पर चढ़ा कर लोगों को संसार से पार उतारते हैं। पार उतारना दोनों का ही काम है। अगर मैं आप से उतराई ले लूंगा तो फिर आप मुझे क्यों पार करेंगे ? हाँ, एक बात हो सकती है। अगर आप बदला दिये बिना नहीं रह सकते तो अच्छा-सा बदला दीजिए। मैंने आपको नदी से पार कर दिया है, आप मुझे भव-सागर से पार कर दीजिए। बस बदला हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि सेवा करने वाले में निष्कामता होनी चाहिए। जो सेवक निष्काम होता है, बेलाग रहता है, उसकी सेवा के वश में सभी हो जाते हैं, भले ही वह ईश्वर ही क्यों न हो ! इसके विपरीत लालच के वश होकर सेवा करने वाले में एक प्रकार की दीनता रहती है। वह अपने आपको ओछा, हीन और परमुखापेक्षी अनुभव करता रहता है। निष्काम भावना से सेवा भूषण बनती है और कामना सेवा का दूषण बन जाती है।

गांधीजी ने कब किससे कहा कि मुझे महात्मा कहो ? पर उनकी निष्काम सेवा ने ही बिना मांगे उन्हें 'महात्मा' का महान् पद प्रदान कराया है। सेवा की यह महत्ता है। क्या गांधीजी ने कभी महात्मा पद माँगा था ?

'नहीं !'

फिर भी लोगों ने उनकी निष्काम सेवा से प्रभावित होकर उन्हें यह पद दिया है। किसी ने उनसे पूछा—'क्या आप महात्मा

हैं ?' गांधीजी ने कहा—'लोग ऐसा कहते हैं, पर मुझे ऐसा नहीं जान पड़ता कि मैं महात्मा हूँ ।'

तो फिर आप महात्मा कहने वालों को रोकते क्यों नहीं हैं? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा—रोकने से तो ज्यादा-ज्यादा कहते हैं ।

एक दिन इंग्लैण्ड में उनसे पूछा गया था—'महात्मा किसे कहते हैं ?' गांधीजी ने कहा—'जो तुच्छ से तुच्छ हो, उसे महात्मा कहते हैं ।'

एक दिन मैंने कहा था:—

> पास न कौड़ी रही तो मैंने मुफ्त खुदा को मोल लिया ।
> ऐसा सौदा किया अनमोल और मैंने कुछ न दिया ॥

आपकी नजर में वह नाचीज ठहरेगा, जिसके पास कौड़ी न होगी, लेकिन जिसने कौड़ी भी रखने की चाहना नहीं की, वही महात्मा है ।

सेवा वही कर सकता है जो अपने को जगत के लिए निछावर कर देता है, जगत् के मंगल में ही अपना मंगल मानता है और सेवा के प्रतिफल की अभिलाषा से मुक्त है । सच्ची सेवा-भक्ति उपकारी ही सिद्ध होती है, उससे अपकार की तो आशा ही नहीं की जा सकती ।

स्वराज्य सब चाहते हैं लेकिन सेवा सब लोग नहीं करना चाहते । आम तो सब खाना चाहते हैं, परन्तु आम के वृक्ष को पानी कोई नहीं पिलाना चाहता । भाई, पानी नहीं पिलाना चाहते तो न सही, पर उसमें आग तो न लगाओ । कई लोग ऐसा ह

ही कुछ कहते रहते हैं। कोई कहता है—'अहिंसा और सत्य से स्वराज्य मिलेगा, यह कहना कोरी गप है। आज तक भला किसी देश ने अहिंसा के द्वारा स्वराज्य पाया भी है या हम ही पा लेंगे ?' कोई-कोई स्वार्थ-साधु पुरुष हिन्दू-मुसलमानों में फूट पैदा करने के उपाय रचते रहते हैं। वास्तव में ऐसे लोग धर्म के रहस्य को नहीं जानते। धर्म के रहस्य को जान कर भगवान् की आज्ञा का आराधन करोगे तो कल्याण होगा।*

महावीर-भवन, देहली
ता० २७-९-३१

---

*आचार्य महाराज के प्रवचन के पश्चात् दिल्ली प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री फरीदुलहक अंसारी साहब ने बंगाल के बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए अपील की। अपील के उत्तरस्वरूप श्रोताओं ने सन्तोषप्रद उदारता प्रदर्शित की थी।
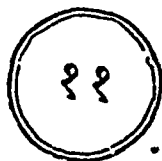
अंग्रेजी शिक्षा

प्रार्थना

जय जय जगत शिरोमणि, हूँ सेवक ने तू धनी ।
अब तोसौं गाढ़ी बनी, प्रभु आशा पूरो हम तनी ॥
मुझ मिहर करो चंद्रप्रभु, जगजीवन अंतरजामी ।
भव दुःख हरो, सुनिये अरज हमारी त्रिभुवन-स्वामी ॥मुझ०॥

मुझे बतलाया गया है कि, मेरे विषय में यह कहा जा रहा है कि मैं अंग्रेजी भाषा की शिक्षा नहीं चाहता और अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का निषेध करता हूँ। संभव है कुछ लोगों के

दिल में इस प्रकार के विचार आ घुसे हों, अतएव अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के विषय में मैं अपने विचार स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ।

मेरे विचार अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के विषय में यह हैं कि यदि मेरे आज्ञानुवर्त्ती मुनियों को स्वकीय सिद्धान्त का अभ्यास कर लेने के पश्चात् अवकाश और सुविधा मिले तो, अंग्रेजी भाषा-भाषी लोगों को जैनधर्म के सिद्धान्त समझाने के उद्देश्य से मैं उन्हें भी अंग्रेजी पढ़ाऊँ।

स्वयं मैंने व्याकरण आदि का विशिष्ट अभ्यास नहीं किया, केवल अनुभव की सहायता से शास्त्रों की टीका बाँचता हूँ। इस प्रकार शास्त्रों की टीका आदि का अभ्यास करते-करते और कुछ संस्कृत भाषा का व्याकरण पढ़कर मैंने संस्कृत का अभ्यास किया। मैंने सोचा—मैंने तो इस तरह अपना काम निकाल लिया, लेकिन हमारे सम्प्रदाय में संस्कृत व्याकरण के विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् अवश्य होने चाहिएँ। यह सोचकर मैंने कुछ मुनियों को विद्वान् बनाया। जिन मुनियों ने संस्कृत का अभ्यास कर लिया है, सिद्धान्त-शास्त्रों को समझ लिया है, वे यदि अपने आवश्यक कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए जैन-धर्म के तत्त्व अंग्रेजी द्वारा दूसरों को समझाने के लिए और पाश्चात्य विचारधारा से परिचित होने के लिये अंग्रेजी भाषा सीखें तो मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है, अपितु प्रसन्नता ही होगी।

मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि मुझे अंग्रेजी पढ़ाई से

किस बात में विरोध है।

मैंने चिपलूनकर की बनाई हुई निबंधावली देखी थी। चिपलूनकर बहुत थोड़ी अवस्था में ही मर गया था, इस कारण उसकी ख्याति नहीं हो पाई। वह लोकमान्य तिलक की कोटि का माना जाता था, लेकिन तिलक अधिक दिनों तक जीवित रहने के कारण ख्याति पा गये और चिपलूनकर अल्पायुष्क होने के कारण ख्याति न पा सका। चिपलूनकर अधिक दिनों जीवित रहता तो अवश्य उसकी कीर्ति खूब फैली होती।

चिपलूनकर ने अपने निबंध में जो कुछ लिखा था उसके भाव और अपने विचार मिलाकर मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि भाषा स्त्री के समान है। स्त्री से द्वेष करो या भाषा से द्वेष करो, एक ही बात है। जैसी स्त्री-स्त्री एक हैं उसी प्रकार भाषा-भाषा भी एक हैं। यद्यपि समस्त स्त्रियाँ स्त्रीत्व जाति की अपेक्षा एक हैं, लेकिन स्त्रियों में माँ भी होती है, बहिन भी होती है और अन्य स्त्रियाँ भी होती हैं। अगर कोई बालक अपनी माता से, अन्य स्त्रियों की अपेक्षा अधिक प्रेम करता है तो क्या वह कोई अन्याय करता है ? अन्य स्त्रियो की अपेक्षा अपनी माता को विशेष पूजनीया मानना क्या कोई दोष है ?

'नहीं !'

कल्पना कीजिए, उस बालक की माता को दो स्त्रियाँ मिलीं। एक बालक की माता की सखी बनने वाली है, माँ का गौरव बढ़ाने वाली है और उसकी सेवा करने वाली है। दूसरी स्त्री बालक की माता को दासी बनाना चाहती है। मातृभक्त बालक

ऐसी स्त्री को, जो उसकी माता को दासी बनाना चाहती है, अवश्यमेव दुत्कारेगा और जो स्त्री माता की सखी बनना चाहती है उसे चाहेगा। यह मनुष्य की प्रकृति है।

जो बात स्त्री के विषय में कही गई है वही भाषा के विषय समझनी चाहिए। अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत, अरबी, फारसी, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, आदि कोई भी भाषा क्यों न हो, वह स्त्री के समान है। बालक को जिस भाषा में माँ ने बोलना सिखाया है, जिस भाषा के तोतले बोल बोलकर बालक ने अपनी माता की कली-कली खिला दी है, जिस भाषा में बालक ने अपनी नानी की कहानी सुनी है, जिस भाषा के भंडार में बालक की सांस्कृतिक धरोहर रक्खी हुई है, जिस भाषा में बालक के पूजनीय पूर्वजों के विचारों का अनमोल खजाना छिपा हुआ है, जिस देश ने बालक को जन्म दिया है उस देश की जो स्वभावसिद्ध भाषा है, वही उसकी मातृभाषा है। मातृभाषा के द्वारा बालक ने अपनी माता का प्यार पाया है। ऐसी स्थिति में बालक अपनी मातृ-भाषा से स्वभावतः अधिक प्रेम करता है। अगर वह दूसरी भाषा से द्वेष या घृणा नहीं करता और अपनी मातृभाषा के प्रति भक्ति-भाव रखता है तो कौन ऐसे सपूत बालक को कपूत कहने की हिम्मत करता है ?

इस मातृभाषा को अगर कोई दूसरी भाषा सम्मानित करती है, अथवा उसकी सखी बनना चाहती है, तो मातृभक्त बालक उसका भी सम्मान करेगा; मगर जो भाषा मातृभाषा को दासी बनाने के लिए उद्यत हो रही हो, उसके प्रति बालक का क्या

कर्त्तव्य है ? अपनी माता की इज्जत बढ़ाने वाली स्त्री का तो बालक आदर कर सकता है, लेकिन जो स्त्री, माता को तुच्छ बता कर कहती है—'तू हमारी गुलामी करने योग्य है'; क्या ऐसी स्त्री को सम्मान देना बालक के लिए योग्य है ?

हमारी मातृभाषा को—आर्य देश की भाषा को—जो भाषा दासी बनाती है, जो हमारी मातृभाषा का तिरस्कार करने आई हो, जिसके आगमन से हमारी संस्कृति विकृत होती हो, जिस भाषा की शिक्षा से अपने देश की संस्कृति के प्रति घृणाभाव उत्पन्न होता हो, बल्कि जिस भाषा की शिक्षा देश के लिए घातक सिद्ध होती हो, आर्य-संस्कार और पूर्वजों की प्रतिष्ठा को मलीन बनाना जिस भाषा के आगमन का उद्देश्य हो, ऐसी भाषा की शिक्षा का मैं विरोधी हूँ। चाहे वह अंग्रेजी भाषा हो, चाहे कोई दूसरी, उस भाषा से मैं अपने विरोध की घोषणा करता हूँ और अपने श्रोताओं को विरोधी बनने का परामर्श देता हूँ।

जो भाषा हमारी मातृभाषा को अपनी सखी बनाती है, जो उसकी सेवा बजाती है, उस भाषा को, अपनी संस्कृति दूसरों को समझाने के लिए सीखा जाय; इस विचार का समर्थन करने के लिए मैं तैयार हूँ। ऐसा करने से आर्यभूमि का गौरव बढ़ेगा। ऐसी भाषा सीख कर अर्हन्त भगवान् के द्वारा विश्व-कल्याण के लिए प्रदिपादित सन्मार्ग के प्रचार करने और उसकी महिमा समझाने का मैं विरोधी नहीं हूँ।

जिस भाषा के संस्कारों से संस्कृत होकर लोग अपनी मातृभाषा की अवहेलना करने लगते हैं, जिस भाषा में हमारी मातृ-

भाषा को 'गुलामों की भाषा' (VARNACULAR) नाम दिया गया हो, उस भाषा का अथवा उस भाषा के उन शब्दों का अथवा उसकी शिक्षा-प्रणाली का, जिसमें वह दोष हों, विरोध करना हमारा कर्त्तव्य है।

काका कालेलकर ने अंग्रेजी भाषा के विषय में अपने जो उद्गार 'जीवन साहित्य' नामक पुस्तक में प्रकट किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

'श्री आनन्दकुमार स्वामी ने अंग्रेजी शिक्षा का वर्णन इस तरह किया है—

"हमारे यहाँ अंग्रेजी राज्य की ऐसी विशेषता है कि जिस वस्तु ने हिन्दुस्तान की भारी से भारी हानि की हो, वही हमें अपने लिए आशीर्वाद-स्वरूप मालूम होती है। इसका यथार्थ उदाहरण है—शिक्षा।

अच्छे या बुरे उद्देश्य से शिक्षा के नाम से जो वस्तु हमें दी जाती है, उसने हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय उत्कर्ष पर जितना मर्म-घातक प्रहार किया है, उतना और किसी दूसरी वस्तु ने नहीं।

आज दिन यदि हम स्वराज्य के लिए योग्य हैं तो इसका कारण वह सुधार नहीं, जो शिक्षा के फलस्वरूप हमने किया है। बल्कि अंग्रेजी-शिक्षा की पद्धति के द्वारा हमारी राष्ट्रीय संस्कृति और हमारी विशेष संस्थाओं का तिरस्कार तथा नाश होजाने के बाद और साथ ही राष्ट्रीयता का नाश करने वाली कल्पनाओं को हम में जड़ जमा देने पर भी, हम में जो कुछ थोड़ा-सा राष्ट्रीय

जीवन शेष रह पाया है, उसी के कारण हम स्वराज्य के योग्य हुए हैं।

हम भोले और अज्ञानी थे, संकुचित दृष्टि वाले थे, हमारा सारा जीवन तरह-तरह के वहमों से ओत-प्रोत भरा था, हम संसार के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे, हमने स्वतंत्रता का स्वाद नहीं चखा था, थोड़े मे कहें तो हम जीने के अयोग्य थे; ऐसे समय में अंगरेजी शिक्षा ने आकर हमारा उद्धार किया, यह आम तौर से माना जाता है। यदि कोई अंगरेजी शिक्षा पर ऐतराज करता है, तो उसके हिमायती कहते हैं कि भाषा ने कौन-सा पाप किया है? जैसी संसार की अनेक भाषाएँ हैं वैसी ही अंगरेजी भी है। भेद है तो इतना ही कि वह अधिक परिष्कृत और समृद्ध है। ज्ञान का एक भी विषय ऐसा नहीं कि जिस पर अंगरेजी भाषा में पुस्तक न हो और अंगरेज तो बिल्ली की तरह संसार के सभी प्रदेशों में संचार करने वाली एक जाति है, इसलिए अंगरेजी भाषा के कारण हमारा परिचय संसार के साथ बढ़ता है। अंगरेजी भाषा सभी तरह आशीर्वाद रूप ही सिद्ध हुई है। बंबई सरकार के वर्तमान शिक्षा-मंत्री ने एक बार कहा था कि ऐसे हिन्दुस्तान की तो कल्पना की जा सकती है, जिसमें अंगरेज न हों, किन्तु ऐसा हिन्दुस्तान कल्पना में भी आना कठिन है जहाँ अंगरेजी भाषा न हो।"

यह उद्गार अंगरेजी शिक्षा के विजय के सूचक हैं। जो काम डायर जैसे अधिकारियों की गोलियों से न हो सका, वह अंगरेजी शिक्षा ने कर दिखाया है। लोग कहते हैं—'भाषा ने कौन-सा पाप किया है?' किन्तु भाषा का अर्थ केवल व्याकरण

और शब्दकोश ही नहीं वरन् भाषा का अर्थ है, भाषा के बोलने वालों का स्वभाव, उनका धर्म, उनकी समाज-संबंधी कल्पना और वे सूक्ष्म सिद्धान्त तथा प्रणालियाँ, जिनके अनुसार वे सोचते रहते हैं कि किस बात की प्रशंसा करें और किस की निन्दा ? भाषा होती है—समाज का प्राण, समाज की पूंजी और समाज की विरासत। अंगरेजी भाषा में ही पढ़ाई हो, कोमल अवस्था में सभी तरह के संस्कार अंगरेजी पुस्तकों से ही लिये जाएँ, इस आग्रह का सीधा अर्थ है—'अंगरेजों की जाति में मिल जाएँ।'

हम अंगरेजी राज्य के खिलाफ रात-दिन आवाज उठाते रहते हैं, अंगरेजी रहन-सहन हमारे अनुकूल नहीं, यह भी अब हम जानने लगे हैं। यह भी हम सुनते हैं कि पाश्चात्य सुधार मानवी कल्याण की नींव पर स्थित नहीं हैं, योरप की दशा हम देख रहे हैं, पर फिर भी हम मानते हैं कि जिसके भीतर अंगरेजों का स्वभाव और अंगरेजों का ही आदर्श भरा है, उसी भाषा में बच्चों को शिक्षा देना हानिकारक नहीं।

अंगरेजी शिक्षा के माने हैं—प्रोटेस्टेण्ट शिक्षा। अंगरेजी शिक्षा का अर्थ है, पारलौकिक जीवन के विषय में लापरवाह रहने का उपदेश करने वाली शिक्षा। अंगरेजी शिक्षा को प्राप्त करने वाला मनुष्य शायद ही दया करने, ममता रखने तथा मनुष्यता का विकास करने का विचार करता है। उसकी जबान पर तो जीवन-कलह, हक़, न्याय, आर्थिक दृष्टि से लाभकारक, प्राकृतिक नियम, इत्यादि शब्द ही रहते हैं। अंगरेजी शिक्षा हमें कुटुम्बधर्म भुलाकर शिकारधर्म सिखलाती है।

कोई-कोई कहते हैं कि कौन आपको मजबूर करता है कि आप अमुक ही प्रकार के विचार रक्खो; यह भी कैसे कहा जाय कि अंगरेजी साहित्य में उच्च विचार ही नहीं हैं ? बात सच है। जबर्दस्ती नहीं है किन्तु मायाजाल है और उच्च विचार किस साहित्य में नहीं हैं ? पर प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि के सन्मुख आदर्श कौन-सा रखा जाता है ? अश्लील नाटकों में भी बोध-वचन तो मिल ही जाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव नहीं पड़ता; बल्कि विलासी और हीन वृत्ति बनने की प्रवृत्ति होती है। यह उपमा शायद अधिक कठोर होगी। कहने का उद्देश्य इतना ही है कि जिन लोगों की भाषा के द्वारा शिक्षा के प्रथम संस्कार हम लेते हैं, उनके स्वभाव का असर हमारे ऊपर पड़े बिना नहीं रह सकता। बालकों की शिक्षा अपनी ही भाषा द्वारा होने से अपनी संस्कृति के गुणदोष बच्चों में उतरते हैं और यदि शिक्षा की पद्धति सरल और सादी हो, तो नयी पीढ़ी उसमें से उन्नति के अंश खोज सकती है। परदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने से परकीय लोगों के गुणदोष की छाप पड़े बिना नहीं रह सकती और दूसरों के गुणों को हजम करना कठिन होने के कारण कई बार उनके दोषों ही का अनुकरण होता है। इस तरह सारी चित्तवृत्ति ही भ्रष्ट हो जाती है, सो अलग।

हमने जो अंगरेजी शिक्षा ग्रहण करना आरंभ किया, सो कुछ अंगरेजों के धर्म अथवा समाज-रचना विषयक आदर के कारण नहीं, बल्कि खासकर सरकारी नौकरी प्राप्त करने की लालच से और कुछ अंश में स्वच्छन्दता करने के विचार से। इसके बाद अंगरेजों ने कहा कि हिन्दुस्तान की समाज-

रचना से योरप की समाज-रचना श्रेष्ठ है। अंगरेज इस देश के राज्यकर्त्ता हुए, इसीलिए हमने उनका दावा स्वीकार किया। देश और परदेश विषयक ज्ञान में और भौतिक शास्त्रों में उनकी प्रगति को देखकर हमारा निश्चय हुआ कि अंगरेज हम लोगों की अपेक्षा अधिक होशियार हैं। किन्तु होशियार के मानी सुधरे हुए नहीं, होशियार के मानी धर्मनिष्ट नहीं। यदि हम लोगों में धर्म-तेज ही होता, तो भी हम अंगरेजों से चौंधिया नहीं जाते। किन्तु दुर्दैववश उस विषय में हमारे देश में आधी रात थी, इसीलिए सभी तरह अंगरेजी शिक्षा के फैलाव के लिए वह अनुकूल समय था।

अब अंगरेजी शिक्षा के कारण हममें कौन से परिवर्त्तन हुए हैं, यह देखना चाहिए।

सब से पहला परिवर्त्तन तो यह हुआ कि हम यह मानने लगे कि अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने और रहन-सहन को खर्चीली कर देने में कोई दोष नहीं, वरन् उलटा समाजहित ही है। इसके कारण परदेशी व्यापार बढ़ा और हमारी द्रव्य की थैली में अनेक छेद हो गये।

दूसरा परिवर्त्तन यह कि, हमारे दिल में अपने समाज के संबंध में तिरस्कार उत्पन्न हुआ, इसी के परिणामस्वरूप हम समाज की सहायता की अपेक्षा पैसे की सहायता से सभी काम चलाने की सुविधा खोजने लगे और दिन-दिन समाज में रहने वाले लोगों का परस्पर संबंध टूटता गया।

तीसरा परिवर्त्तन यह हुआ कि पढ़ा-लिखा मनुष्य अपनी

साहित्य संबंधी भूख और प्यास को अंगरेजी साहित्य के द्वारा ही मिटाने लगा। इससे निज भाषा का साहित्य ताक में रखा रह गया। जहाँ इसका अध्ययन भी न हो, वहाँ उसमें वृद्धि तो हो ही कैसे सकती है ?

चौथा परिवर्त्तन यह हुआ कि, हम अंगरेजी पढ़ने वाले मनुष्यों को ही श्रेष्ठ समझ कर उन्हीं से वाहवाही लेने को आतुर हो उठे और अपने लेख अंगरेजी ही में लिखने लगे। हिन्दुस्तान के शिक्षित समुदाय ने संस्कृत और देशी भाषा की पुस्तकों का अंगरेजी में अनुवाद करके अंगरेजी भाषा के घर में थोड़ी गुलामी नहीं की ! हिन्दुस्तान को जीतने वाली जाति को हमारा दिया हुआ यह कर बहुत ही भारी है।

हमने अपनी राजनैतिक हलचल भी अंगरेजी भाषा ही में चलाई, जिससे राज्यकर्त्ता को उत्तम शिक्षा और राज्य-कार्य-संचालन-दक्षता भी प्राप्त हुई। उस परिमाण में हम लोगों को स्वराज्य की कुछ भी शिक्षा नहीं मिली।

अंगरेजी जानने वालों की एक न्यारी ही जाति हो गई है। वे अंगरेजी न जानने वाले राष्ट्र के साथ समभाव नहीं रखते, उनके विचारों को समझ नहीं सकते और उनके प्रति कुछ तुच्छ भाव रखना सीखते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान वन्ध्य साबित होता है। वह न तो देशी भाषा द्वारा दिया जा सकता है, न जीवन में अच्छी तरह उतर ही सकता है। हमारे पुराने संस्कारों के साथ उसका मेल नहीं बैठता, और इसलिए पुराना सब मिटा-

कर उस जगह पाश्चात्य सृष्टि की एक नकल खड़ी कर देने का वह प्रयत्न करता है। दो ही पीढ़ियों के भीतर, सारे राष्ट्र को संस्कृति की दृष्टि से दिवालिया और भिखारी बना देने का सामर्थ्य इस शिक्षा ने प्रकट किया है।

अंग्रेजी शिक्षा से जीवन में स्वच्छन्दता का तत्त्व इतना घुस गया है कि समाज में से विवेक और कला दोनों लुप्त हो गई हैं। मानसिक और नैतिक दुर्बलता पर मनुष्य को जो लज्जा मालूम होनी चाहिए, वह भी जाती रही और ज्यों-ज्यों स्वच्छन्दता प्रबल होती जाती है, त्यों-त्यों नैतिक आदर्श को नीचे खींचने की ओर पढ़े-लिखे मनुष्यों का झुकाव दिखाई देता है।

हमने अंगरेजी शिक्षा के द्वारा भौतिक शास्त्रों में कोई भारी वृद्धि नहीं की। इस भारी संस्कारी देश के परिमाण में हमने ऐसा भारी साहित्य भी उत्पन्न नहीं किया जिससे संसार में कृतज्ञता उत्पन्न हो।

परदेश जाना सारे राष्ट्र का उद्देश्य कभी नहीं हो सकता। हजार में एक-आध मनुष्य ही शायद परदेश को जाता होगा। उसके लिए सारी शिक्षा का आधार अंगरेजी भाषा पर रचने के समान दूसरा और पागलपन क्या हो सकता है?

अंगरेजी शिक्षा पाये हुए सामान्य मनुष्य, अंगरेजी राज्य का चाहे कितना ही द्वेष करते हों, परन्तु अपने आचरण के द्वारा वे अंगरेजी राज्य को सहारा ही देते हैं। स्वराज्य की हलचल में जिन तीक्ष्ण उपायों का अवलम्बन करना जरूरी है और राष्ट्रीय दृष्टि में जो परिवर्त्तन करना उचित है, उसमें ये अंगरेजी पढ़े

मनुष्य ही विघ्नरूप हो जाते हैं। पानी के बाहर जो दशा मछली की होती है वही दशा इन लोगों की अंगरेजी शिक्षा के वातावरण बिना हो जाती है।

अंगरेजी शिक्षा ही के कारण हिन्दुस्तान का राज्यतन्त्र अंगरेजी भाषा में चल सकता है और उससे प्रजा पर अधिक अत्याचार होता है और प्रजा को भी वह चुपचाप सहन करना पड़ता है।

अमेरिका का कोई भी मनुष्य जब अपने कुटुम्ब का इतिहास लिखने लगता है तो उसे अपने कुटुम्ब का मूल पुरुष यूरप में खोजना पड़ता है। हमारे अंगरेजी पढ़े मनुष्य भी जब कभी किसी विषय पर विचार अथवा विवेचन करते हैं, तब उन्हें सर्वदा यूरुप की परम्परा, वहाँ के अनुभव और वहाँ की दलीलों को बतौर प्रमाण के लेने की आदत पड़ी होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि हम अपनी विरासत को छोड़कर दूसरे की विरासत पर प्रतिष्ठित होना चाहते हैं। यह भी वर्णसंकरता के समान भारी संकट है।

इतनी सब हानि होते हुए भी हम अंगरेजी पढ़ते हैं। किस लोभ से? इतने ही के लिए कि कुछ कमाई अधिक हो और राजदरबार में अधिक अप्रतिष्ठा न सहनी पड़े। परन्तु यह कमाई परदेशी चीजों का व्यापार करके अथवा विदेशी सरकार को अत्याचार करने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सहायता करके प्राप्त करनी होती है। और जिस तरह कोई मजदूर कलक्टर साहब का चपरासी होजाने पर अपनी ही जाति का तिरस्कार

करने में अपने को कृतार्थ समझता है, वैसे ही कुछ-कुछ अंगरेजी पढ़े मनुष्य भी अपने अंगरेजी ज्ञान से फूलेखाँ बन कर अपने ही समाज के साथ तुच्छता का वर्त्ताव रखते हैं। अच्छे संस्कारी मनुष्यों में ऐसे दोष कम पाये जाते हैं और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण वे दोष ढँक भी जाते हैं, परन्तु इस परिस्थिति के कारण देश का अपार तेजोवध होता है।

सारांश में कहें तो अँग्रेजी शिक्षा को लेकर हम अपनी संस्कृति गँवा बैठे, समाधान गँवा दिया, समाज की एकता भंग कर दी, स्वदेश का धन विदेश में भेज दिया, हीन बन कर दूसरों की हर तरह की गुलामी की और स्वराज्य के मार्ग में एक महाविघ्नरूप हो गये। ये सभी दोष, दीपक के समान स्पष्ट होने पर भी हम उन्हें नहीं देख सकते। यह भी इसी शिक्षा का प्रभाव है। हिन्दुस्तान की बर्बादी के दूसरे सब कारणों को लोग सरलता से स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु अंगरेजी शिक्षा भी हमारे सर्वनाश होने का एक बड़ा कारण है, ऐसा कहते ही कितने ही मनुष्य अपना घोर विरोध प्रकट करेंगे। क्योंकि दूसरे कारणों का बुरा असर तो अपनी पोशाक पर, अपनी जेब पर, अपनी कुटुम्ब-व्यवस्था पर या अपनी तन्दुरुस्ती पर हुआ होगा; परन्तु अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव तो हमारे मस्तिष्क और हृदय ही के ऊपर पड़ा है।

यहाँ हमारे कहने का आशय यह नहीं कि हिन्दुस्तान में कोई भी मनुष्य कभी अंगरेजी पढ़े ही नहीं, किन्तु हाँ, शिक्षा में अंगरेजी को स्थान नहीं दिया जा सकता। शिक्षा के संस्कार

पूरे होजाने पर फिर जिसे अंगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना हो, वह बेखटके प्राप्त करे। वह उसमें से बहुत लाभ प्राप्त कर सकेगा।

यदि शिक्षा में अंगरेजी को स्थान देना ही हो तो जितना ही देर में देर कर के दिया जावे उतना ही ठीक है। क्योंकि स्वदेशी, स्वकर्म, स्वधर्म, स्वभाषा और स्वराज्य के संस्कार दृढ़ हो जाने के बाद ही कोई अंगरेजी साहित्य का अभ्यास करे, तो उससे बहुत लाभ उठा सकता है और स्वदेश तथा इंग्लैण्ड को भी बहुत लाभ पहुँचा सकता है। आजकल अंगरेजी शिक्षा के बदौलत जो हमारी राष्ट्रीय हानि होती जा रही है, उसे तो अति शीघ्र रोक देने की आवश्यकता है।'

इस प्रकार जो भाषा मातृभाषा की सेवा करे, मातृभाषा का गौरव बढ़ावे उसे तो चाहे अपनाया जाय, लेकिन जो भाषा मातृभाषा को दासी बना रही है, उसे अपनाना कैसे उचित कहा जा सकता है? ऐसी भाषा हमारे किस काम की? आज इस अंगरेजी भाषा ने मातृभाषा को इस प्रकार कुचल डाला है कि हिन्दी, गुजराती, संस्कृत, प्राकृत आदि भारतीय भाषाओं की पाठशालाओं में तो अध्ययन-अध्यापन का सामान बहुत कम मिलेगा, जो कुछ होगा वह अंगरेजी भाषा की पाठशालाओं में। यदि कोई इस विषय में कुछ कहने का साहस करता भी है तो उत्तर मिलता है, हिन्दी के स्कूल में इस वस्तु की क्या आवश्यकता है? इस तरह अंगरेज़ी भाषा रानी बन रही है और मातृभाषा उसकी दासी। अंगरेजी भाषा की शिक्षा ने

भारतीय संस्कृति को नष्ट करने में भी कोई कसर नहीं रक्खी। आज यह स्थिति है कि भाग्य से ही कोई अंगरेजी भाषा की शिक्षा प्राप्त किया हुआ भारतीय ऐसा मिलेगा, जिसमें भारतीय संस्कृति के प्रति पूर्ण श्रद्धा का भाव विद्यमान हो।

यदि कोई साधु भी अपनी संस्कृति का, अपने सिद्धान्तों का और अपने साहित्य का अध्ययन करके, धार्मिक तत्त्व के प्रचार की दृष्टि से अंगरेजी भाषा सीखे तो मुझे कोई विरोध नहीं है; लेकिन अंगरेजी शिक्षा के लिए अपने धर्म की उपेक्षा करने और केवल अंगरेजी बोल कर 'जेण्टिलमेन' बनने की धुन में रहने का मैं अवश्य विरोध करता हूँ।

जो लोग कहते हैं कि मैं अंग्रेजी भाषा का विरोधी हूँ, वे ग़लती पर हैं। मेरे विषय में यदि भ्रम फैल गया हो, तो उसका निवारण अब हो जाना चाहिए। मैंने अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिये हैं।